मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।

इंटरनेशनल एशिया
एवार्ड से पुरस्कृत

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के मंगल अवसर पर

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

—परमात्म प्रकाश एच० भारिल्ल

—अध्यात्म प्रकाश एच० भारिल्ल

एवं

—शुद्धात्म प्रकाश आर०-भारिल्ल

क्या/कहाँ ?

"चारित्तं खलु धम्मो"

— आचार्य कुन्दकुन्द

सम्पादकीय

आचार्य कुन्दकुन्द जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य है। दिगम्बर-जिन आचाय परम्परा मे कुन्दकुन्द कनिष्ठाधिष्ठित – सर्वोपरि है; जिनका दिगम्बर जैनाचार्यों, मुनिराजो एव विद्वद्वर्ग द्वारा लगातार दो हजार वर्षो से निरन्तर स्मरण किया जाता रहा है, प्रत्येक दिगम्बर जिनबिम्ब पर जिनका नाम अकित है, प्रत्येक स्वाध्यायी स्वाध्याय आरम्भ करने के पूर्व भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ जिनका प्रतिदिन स्मरण करता है एवं अनेकानेक शिलालेखों एव प्रशस्तियो मे जिनकी कीर्ति-पताका अकित है। ऐसे सर्वमान्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्कृष्ट परमागम समयसारादि के पठन-पाठन पर समय-समय पर कतिपय क्रियाकाण्डी निहित स्वार्थों द्वारा प्रश्नचिह्न लगाया जाता रहा है। भव का अभाव करने मे साक्षात् निमित्तभूत इस अनुपम कृति का यह कहकर विरोध किया जाता रहा है कि यह ग्रन्थ तो मुनिराजो के पढने के लिए ही है, गृहस्थो को इसे नही पढना चाहिए, पर प्रसन्नता की बात यह है कि जितना अधिक कुन्दकुन्द को पढ़ने-पढाने का निषेध या विरोध किया गया, कुन्दकुन्द उससे भी कही अधिक पठन-पाठन मे आये। इससे भी अधिक हर्ष की बात यह हुई कि सारे देश मे सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के द्वारा कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह वर्ष मनाने का सकल्प किया जा चुका है। अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने तो इस समारोह को बहुत बडे स्तर पर मनाने का निर्णय लिया है। उसने ज्ञानचक्र-प्रवर्तन द्वारा न केवल कुन्दकुन्द-साहित्य को, बल्कि यथासम्भव चारो अनुयोगों के सभी प्रकार के साहित्य को कम से कम मूल्य मे जन-जन तक पहुँचाने का संकल्प लिया है।

जैनपथ प्रदर्शक ने भी इस महान यज्ञ मे प्रस्तुत विशेषाक प्रकाशित करके अपनी छोटी-सी आहूति समर्पित करके कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति अपनी भक्ति भावना सहित यह लेखाजलि समर्पित की है।

इसे हाथ मे देखकर आपको निश्चित ही प्रसन्नता का अनुभव होगा, क्योकि इसमे समाज के मूर्द्धन्य और उच्चकोटि के मनीषी विद्वानो के चिन्तनपरक और ज्ञानगरिमा से भरपूर ५२ लेख एव कविताएँ सकलित है। विविध प्रकार की साहित्यिक सामग्री से यह अक निश्चित ही आपको एक रग-बिरगी वाटिका-सा लगेगा।

हमारे मनीषी विद्वानों ने हमारे प्रथम अनुरोध पर ही आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन और दर्शन तथा उनके पंच परमागमो का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत कर पाठकों को पठनीय, मननीय एव सग्रहणीय सामग्री उपलब्ध करा दी है, एतदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं। जो स्नेहशील, उदीयमान नव्य लेखक एवं माननीय प्रौढ प्रबुद्ध लेखक जैनपथ प्रदर्शक से पहली बार जुडे हैं, हम उनका हार्दिक स्वागत करते हुए उन्हे बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं।

इस मगल कार्य के लिए जिन महानुभावो ने अपनी फर्म या सस्थान के विज्ञापन देकर आर्थिक सहयोग दिया है, उनका भी हम इस अवसर पर अभिनन्दन किए बिना नही रह सकते, क्योकि आर्थिक सहयोग के बिना भी इस महगाई के युग मे यह काम संभव नही था। इस अक के प्रकाशन में प्रबन्ध-सम्पादक वीरसागर शास्त्री एव नरेन्द्रकुमार शर्मा का श्रम भी सराहनीय है। तथा साफ-सुथरे मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्रा० लि० को जितना भी धन्यवाद दिया जाय, कम है।

— रतनचन्द भारिल्ल

आचार्य कुन्दकुन्द विदेह गये थे या नहीं ?

– डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

जिनग्रध्यात्म के प्रतिष्ठापक ग्राचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिनग्राचार्य परम्परा मे सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से ग्राज तक लगातार दिगम्बर साधु ग्रपने ग्रापको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने मे गौरव का ग्रनुभव करते ग्रा रहे हैं।

ग्राचार्य देवसेन, ग्राचार्य जयसेन, भट्टारक श्रुतसागर सूरि ग्रादि दिग्गज ग्राचार्यो एव मनीषियो के उल्लेखो, शिलालेखो तथा सहस्राधिक वर्षों से प्रचलित कथाग्रो के ग्राधार पर यह कहा जाता रहा है कि ग्राचार्य कुन्दकुन्द सदेह विदेह गये थे। उन्होने तीर्थंकर सीमन्धर ग्ररहत परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उन्हे सीमन्धर परमात्मा की दिव्यध्वनि साक्षात सुनने का ग्रवसर प्राप्त हुग्रा था।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि ग्राचार्य कुन्दकुन्द सदेह विदेह गये थे, उन्होने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवरण किया था, तो उन्होने इस घटना का स्वय उल्लेख क्यो नही किया ? यह कोई साधारण बात तो थी नही, जिसकी यो ही उपेक्षा कर दी गई।

बात इतनी ही नही है, उन्होने ग्रपने मगलाचरणो मे भी उन्हें विशेषरूप से कही स्मरण नहीं किया है। क्या कारण है कि जिन तीर्थंकर ग्ररहतदेव के उन्होने साक्षात् दर्शन किए हो, जिनकी दिव्यध्वनि श्रवरण की हो; उन ग्ररहंत पद मे विराजमान सीमन्धर परमेष्ठी को वे विशेषरूप से नामोल्लेखपूर्वक स्मरण भी न करे।

इसके भी ग्रागे एक बात ग्रौर भी है कि उन्होने स्वय को भगवान महावीर ग्रौर ग्रन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा से बुद्धिपूर्वक जोड़ा है।

प्रमाणरुप मे उनके निम्नाकित कथनो को देखा जा सकता है :–

"वोच्छामि समयपाहुडमिरणमो सुदकेवलीभरिणदं।[1]

श्रुतकेवलियो द्वारा कहा गया समयसार नामक प्राभृत कहूँगा।

वोच्छामि रिणयमसारं केवलिसुदकेवलीभरिणदं।[2]

---

[1] समयसार, गाथा १

[2] नियमसार, गाथा १

केवली तथा श्रुतकेवली के द्वारा कथित नियमसार मैं कहूँगा ।

काऊरण रामुक्कार जिरावरवसहस्स वड्ढमाग्रस्स ।
दंसरामग्ग वोच्छामि जहाकम्मं समासेरा ।।[1]

ऋषभदेव आदि तीर्थंकर एव वर्द्धमान अन्तिम तीर्थंकर को नमस्कार कर यथाक्रम सक्षेप में दर्शनमार्ग को कहूँगा ।

वंदित्ता आयरिए कसायमलविज्जिदे सुद्धे ।[2]

कषायमल से रहित आचार्यदेव को वदना करके ।

वीरं विसालनयरां रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं ।
तिविहेरा परामिऊरां सीलगुरागां रिसामेह ।।[3]

विशाल है नयन जिनके एव रक्त कमल के समान कोमल है चरण जिनके, ऐसे वीर भगवान को मन-वचन-काय से नमस्कार करके शीलगुणो का वर्णन करूँगा ।

परामामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।[4]

धर्मतीर्थ के कर्त्ता भगवान वर्द्धमान को नमस्कार करता हूँ ।"

उक्त मगलाचरणो पर ध्यान देने पर एक बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकरो का तो नाम लेकर स्मरण किया है, किन्तु जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो के तीर्थंकरो को नाम लेकर कही भी याद नही किया है । मात्र प्रवचनसार मे बिना नाम लिए ही मात्र इतना कहा है –

"वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ।[5]

मनुष्यक्षेत्र अर्थात् ढाईद्वीप में विद्यमान अरहतो को वदना करता हूँ ।"

इसीप्रकार प्रतिज्ञावाक्यो मे केवली और श्रुतकेवली की वाणी के अनुसार ग्रन्थ लिखने की बात कही है । यहाँ निश्चित रूप से केवली के रूप मे भगवान महावीर को याद किया गया है, क्योकि श्रुतकेवली की बात करके उन्होने साफ कह दिया है कि श्रुतकेवलियो के माध्यम से प्राप्त केवली भगवान की बात मैं कहूँगा। इसी कारण उन्होने भद्रबाहु श्रुतकेवली को अपना गमकगुरु स्वीकार किया है । समयसार मे तो सिद्धो को नमस्कार कर मात्र श्रुतकेवली को ही स्मरण किया है, श्रुतकेवली-कथित समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की है, केवली की बात ही नही की है, फिर सीमन्धर भगवान की वाणी सुनकर समयसार लिखा है – इस बात को कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

आचार्य अमृतचद ने समयसार की पाँचवी गाथा की टीका मे इस बात को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है ।

---

[1] अष्टपाहुड दर्शनपाहुड, गाथा १
[2] अष्टपाहुड बोधपाहुड, गाथा १
[3] अष्टपाहुड शीलपाहुड, गाथा १
[4] प्रवचनसार, गाथा १
[5] प्रवचनसार, गाथा ३

उनके मूल कथन का हिन्दी अनुवाद इसप्रकार है :—

"निर्मल विज्ञानघन आत्मा मे अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश, उससे मेरे जिनवैभव का जन्म हुआ है।"

आगे कहा गया है कि मैं अपने इस वैभव से आत्मा बताऊगा। तात्पर्य यह है कि समयसार का मूलाधार महावीर, गौतमस्वामी, भद्रबाहु से होती हुई कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु तक आई श्रुतपरम्परा से प्राप्त ज्ञान है।

पडित जयचदजी छाबड़ा ने अपनी प्रस्तावना मे स्पष्ट लिखा है :—

"भद्रबाहुस्वामी की परम्परा मे ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार मे तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढा। उन दोनो मुनियो से यति नामक मुनि ने पढकर उसकी चूर्णिका रूप मे छह हजार सूत्रो के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्रप्रमाण की। इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रो के ज्ञाता हुए।

—इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई।........

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा मे शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्म प्रकाश आदि शास्त्र है, उनमे समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक सस्कृत टीका श्री अमृतचद्राचार्य ने की है।"

उक्त सम्पूर्ण कथनो से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य कुन्दकुन्द को भरतक्षेत्र मे विद्यमान भगवान महावीर की आचार्यपरम्परा से जुडना ही अभीष्ट है। वे अपनी बात की प्रामाणिकता के लिए भगवान महावीर और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की आचार्यपरम्परा पर ही निर्भर हैं।

यह सब स्पष्ट हो जाने पर भी यह प्रश्न चित्त को कुदेरता ही रहता है कि जब उन्होने सर्वज्ञदेव सीमन्धर भगवान के साक्षात् दर्शन किए थे, उनका सद्उपदेश भी सुना था तो फिर वे स्वय को उससे क्यो नही जोड़ते ? न भी जोडे तो भी उनका उल्लेख तो किया ही जा सकता था, उनका नामोल्लेखपूर्वक स्मरण तो किया ही जा सकता था ?

उक्त शकाओं के समाधान के लिए हमें थोड़ा गहराई मे जाना होगा। आचार्य कुन्दकुन्द बहुत ही गम्भीर प्रकृति के निरभिमानी जिम्मेदार आचार्य थे। वे अपनी जिम्मेदारी को भलीभाँति समझते थे; अतः अपने थोड़े से यशलाभ के लिए वे कोई ऐसा काम नही करना चाहते थे, जिससे सम्पूर्ण आचार्यपरम्परा व दिगम्बर दर्शन प्रभावित हो। यदि वे ऐसा कहते कि मेरी बात इसलिए प्रामाणिक है, क्योकि मैंने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किए है, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया है तो उन आचार्यों की

प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती, जिनको सीमन्धर परमात्मा के दर्शनो का लाभ नही मिला था या जिन्होने सीमन्धर परमात्मा से साक्षात् तत्त्वश्रवण नहीं किया था, जो किसी भी रूप मे ठीक नही होता।

दूसरी बात यह भी तो है कि विदेहक्षेत्र तो वे मुनि होने के बाद गए थे। वस्तु-स्वरूप का सच्चा परिज्ञान तो उन्हें पहले ही हो चुका था। यह भी हो सकता है कि उन्होने अपने कुछ ग्रन्थो की रचना पहले ही कर ली हो। पहले निर्मित ग्रथों मे तो उल्लेख का प्रश्न ही पैदा नही होता, पर यदि बाद के ग्रन्थो मे उल्लेख करते तो पहले के ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता। अत उन्होने जानबूझकर स्वय को महावीर और भद्रबाहु श्रुतकेवली की आचार्यपरम्परा से जोडा।

यदि वे अपने को सीमन्धर तीर्थंकर अरहृत की परम्परा से जोड़ते या जुड जाते तो दिगम्बर धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पडती।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि भगवान महावीर साधु अवस्था मे सम्पूर्णतः नग्न थे। अत हमारे श्वेताम्बर भाई अपने को महावीर की अचेलक परम्परा से न जोडकर पार्श्वनाथ की सचेलक परम्परा से जोडते हैं। इसप्रकार वे अपने को दिगम्बर से प्राचीन सिद्ध करना चाहते हैं। वस्तुतः तो पार्श्वनाथ भी अचेलक ही थे। पार्श्वनाथ ही क्या, सभी तीर्थंकर अचेलक ही होते हैं, पर स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणो के अभाव मे वे उन्हे अपने मत की पुष्टि के लिए सचेलक मान लेते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द अपने को सीमन्धर परमात्मा से जोडते तो दिगम्बरों को विदेह-क्षेत्र की परम्परा का जैन कहा जाने लगता, क्योकि कुन्दकुन्द दिगम्बरो के सर्वमान्य आचार्य थे। इसप्रकार चौबीस तीर्थंकरो की परम्परा के उत्तराधिकार का दावा श्वेताम्बर भाई करने लगते। अत दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द का बार-बार यह घोषित करना कि मैं और मेरे ग्रन्थ भगवान महावीर, गौतम गणधर और श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा के ही हैं, अत्यन्त आवश्यक था।

किसी भी रूप मे दिगम्बरों का सम्बन्ध भरतक्षेत्र से टूटकर विदेहक्षेत्र से न जुड जावे – हो सकता है इस बात को ध्यान मे रखकर ही कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र-गमन की घटना का कहीं जिक्र तक न किया हो।

दूसरे, यह उनकी विशुद्ध व्यक्तिगत उपलब्धि थी। व्यक्तिगत उपलब्धियो का सामाजिक उपयोग न तो उचित ही है और न आवश्यक ही। अतः वे उसका उल्लेख करके उसे भुनाना नही चाहते थे। विदेहगमन की घोषणा के आधार पर वे अपने को महान साबित नही करना चाहते थे। उनकी महानता उनके ज्ञान, श्रद्धान एव आचरण के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। यह भी एक कारण रहा है कि उन्होने विदेहगमन की चर्चा तक नहीं की।

तत्कालीन समय मे लोक मे तो यह बात प्रसिद्ध थी ही, यदि वे भी इसका जरा-सा भी उल्लेख कर देते तो यह बात तून पकड़ लेती और इसके अधिक प्रचार-प्रसार से लाभ

के बदले हानि अधिक होती । हर चमत्कारिक घटनाओं के साथ ऐसा ही होता है । अतः उनसे सबंधित व्यक्तियो का यह कर्तव्य है कि वे इनके अनावश्यक प्रचार-प्रसार मे लिप्त न हो, जहाँ तक सभव हो, उनके प्रचार-प्रसार पर रोक लगावें, अन्यथा उनसे लाभ के स्थान पर हानि होने की सभावना अधिक रहती है ।

कल्पना कीजिए कि आचार्यदेव कहते हैं कि मैं विदेह होकर आया हूँ, सीमन्धर परमात्मा के दर्शन करके आया हूँ, उनकी दिव्यध्वनि सुनकर आया हूँ; इस पर यदि कोई यह कह देता कि क्या प्रमाण है इस बात का, तो क्या होता ? क्या आचार्यदेव उसके प्रमाण पेश करते फिरते ? यह स्थिति कोई अच्छी तो नही होती ।

अतः प्रौढ विवेक के धनी आचार्यदेव ने विदेहगमन की चर्चा न करके अच्छा ही किया है; पर उनके चर्चा न करने से उक्त घटना को अप्रमाणिक कहना देवसेनाचार्य एवं जयसेनाचार्य जैसे दिग्गज आचार्यों पर अविश्वास व्यक्त करने के अतिरिक्त और क्या है ? उपलब्ध शिलालेखो एव उक्त आचार्यों के कथनो के आधार पर यह तो सहज सिद्ध ही है कि वे सदेह विदेह गये थे और उन्होने सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये थे, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया था । □

लेखक-परिचय – उम्र : ५३ वर्ष । शिक्षा : शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पी-एच डी.; एवं विद्यावाचस्पति, वाणीविभूषण, जैनरत्न जैसी उपाधियो से विभूषित, लोकप्रिय प्रवचनकार, सफल लेखक, वीतराग-विज्ञान (मासिक) के सम्पादक, श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर मे चलने वाली समस्त गतिविधियों के सूत्रधार । सम्पर्क-सूत्र ए–४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

कुन्दकुन्द-साहित्य में सर्वज्ञ का स्वरूप

— पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

□

धर्म का मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ की यथार्थ समझ और श्रद्धा के बिना धर्म का अकुर उत्पन्न नही होता। जिसप्रकार जड (मूल) के बिना वृक्ष का अस्तित्व सभव नही है, उसीप्रकार सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना धर्म की प्राप्ति सभव नही है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल कहा है।[१]

जिन अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचाय कुन्दकुन्द के हृदय मे भी सर्वज्ञ एव सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की अपरिमित महिमा थी। वे आत्मधर्म की प्राप्ति में सर्वज्ञ के यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान को आवश्यक मानते थे। उनके प्रमुख पाँचो परमागमो मे स्थान-स्थान पर सर्वज्ञ भगवान को साक्षी के रूप मे तो देखा ही जा सकता है, प्रसगोपात्त सर्वज्ञ के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या एव सर्वज्ञता की सिद्धि करने मे भी वे अग्रणी रहे हैं।

धर्म के मूलभूत कारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे अरहत भगवान के ज्ञान को आवश्यक बताते हुए वे लिखते है कि —

"जो अरहत को द्रव्यपने, गुणपने, और पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य लय को प्राप्त होता है।[२]

वे जानते थे कि देव-शास्त्र-गुरु मे श्रद्धा रखनेवाले धार्मिक-जन आगम के दबाव से सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार तो कर लेते हैं परन्तु उनमे बहुसख्यक ऐसे होते हैं जिन्हे हृदय से सर्वज्ञ का यथार्थ स्वरूप स्वीकृत नही हो पाता। अतएव उन्हे जहाँ भी अपने प्रतिपाद्य विषय मे अवसर मिला, सर्वज्ञ के स्वरूप को सयुक्तिक समझाने का प्रयास किया है। जबतक सर्वज्ञ के स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नही होती, तबतक अपने सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा की प्रतीति और प्राप्ति नही होती, क्योंकि प्रतीति के बिना कोई भी व्यक्ति उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ नही करता। अत: आगम मे भी समय-समय पर आवश्यकतानुसार सर्वज्ञ का स्वरूप समझाकर उसकी प्रतीति करने का उपदेश दिया गया है।

---

१ श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाग सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ — रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ४

२ जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लय॥ — प्रवचनसार गाथा ८०

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रंथो मे यथास्थान सर्वज्ञ का एव सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही उनके टीकाकार आचार्य अमृतचद्र, आचार्य जयसेन और मुनिराज पद्मप्रभमलधारी देव ने भी उनके मूलभूत सक्षिप्त सूत्रात्मक कथनों का नाना युक्तियो और उदाहरणो से सुगठित गद्य और सरस पद्यो में अच्छा स्पष्टीकरण किया है जो मूलत: द्रष्टव्य है –

नियमसार ग्रथ के शुद्धोपयोग अधिकार में केवलज्ञान के स्वरूप का कथन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि – 'त्रिकालस्वभावी समस्त मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यो को अर्थात् स्वद्रव्य को तथा समस्त परद्रव्यो को निरन्तर देखने-जाननेवाले अरहत भगवान का केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।[1]'

इसी बात को प्रवचनसार के ज्ञानतत्व प्रज्ञापन अधिकार मे कहा है कि – 'जो ज्ञान अमूर्त को, मूर्त पदार्थों मे भी अतीन्द्रिय (सूक्ष्म) और प्रच्छन्न पदार्थों को अर्थात् सम्पूर्ण स्व एव पर पदार्थों को देखता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।[2]'

नियमसार ग्रन्थ की १६६ और १६९वी गाथा के द्वारा स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय-व्यवहार नयो को निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर उत्पन्न होनेवाले सदेह का समाधान करते हुए उनकी सापेक्षता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। वे कहते है कि– 'निश्चय से केवली भगवान केवल आत्मस्वरूप को ही देखते है, लोकालोक को नही – यदि कोई ऐसा कहे तो भी कोई भी कोई दोष नही है।[3]' तथा –

'व्यवहार से केवली भगवान मात्र लोकालोक को ही जानते-देखते है, आत्मा को नही, यदि कोई ऐसा कहे तो भी उसे कोई दोष नहीं है।[4]

ज्ञान, जीव का स्वरूप है, इसलिए आत्मा आत्मा को अर्थात् स्वय को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा (स्वय) को न जाने तो ज्ञान आत्मा से प्रथक सिद्ध होगा। तथा यदि वह केवलज्ञान पर को न जाने तो उसे दिव्य कौन कहेगा ? अत: 'स्वाश्रितो निश्चय:' की अपेक्षा यदि निश्चय से केवल आत्मा को जाननेवाला कहा जाय तो भी कोई दोष नही है तथा 'पराश्रितो व्यवहार:' की अपेक्षा व्यवहार से केवलज्ञान को परको जाननेवाला कहा जाय तो भी कोई दोष नही है। अत यह सदेह नही करना चाहिए कि केवलज्ञान लोकालोक को नही जानता अथवा निजात्मा को नही जानता।

---

[1] मुत्तममुत्तं व्व चेयदणमियर सग च सव्व च।
पेच्छ तस्स दु णाण पच्चक्खमणिदिय होइ ॥ – नियमसार गाथा ६७

[2] ज पेच्छदो अमुत्त मुत्तेसु अदिदिय च पच्छण्ण।
सयल सग च इदर त णाण हवदि पच्चक्ख ॥ – प्रवचनसार गाथा ५४

[3] अप्प सरूव पेच्छदि लोयालोय न केवली भगव।
जइ कोइ भणइ एवतस्स य किं इसरण होइ ॥ – नियमसार गाथा १६६

[4] लोयालोय जाणइ अप्पाण नेव केवली भगव।
जइ कोइ भणइ एव तस्स य किं इसरण होइ ॥ – नियमसार गाथा १६९

नियमसार की ही १५९वी गाथा मे स्पष्ट कहा है कि –

"जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवलीभयव ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ।।

व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते हैं और देखते हैं तथा निश्चय से केवलज्ञानी केवल आत्मा को (स्वय को) ही जानते देखते हैं ।"

यहाँ केवलज्ञानी के स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है ।

व्यवहारनय से वे भगवान घातिया कर्मों के नाश से प्राप्त सकल विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायो को एक समय में जानते और देखते हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के शुद्धोपयोग मे परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पो का अभाव होने से वे स्वय कार्य-परमात्मा होते हुए भी त्रिकाल निरुपाधि, निरवधि, नित्य शुद्ध स्वरूप अपने सहज ज्ञान व सहज दर्शन से निज कारण परमात्मा को ही जानते-देखते हैं ।

उपर्युक्त दोनो ही कथन केवल "स्वाश्रितो निश्चयः एवं पराश्रितो व्यवहार." इस शास्त्र-वचन के अनुसार सापेक्ष जानना चाहिए ।

इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवली की परपदार्थज्ञता व्यावहारिक अवश्य है, नैश्चयिक नही । पर वह परपदार्थज्ञता असत्यार्थ नही है, काल्पनिक नही है ।

नियमसार गाथा १७२ की तात्पर्यवृत्ति टीका मे कहा है कि – विश्व को निरन्तर जानते हुए और देखते हुए भी केवली की मन प्रवृत्ति का अभाव होने से उनके इच्छापूर्वक वर्तन नही होता ।[1]

प्रवचनसार गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका मे कहा है कि – एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयो को जानने का स्वभाव होने से मानो वे द्रव्य ज्ञायक मे उत्कीर्ण हो गये हो, चित्रित हो गये हो, भीतर घुस गये हो, कीलित हो गये हो, डूब गये हो, समा गये हो, प्रतिबिम्बित हो गये हो – ऐसे अगाध और गम्भीर तथा क्रमश. प्रवर्तमान अनत भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाले द्रव्यो की ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अनिवार्यता के कारण वह शुद्धात्मा एक क्षण मे ही प्रत्यक्ष करता है ।[2]

इसी बात को प्रवचनसार की ३२वी गाथा की तत्वप्रदीपिका टीका मे इसप्रकार कहा है – "एक साथ ही सर्व पदार्थों के समूह का साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्ति परिवर्तन का अभाव होने से समस्त परिच्छेद्य आकारो रूप परिणत होने के कारण जिसके ग्रहण-त्याग क्रिया का अभाव हो गया है, तथा पररूप से – आकारान्तर रूप से परिणत न होता हुआ सर्वप्रकार से अशेष विश्व को देखता – जानता है ।[3]"

---

[1] विश्वमश्रात जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वक वर्तन न भवति तस्य केवलिन

[2] अथ एकस्य ज्ञायकभावस्य समस्त ज्ञेयभावस्वभावत्वात प्रोत्कीर्ण लिखित निखात् कीलित मज्जित समावर्तित प्रतिबिम्बित वतत्र क्रम प्रवृत्तानन्त भूतभवद्भावि विचित्र पर्याय प्राग्भारमगाध स्वभाव गभीर समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयत ।

[3] युगपदेव सर्वार्थसार्थं साक्षात् करणेन ज्ञप्ति परिवर्तनाभावात् संभावित ग्रहण मोक्षण लक्षण क्रिया विराम प्रथममेव समस्त परिच्छेद्याकार परिणतत्वात् पुन. परमाकारान्तर परिणममान समन्ततोऽपि विश्वमशेष पश्यति जानाति च ।

निश्चयं से पर को न जानने का तात्पर्य उपयोग का पर के साथ तन्मय न होना है। प्रवचनसार की गाथा ५२ की तत्वप्रदीपिका टीका के चौथे कलश मे स्पष्ट कहा है कि — "जिसने कर्मों को छेद डाला है, वह आत्मा भूत-भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों की समस्त पर्यायो से युक्त समस्त विश्व को एक ही साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पर रूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अब जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वय पी गया है — ऐसे तीन लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ, वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार मे शुद्धोपयोग का फल बतलाते हुए आत्मा के सर्वज्ञ होने की चर्चा विस्तार से की है। उन्होने लिखा है —

"शुद्धोपयोगी आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्म रूपी रज को दूर करके स्वय ही ज्ञेयभूत पदार्थों के अन्त को प्राप्त करता है अर्थात् वह सब लोकालोक को जान लेता है।[1]

आगे सर्वज्ञता की व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं कि — केवलज्ञान रूप परिणमते हुए केवली भगवान के निश्चय से अर्थात् वस्तुत. सब द्रव्य तथा उनकी तीनो कालों की सम्पूर्ण पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, प्रगट हैं। क्योंकि उन केवली भगवान के सब तरफ से कर्मों का आवरण दूर हो जाने के कारण अखण्ड अनत शक्ति से पूर्ण आदि अन्त रहित असाधारण केवलज्ञान प्रगट हो गया है। इसकारण उनके एक ही समय मे सब द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव ज्ञान रूपी भूमि में प्रत्यक्ष झलकते हैं।[2]

इसी क्रम मे आगे केवलज्ञान का सर्वगतत्व — सर्वव्यापकत्व सिद्ध करते हुए कहा गया है कि —

"आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोक है, अत: ज्ञान सर्व-व्यापक है।

देखो, द्रव्य अपने गुण पर्यायों से अनन्य (अभिन्न) होता है, इसलिए आत्मा ज्ञानगुण से हीनाधिक नही है, ज्ञानप्रमाण ही है। और ज्ञेयो का अवलम्बन करनेवाला ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है तथा ज्ञेय तो समस्त लोकालोक है ही। अत सर्व आवरण क्षय होते ही ज्ञान सबको जानने लगता है, फिर कभी भी उसके जाननेरूप क्रिया से च्युत नही होता। इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है।[3]

आचार्य अब यह सिद्ध करते हैं कि द्रव्यो की अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायो की भाँति पृथक् रूप से ज्ञान में वर्तती हैं। वे लिखते है कि —

---

[1] उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पर णेयभूदाणं ॥ प्र०सा० गाथा १५ ॥

[2] परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ प्र०सा० गाथा २१ ॥

[3] आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ प्र०सा० गाथा २३ ॥

"उन जीवादि द्रव्यो की विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक पर्यायो की भाँति विशिष्टतापूर्वक अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप मे ज्ञान मे वर्तती हैं।[1]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायो को वर्तमान काल मे कैसे जान सकता है?

समाधान यह है कि – जब अल्पज्ञ जीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओ का चिन्तवन कर सकता है, अनुमान के द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है, तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट व अनुत्पन्न पर्यायो को क्यो न जान सकेगा? ज्ञान मे ऐसी शक्ति है कि वह चित्रपट की भाँति अतीत और अनागत पर्यायो को भी जान सकता है। तथा आलेख्यत्वशक्ति की भाँति द्रव्य की ज्ञेयत्व शक्ति भी ऐसी है कि उनकी अतीत व अनागत पर्यायें ज्ञान मे ज्ञेय रूप से ज्ञात होती हैं।

इसप्रकार आत्मा की अद्‌भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्‌भुत ज्ञेयत्व शक्ति के कारण केवलज्ञान मे समस्त द्रव्यो की तीनो काल की पर्यायो का एक ही समय मे भासित होना अवरुद्ध है।[2]

अब अविद्यमान (अतीत व अनागत) पर्यायो की भी कथचित् (किसी एक अपेक्षा से) विद्यमानता बतलाते हैं –

वे कहते हैं कि – जो पर्यायें वास्तव मे उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं तथा जो अभी उत्पन्न ही नही हुई हैं, वे अविद्यमान पर्यायें ज्ञान मे सीधी ज्ञात होने से केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

यद्यपि ये अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायें भी केवलज्ञान मे वर्तमानवत् विद्यमान हैं, यह बात जनसामान्य के चित्त मे सहज स्वीकृत नही होती, परन्तु प्रवचनसार गाथा ३९ मे स्पष्ट कहा है कि – यदि अनुत्पन्न व नष्ट पर्यायें केवलज्ञान मे प्रत्यक्ष न हो तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा? अरे भाई! पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिए यह सब सम्भव है।

अनन्त महिमावन्त केवलज्ञान की यही दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्यो की समस्त पर्यायो को सम्पूर्णतया एक ही समय मे प्रत्यक्ष जानता है।

"जो ज्ञान अप्रदेश को, सप्रदेश को, मूर्त को और अमूर्त को तथा अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय को जानता है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहा गया है।[3]

आगे पुन क्षायिकज्ञान को परिभाषित करते हुए आचार्य कहते है कि –

"जो ज्ञान पूरी तरह से वर्तमान, अतीत, अनागत, विचित्र एव विषम – सब पदार्थों को एक साथ जानता है, उस ज्ञान को क्षायिक कहा है।[4] [शेष पृष्ठ २०१ पर]

---

[1] तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥ – प्रवचनसार गाथा ३७

[2] गाथा ३७ के भावार्थ से।

[3] अपदेस सपदेस मुत्तममुत्त च पज्जयमजाद।
पलय गद च जाणदि त णाणमदिदिय भणिय॥ – प्रवचनसार गाथा ४१

[4] जं तक्कालियमिदर जाणदि जुगव समतदो सव्व।
अत्थ विचित्तविसम तं णाण खाइय भणिय॥ – प्रवचनसार गाथा ४७

आचार्य कुन्दकुन्द का अकर्त्तावाद

– कुमारी आराधना जैन

□

कर्त्तावाद का तात्पर्य है – अपने को परपदार्थों का कर्त्ता और पर के कार्य को अपना कर्म मानना। प्राय सभी दर्शन – जैसे अद्वैत, अवतारमीमासा, भक्तियोग दर्शन, शिवमत आदि – ईश्वर को सृष्टि के कर्त्ता के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आत्मा अज्ञानी है। उस आत्मा के सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादि मे गमनागमन सब ईश्वर कृत है। इसप्रकार की मान्यता ईश्वरवाद या सृष्टिकर्त्तावाद है। इसके विपरीत कुछ दर्शन – जैसे चार्वाक, साख्य, जैन, बौद्ध आदि – ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता के रूप मे स्वीकार नही करते है। चार्वाक नास्तिक दर्शन है। वह ईश्वर, धर्म, अधर्म, मोक्ष आदि का अस्तित्व ही नही मानता। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है। साख्यमती सभी कार्यों का कर्त्ता प्रकृति को मानता है।

जैन दर्शन की मान्यता इन सबसे भिन्न है। वह पर को अपना तथा अपने को पर का कर्त्ता नही मानता, – यही जैनदर्शन का अकर्त्तावाद है। जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि 'अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती है; कोई किसी के आधीन नही है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नही होती'[1]। आध्यात्मिक सन्त कुन्दकुन्दाचार्य ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने ग्रन्थो में किया है। उनके अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता स्वयं ही है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नही है।

प्राणी अनादि काल से ही परपदार्थों मे अहबुद्धि एव ममत्वबुद्धि करके कर्त्ता बनता है और ससार में परिभ्रमण करता है। यह कर्त्तापन क्या है? आचार्य जयसेन के शब्दो मे 'रागद्वेषमोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते'[2] अर्थात् राग-द्वेष-मोहरूप मे परिणमन करने का नाम ही कर्त्तापन है।

कर्त्तापन मुख्यता से तीन प्रकार का है :– (१) शरीरात्मक (२) अविरतात्मक (३) विरतात्मक।

(१) शरीरात्मक :– जब जीव यह सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ, अत. अपने जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओ का अपने परिश्रम से सम्पादन करके मैं सुखी बनूं – ऐसा विचार कर मनमानी करते हुए पाप-पाखण्ड मे लगा रहता है, यह उसका शरीरात्मक कर्त्तापन है।

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५२
[2] समयसार, आचार्य जयसेन की टीका, पृष्ठ ३०१

(२) अविरतात्मक – जब जीव यह जान लेता है कि मुझे नानाप्रकार की कुयोनियो मे जन्म-मरण करते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया, जिसमे यह मनुष्य जन्म कठिनता से प्राप्त हुआ है, अत अब ऐसा करूँ कि कम से कम कुयोनि मे तो जन्म-धारण न करना पड़े – ऐसा विचार कर अन्याय-अभक्ष्य से बचकर न्यायोपार्जित कर्त्तव्य करने मे लग जाता है, दान-पूजादि षट्कर्म करने लगता है; तो यह उसका अविरतात्मक कर्त्तापन है ।

(३) विरतात्मक :– जब जीव ससार के दृश्यमान ठाठ को क्षणभगुर जान लेता है । दुर्लभता से प्राप्त मानव पर्याय का कोई भरोसा नही है, अत शेष जीवन को भगवान के भजन मे बिताऊँ – ऐसा सोचकर गृहस्थाश्रम से विरक्त होकर साधु-सेवा मे लग जाता है, तब वहाँ शुद्धोपयोग के साधनस्वरूप आवश्यक कर्म करने लगता है, यही उसका विरतात्मक कर्त्तापन है ।

जब जीव अपनी शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप निर्विकल्प परमसमाधि मे तल्लीन हो जाता है, तब तीनो प्रकार के कर्त्तापन से रहित होता हुआ ज्ञानी होता हुआ अकर्त्तावादी बनता है ।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के अकर्त्तावाद का तात्पर्य भी यही है कि प्राणी अपने को परद्रव्यो का कर्त्ता मानकर राग-द्वेष-मोह भाव से ससार मे परिभ्रमण कर रहा है, वह अपनी भूल को दूर करे ।

विश्व मे ६ मौलिक द्रव्य अनादि से विद्यमान हैं । वे अपनी अवस्थाओ मे परिवर्तित होते रहते है । अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल अणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म-द्रव्य, एक आकाश और असख्य कालाणुओ से यह लोक व्याप्त है । इनमे से एक भी द्रव्य न तो कम हो सकता है और न ही कोई नया उत्पन्न होकर इनकी सख्या मे वृद्धि कर सकता है । कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के रूप मे परिणमन नही कर सकता । विजातीय द्रव्यरूप मे किसी द्रव्य का परिणमन नही होता तथा सजातीय द्रव्यरूप परिणमन भी नही होता । जैसे :– एक जीव द्रव्य का दूसरे सजातीय जीव द्रव्य मे या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गल द्रव्यरूप मे परिणमन नही कर सकता । छह द्रव्यो मे धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य का परिणमन शुद्ध होता है । जीव व पुद्गल – इन दो द्रव्यो मे शुद्ध परिणमन भी होता है और अशुद्ध भी । इन दो द्रव्यो मे क्रिया शक्ति भी है, जिसमे इनमे हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाये होती हैं । शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं, वे जहाँ हैं वही रहते हैं । जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य में अशुद्ध परिणमन एक-दूसरे के निमित्त से होता है ।

प्रत्येक द्रव्य के परिणमन की स्वतन्त्रता और जीव तथा अजीव (पौद्गलिक कर्म) की अनादि काल से सम्बद्ध अवस्था देखकर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बद्ध का क्या कारण है ? जीव ने कर्म को किया या कर्म ने जीव को किया ? यदि जीव ने कर्म को किया, तो उसमे ऐसी कौनसी विशेषता थी जिससे उसने कर्म को किया ? यदि कर्म ने जीव को किया तो उसमे ऐसी विशेषता कहाँ से आयी जो जीव को कर सके – उसमे रागादि भाव उत्पन्न कर सके ?

---

[1] समयसार, गाथा १०४ की आचार्य जयसेन-कृत टीका का विशेषार्थ

इसका समाधान यह है कि जीव के रागादि परिणामों से पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमित होता है और कर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर आत्मा मे स्वत: रागादिक भाव उत्पन्न होते है। एक का दूसरे के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही, मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

आज का विज्ञान भी हमे यह बतलाता है कि जीव जो भी विचार करता है, उसकी आडी, टेढी, सीधी, गहरी, उथली रेखाएँ मस्तिष्क मे भरे हुए मक्खन जैसे पदार्थ मे खिचती जाती है। उन्ही रेखाओं के अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैन कर्म सिद्धान्त भी यही है कि राग-द्वेष-प्रवृत्ति के कारण केवल सस्कार ही आत्मा पर नही पडता, किन्तु उस सस्कार को यथासमय उद्बुद्ध करने वाले द्रव्यकर्म का सम्बन्ध भी होता जाता है। यह कर्म पुद्गलद्रव्य ही है। मन-वचन-काय की प्रत्येक क्रिया के अनुसार शुक्ल या कृष्ण कर्म पुद्गल आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त हो जाते है। ये विशेष प्रकार के कर्म-पुद्गल बहुत कुछ तो स्थूल शरीर के भीतर ही पडे रहते है जो मनोभावो के अनुसार आत्मा के सूक्ष्म कर्मशरीर मे ही सम्मिलित हो जाते है तथा कुछ बाहर से भी आते हैं। (जैसे, एक तपे हुए लोहे के गोले को पानी से भरे बर्तन मे छोडे तो यह गोला जल के बहुत से परमाणुओ को अपने भीतर सोख लेता है, साथ ही गर्मी और भाप से बाहर से परमाणुओ को भी खीचता है। लोहे का गोला जब तक गरम रहता है, पानी मे उथल-पुथल पैदा करता रहता है; कुछ परमाणुओ को लेता है, कुछ को बाहर निकालता है, कुछ को भाप बनाता है, एक अजीब-सी स्थिति समस्त वातावरण मे उपस्थित कर देता है। इसीतरह जब यह आत्मा राग-द्वेषादि से तप्त होता है, तब शरीर मे अद्भुत हलन-चलन उपस्थित करता है। क्रोध आते ही आँखे लाल हो जाती है, खून की गति बढ जाती है, मुँह सूखने लगता है, नथुने फडकने लगते है। जब तक कषाय शान्त नही होती, यह चहल-पहल-मन्थन आदि नही रुकता।)

आत्मा के विचारों के अनुसार पुद्गलद्रव्यो मे परिणमन होता है और विचारो के उत्तेजक पुद्गलद्रव्य आत्मा के वासनामय सूक्ष्म कर्म शरीर मे सम्मिलित हो जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलो पर दबाव पडता है तब-तब वे कर्मपुद्गल फिर उन्ही रागादि भावो को आत्मा मे उत्पन्न कर देते है। इसीतरह रागादि भावो से नये कर्मपुद्गल कर्मशरीर में सम्मिलित हो जाते है। उन कर्मपुद्गलो के परिपाक के अनुसार नूतन रागादि भावो की सृष्टि होती है। इसतरह रागादिभाव और कर्मपुद्गल-बन्ध का चक्र चलता रहता है। इस चक्र मे अन्योन्याश्रय दोष आता है, जिसे अनादि सयोग मान कर दूर किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने कर्त्ता, कर्म और क्रिया का लक्षण इसप्रकार बताया है :—

"य: परिणमति स कर्त्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥"[1]

[1] आत्मख्याति, कलश ५१

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्त्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते है और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तव मे ये तीनों भिन्न नही है, एक ही द्रव्य की परिणति है।"

निश्चयनय का कथन करनेवाले इस कलश से स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही है। इनमे तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, क्योकि परस्पर निमित्त से दोनो के परिणाम होते हैं। पुद्गल, जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमित होता है और जीव, पुद्गल के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता है। जीव, कर्म के गुणो को नही करता और कर्म, जीव के गुणो को नही करता; किन्तु परस्पर निमित्त से दोनो के परिणमन होते हैं। अत: स्पष्ट है कि निश्चयनय से आत्मा पुद्गलकर्म से किये समस्त कर्मों का कर्त्ता नही है, अपितु अपने भावो का ही कर्त्ता-भोक्ता है और व्यवहारनय से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है।

वस्तुत. कर्तृ-कर्म भाव उसी द्रव्य मे होता है जिसमे व्याप्य-व्यापक भाव या उपादान-उपादेय भाव होता है। जो वस्तु कार्यरूप परिणमित होती है वह व्यापक या उपादान कारण है तथा जो कार्य होता है वह व्याप्य या उपादेय है। जैसे मिट्टी से घट बना तो यहाँ पर मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है। व्याप्य-व्यापक या उपादानोपादेय भाव सदा एक द्रव्य मे होता है, दो द्रव्यो मे नही, क्योकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन त्रिकाल मे भी नही कर सकता।

जो उपादान के कार्यरूप परिणमन में सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है। जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमन मे दण्ड, चक्र, कुम्भकार आदि निमित्त हैं। उस निमित्त की सहायता से जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है। जैसे कुम्भकार की सहायता से मिट्टी मे हुआ घटाकार परिणमन।

निमित्त-नैमित्तिक भाव दो द्रव्यो मे भी बन सकता है, परन्तु उपादानोपादेय भाव एक द्रव्य मे ही वनता है। (जीव और पुद्गल मे निमित्त-नैमित्तिक भाव होने पर भी निश्चयनय इनमे कर्तृ-कर्म भाव को स्वीकार नही करता। यदि स्वीकार किया जाये तो निमित्त मे द्विक्रियाकारित्व का दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमन का भी कर्त्ता तथा उपादान के परिणाम का भी कर्त्ता होगा, जो असम्भव है।)

यदि आत्मा परद्रव्यो को करे तो वह नियम से उन परद्रव्यो के साथ तन्मय हो जाये; पर तन्मय नही होता, इसलिए वह उनका कर्ता नही है। जीव न घट को करता है, न पट को करता है और न शेष द्रव्यो को ही करता है। जीव के योग और उपयोग उनके कर्ता हैं। वे ही घट-पटादि की उत्पत्ति मे निमित्त हैं।[1]

[1] जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥
—समयसार

इसकी टीका मे अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है :-घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म है। यदि इन्हे आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से करता है तो नित्यकर्तृत्व का प्रसग आता है, परन्तु ऐसा है नही; क्योंकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है। अतः न ही व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता है और न निमित्त-नैमित्तिक भाव से, किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग है, वे ही घट-पटादि द्रव्यो के निमित्त कर्ता हैं और योग-उपयोग आत्मा के विकल्प और व्यापार है। अर्थात् जब आत्मा विकल्प करता है कि मैं घट को बनाऊँ, तब काययोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशो मे चंचलता आती है। चचलता का निमित्त पाकर हस्तादिक के व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्र भ्रमित होता है तब घटादि की निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य है। कदाचित् अज्ञान के द्वारा आत्मा इनका कर्त्ता हो भी सकता है, परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मों का कर्त्ता कदापि नही हो सकता।

यहाँ निमित्तकारण को दो भागो मे विभाजित किया गया है :- साक्षात् निमित्त और परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोग का कर्ता है - यह साक्षात् निमित्त की अपेक्षा कथन है। कुम्भकार के योग और उपयोग से दण्ड तथा चक्रादि में जो व्यापार होता है उससे घटादिक की उत्पत्ति होती है - यह परम्परा निमित्त की अपेक्षा कथन है। जब परम्परा निमित्त को गौण कर के कथन किया जाता है तो कहा जाता है कि जीव घट-पटादि का कर्ता नही है, किन्तु जब परम्परा निमित्त से होनेवाले निमित्त-नैमित्तिक भाव की प्रमुखता से कथन किया जाता है तो जीव घट-पटादि का कर्त्ता होता है।

वास्तव मे आत्मा शुभ या अशुभ जैसा भी भाव करता है, वह अपने भाव का करनेवाला होता है और वह भाव ही उसका कर्म होता है, तथा वह अपने भावरूप कर्म का ही भोक्ता होता है; क्योकि जो वस्तु जिस द्रव्य और गुण मे वर्तती है वह अन्य द्रव्य तथा गुण मे सक्रमण को प्राप्त नही होती। द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप सक्रमण को प्राप्त न होते हुए वह अन्य वस्तु को नहीं परिणमा सकती है। अतः आत्मा वास्तव में पुद्गलकर्म का अकर्त्ता है। उसे पुद्गलकर्म का कर्त्ता कहना उपचार मात्र है। जैसे योद्धाओ द्वारा युद्ध किये जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' - ऐसा कहा जाता है सो उपचार मात्र कथन है; वैसे ही 'जीव ने कर्म किये' - ऐसा उपचार से कहा जाता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा जिस भाव को करता है उस भावरूप कर्म का कर्त्ता होता है। ज्ञानी के वे भाव ज्ञानमय है। ज्ञानमय भाव मे से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए ज्ञानियो के समस्त भाव ज्ञानमय ही है। अज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते है, अतः अज्ञानियो के भाव अज्ञानमय ही होते है। अज्ञानी को अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय के कारण ही द्रव्यबन्ध होता है। जीवो को वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होना ही अज्ञान का उदय है, तत्त्वो की श्रद्धा न होना ही मिथ्यात्व का उदय है, मलिन उपयोग ही कषाय का उदय है, शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप मन-वचन-कायाश्रित चेष्टा का उत्साह ही योग का उदय है। उदयों के हेतुभूत होने पर कार्माण वर्गणाएँ ज्ञानावरणादिरूप से आठ प्रकार परिणमन करती हैं और जब

यह कार्मारण वर्गणाएँ जीव से बँधती है तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञानमय परिणाम का हेतु होता है ।

पुद्गल द्रव्य का परिणामन जीव द्रव्य से भिन्न ही है । यदि पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ ही परिणमन मान लें तो पुद्गल और जीव दोनो ही कर्मरूप परिणमित हो जाये, परन्तु कर्मभाव के परिणाम तो पुद्गल द्रव्य के ही होता है, अत जीवभावरूप निमित्त से रहित ही कर्म का परिणाम है । (इसीप्रकार जीव का परिणाम कर्मपुद्गल द्रव्य से पृथग्भूत ही है; क्योकि जीव के जो रागादि विकारी भाव होते है, वैसे ही यदि वास्तव मे कर्म के भी होते तो जीव और कर्म दोनो को रागादिमान् होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही । रागादिभाव से परिणाम तो एक जीव के ही होता है, अत कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही जीव का परिणाम है । तात्पर्य यह है कि उपादानरूप मे रागादिभावो की उत्पत्ति का कारण जीव ही होता है, कर्मोदय नही ।

आत्मा परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायरूप परिणमन करता है, अन्य द्रव्य-गुणरूप नही । यही कारण है कि आत्मा अपने गुण-पर्यायो का कर्त्ता है, कर्मो का नही । कर्मों का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है, क्योकि ज्ञानावरणादिरूप परिणमन पुद्गल द्रव्य मे ही हो रहा है । इसीतरह रागादिक का कर्त्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नही, क्योकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है ।

सभी द्रव्यो के परिणाम भिन्न-भिन्न ही है । प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामो का कर्त्ता है तथा परिणाम उन द्रव्यो के कर्म है । निश्चय से किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नही है, तथापि अज्ञानी अज्ञान के कारण अपने को पर का कर्त्ता मानता है, अत बन्ध को प्राप्त होता हुआ कर्मो को करता है तथा उसके फल को भोगता है । इसके विपरीत ज्ञानी भेदविज्ञान के बल से उन्हे मात्र जानता है, करता या भोगता नही है ।

मुनि होकर भी जो एकान्त से आत्मा को कर्त्ता मानते है वे लौकिकजन के समान ही है, क्योकि लौकिकजन विष्णु को कर्त्ता मानते है और मुनि ने आत्मा को कर्त्ता माना, अत दोनो की मान्यता समान हुई । कर्तापन की मान्यता जब तक रहेगी, मोक्ष सभव नही है । कर्त्तापन की मान्यता मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व का कर्त्ता अज्ञानी जीव है और उसके निमित्त से पुद्गलपिण्ड मे मिथ्यात्व कर्मरूप बनने की शक्ति आ जाती है ।

(साख्य मतानुयायी इसप्रकार मानते है कि यह आत्मा अकर्त्ता है, यह जीव (पुरुष) कर्मों के द्वारा ही ज्ञानी-अज्ञानी किया जाता है; कर्मों के द्वारा ही सुलाया-जगाया जाता है, दु खी-सुखी होता है, मिथ्यात्वी, असयमी होता है, तीनो लोको मे परिभ्रमण करता है; जो भी कुछ शुभ-अशुभ हो रहा है वह कर्मो के द्वारा ही हो रहा है, कर्म ही कर्ता-हर्ता है, आदि । साख्य मत के समान श्रमण मानता है तो आत्मा के कर्तापन का सर्वथा अभाव होता है । कर्तापन के सर्वथा अभाव से ससार तथा मोक्ष का भी अभाव होता है जो कि प्रत्यक्षविरुद्ध है, अत. ऐसी मान्यता उचित नही है ।

आत्मा को आत्मद्रव्य का कर्त्ता मानना भी उचित नही है; क्योकि द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य और असख्यात प्रदेशी है। इस असख्यात प्रदेशीपन और द्रव्यपने को उस परिणाम से हीनाधिक नही किया जा सकता; अत 'आत्मा आत्मा को करता है' – यह कथन मिथ्या ही है।

साराश रूप मे कह सकते है कि आत्मा को कर्म का सर्वथा अकर्त्ता मानना तथा कर्म को ही कर्म का कर्त्ता मानना उचित नही। इसका कारण यह है कि आत्मा अज्ञान दशा मे अपने अज्ञानभावरूप कर्म को करता है।

व्यवहार नय से जीव पुद्गलकर्मों का कर्त्ता है, उनके फल को भोगता है, मन-वचन-कायरूप करणो को ग्रहण करता है एव उनके द्वारा कर्म करता है, पर वह किसी से तन्मय नही होता। निश्चय नय से जीव अपने परिणामरूप कर्मों को करता है एवं उनके फल को भोगता है।

परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न नही करा सकते है, क्योकि एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नही की जा सकती। सभी द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते है; अत: आत्मा के रागादि परिणाम आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम है, अन्य द्रव्य तो निमित्त मात्र हैं।

सक्षेप मे आचार्य कुन्दकुन्द के अकर्त्तावाद के प्रमुख तथ्य इसप्रकार है :-

- निश्चयनय से प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणाम का कर्त्ता है। आत्मा अपने भाव का ही कर्त्ता है, पुद्गल द्रव्यमय भावो का कर्त्ता नही है। इसी तरह पुद्गल अपने परिणाम-स्वरूप द्रव्यकर्म का ही कर्त्ता है, आत्मा के परिणामस्वरूप भावकर्म का नही।
- सर्व द्रव्यो का अन्य द्रव्यो के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है। जो दो वस्तुएँ है वे सर्वथा भिन्न ही हैं। दोनो एक होकर परिणमित नही होती, एक परिणाम को उत्पन्न नही करती और उनकी एक क्रिया नही होती – ऐसा नियम है।
- जो वस्तु जिस द्रव्य-गुण मे वर्तती है वह अन्य द्रव्य मे तथा गुण मे सक्रमण को प्राप्त नही होती और अन्यरूप से सक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ? नही करा सकती।
- एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का निमित्त हो सकता है, कर्त्ता नही। निमित्त भी द्रव्यरूप से तो कर्त्ता है ही नही, पर्यायरूप से हो सकता है।
- स्वय परिणमित होनेवाले द्रव्य को निमित्त परिणमित नही करा सकता।
- एक को दूसरे का कर्त्ता कहना असत्य या व्यवहार है, क्योकि कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्त्ता है नही। □

लेखिका-परिचय – शिक्षा : बी० एससी०, एम०ए० (सस्कृत), शोधकार्य-रत। सम्पर्क सूत्र :- D/o श्री ज्ञानचन्द जैन 'स्वतन्त्र', मील रोड, हितकारिणी धर्मशाला के पास, मु० पो० – गजबासोदा, जिला – विदिशा, मध्यप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द का प्रतिपाद्य

– डॉ० राजेन्द्रकुमार बंसल

□

वीतराग-विज्ञान की साधना एव उपलब्धि के क्षेत्र मे ईसा की पहली शताब्दी के लगभग हुये आचार्य कुन्दकुन्ददेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे आत्मज्ञानी, उग्र तपस्वी, साहित्यिक एव उच्च कोटि के तत्त्वमर्मज्ञ थे।

सच्चा सुख क्या है? मोक्ष क्या है? और वह कैसे उपलब्ध होता है? आदि का सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक विवेचन उनकी रचनाओ की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु है। उनके अनुसार मोक्ष-स्वरूप सच्चा सुख वीतरागता से ही प्राप्त हो सकता है, जिसका परम लक्ष्य आत्मा को आत्मा द्वारा उसके सहज स्वरूप ज्ञान-दर्शन मे स्थापित करना है। जिनशासन मे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समायोग से ही मोक्ष होना कहा है जो निर्मोह – निर्ग्रन्थपने से ही संभव है। यही कारण है कि कुन्दकुन्द ने अपनी रचनाओ मे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपनाने, कुमार्ग से विरत रहने तथा मोह-राग-द्वेष का परित्याग करने की प्रेरणा दी है।

समयसार ग्रन्थ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवादि तत्त्वो, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप आदि का सूक्ष्म विश्लेषण कर उनसे भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप दर्शाया है। उनके अनुसार निश्चय से आत्मा एक है, शुद्ध है, ज्ञान-दर्शनमय है, अरूपी है और परपदार्थो से उसका किंचित् भी सम्बन्ध नही है। प्रवचनसार में भी कुन्दकुन्द ने आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरावलम्ब एव शुद्ध घोषित किया है।

अज्ञान के कारण अनादिकाल से आत्मा ने अपने स्वरूप को विस्मृत कर पर पदार्थों से सम्बन्ध जोड रखा है और विभाव भावो को ही अपना स्वभाव मान रखा है, जिसके कारण वह उत्तम सौख्य को प्राप्त नही कर सका। विभाव को स्वभाव मानना एव राग-द्वेष मे प्रवृत्त रहना ही दु.ख का कारण है तथा भेदविज्ञान द्वारा आत्मश्रद्धान पूर्वक राग-द्वेष से निवृत्ति एव वीतरागता की प्राप्ति से अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त होता है। इसीकारण जैन दर्शन मे वीतरागता को ही आराध्य माना है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यक्त्व अर्थात् आत्मदर्शन को धर्म का मूल एव मोक्षमहल का प्रथम सोपान कहा है। उनके अनुसार दर्शन से भ्रष्ट पुरुष को कोटि वर्ष तक तप करने पर भी निर्वाण या सिद्धि प्राप्त नही होती। दर्शन, ज्ञान एव चारित्र से भ्रष्ट पुरुष मोक्षमार्ग मे महाभ्रष्ट एव पातकी होता है, वह दूसरो को भी भ्रष्ट करता है। सम्यक्त्व-

विहीन अज्ञानी व्यक्ति जीवित शव के समान है तथा सम्यक्त्व-विहीन जिनलिंगधारी मुनि अवंदनीय होते है। उनके अनुसार अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा बहुत भवो में जितने कर्म क्षय करता है, ज्ञानी मुनि उन कर्मों का क्षय गुप्ति सहित अतर्मुहूर्त में कर देता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार प्रत्येक मोक्षार्थी को चाहे वह मुनिलिंग का धारक हो या श्रावक, आत्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व होना आवश्यक है। इसप्रकार मोक्षमार्ग की शुरूआत की पहली शर्त आत्मश्रद्धान या सम्यक्त्व है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, मनोविकार रूप भावकर्म, हास्यादि नोकर्म से भिन्न सर्वपक्षातीत ज्ञान-दर्शनमयी आत्मा मे रत होकर उसके यथार्थ स्वरूप का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। उस आत्मा का जानना सम्यग्ज्ञान है और उस आत्मा मे रमण करके राग-द्वेष का परिहार करना सम्यक्-चारित्र है। व्यवहार दृष्टि से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु, छह द्रव्य, सात तत्त्व एवं नौ पदार्थों के श्रद्धानपूर्वक तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान है एव राग-द्वेष क्रिया की निवृत्ति चारित्र है। यह व्यवहारसम्यक्त्व, निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जन दर्शन मे तीन चिह्न (वेष या लिंग) मान्य है। उनमें सर्वश्रेष्ठ लिंग नग्न दिगम्बर मुनि का है, दूसरा ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का एव तीसरा जघन्य पद आर्यिका का है। इनमे मुनिपद जिनेन्द्र देव का एकमात्र यथाजात निर्ग्रन्थ लिग है। ऐसे लिंग का धारक पुरुष पूज्यनीय, आगमचक्षु, मोक्षमार्ग का जीवत प्रतीक एव जिनेश्वर का सदेह प्रतिनिधि कहलाता है। बोधपाहुड में निर्दोष निर्ग्रन्थ मुनि को धर्मायतन, चैत्यगृह, सदेह, जिनप्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, तीर्थ, देव, अरहत एवं प्रव्रज्या आदि अनेक नामो से निरूपित किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे "चारित्तं खलु धम्मो" कहकर निश्चय से चारित्र को ही धर्म माना है। यह चारित्र मोह-क्षोभ (राग-द्वेषादि विकारी परिणामों) से रहित आत्मा का परिणाम है। उन्होने चारित्रपाहुड में चारित्र के दो भेद किये हैं:- सम्यक्त्वाचरण चारित्र और सयमाचरण चारित्र। धर्म का मूल होने के कारण सम्यक्त्वा-चरण चारित्र मुनि-श्रावक सभी मोक्षार्थियों को होता है, जबकि सयमाचरण चारित्र वीतरागता के अशो की न्यूनाधिकतानुसार सागार एव अनागार दो प्रकार का होता है।

इनमे सागार सयमाचरण चारित्र श्रावको का होता है। श्रावकगण सहज रूप से सम्यक्त्व के आठ अंग एवं आठ गुण सहित पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एव चार शिक्षाव्रत रूप बारह व्रतो एव छह आवश्यको के धारी होते है। वे हिंसा रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव एवं निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति श्रद्धावान होकर जिनदेव द्वारा उपदेशित धर्म का पालन करते हैं। वे मद्य-मास-मधु, पाँच उदुम्बर फल, सप्त व्यसन एवं अन्याय-अनीति-अनाचार के त्यागी होकर ज्ञान-दर्शन रूप आत्मा के चिंतन एव अनुभव में प्रयासरत होकर भावशुद्धि के लिये बारह भावनाये भाते हैं। इस प्रकार फलित रूप से आत्मसाधक श्रावकों की बाह्य परिणति प्रशम, सवेग, अनुकम्पा एव आस्तिक्यमय सहज-सरल एव धर्मध्यानमय होती है। वे निजी जीवन मे आग्रह-विग्रह से दूर, मृदुभाषी, स्वावलम्बी, स्वाभिमानी, सदाचारी एवं जिनेन्द्रदेव के गुणों के उपासक होते है।

अनागार सयमाचरण चारित्र मुनि धारण करते हैं। पाँच इन्द्रिय-विजय, पच्चीस क्रियासहित, पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति अनागार सयमाचरण चारित्र है। अपने ज्ञान-दर्शन स्वरूप मे निमग्न रहने वाले मुनि हर अतर्मुहूर्त्त मे अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा का दर्शन-अनुभव करते रहते है। प्रमत्त-अप्रमत्त रूप छठवें-सातवे गुणस्थानो मे झूलते हुए वे कर्मों की निर्जरा करते रहते है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका मे शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म को अगीकार करने की विधि सविस्तार समझायी है। उनके अनुसार मुनिधर्म सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक, राग-द्वेष रहित चारित्र धर्म की उत्पत्ति हेतु अगीकार किया जाता है, जिससे कि मोह-क्षोभ रहित आत्मा के शात परिणामो को प्राप्त किया जा सके। आतरिक परिणामो की निर्मलता एव विशुद्धि के फलस्वरूप मुनियो के २८ मूलगुणो का निरतिचार पालन सहज रूप से होता रहता है। भावपाहुड के अनुसार इन मूलगुणो के अतिरिक्त १८ हजार शीलगुण एव ८४ लाख उत्तर गुण भी होते हैं। ये गुण यद्यपि शुभोपयोग रूप पुण्य बध के कारण हैं, फिर भी ये ज्ञान-दर्शनरूप शुद्धोपयोग के साथ अविनाभावी होते हैं और इन गुणो से युक्त मुनि हर अतर्मुहूर्त्त मे अपने ज्ञान-दर्शन स्वरूप का वेदन कर वीतरागता के अशो मे वृद्धि करते है।

प्रथम तो मुनिवर मन, वचन एव काय गुप्ति का पालन करते हुए अपने आत्मस्वरूप मे गुप्त ही रहने का प्रयास करते हैं और यदि कदाचित् ऐसे शक्य न हो तो वे ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण एव प्रतिष्ठापन – इन पाँच समितियो का सावधानीपूर्वक पालन कर प्रवृत्ति करते है।

ऐसे मुनि आर्त-रौद्र रूप दो ध्यान, माया-मिथ्यात्व-निदान रूप तीन शल्य, कृष्ण-नील-कपोत रूप तीन लेश्या, निद्रा-आहार-भय-मैथुन रूप चार सज्ञा, क्रोधादि चार कषाय एव हिंसादि पाँच पाप से रहित तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सहित होते है। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय एव योग – इन चार विभावो का निग्रह एव छह अनायतन का त्रियोग से त्याग करते हुए छह काय के जीवो के प्रति करुणा भाव धारण करते हैं। मुनि छह प्रकार के बाह्य एव छह प्रकार के अतरग तप से पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा कर वीतरागता के अशो मे वृद्धि करते हुए उत्तम क्षमादि दस धर्मों को साधते है। बाईस परीषहो को सहन करते हुए सोलहकारण भावना, बारह अनुप्रेक्षा, पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाये भाते रहते हैं तथा भावशुद्धि के लिये नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह समास, चौदह गुणस्थान आदि की तात्त्विक चर्चा-वार्ता करते हैं।

कुन्दकुन्द के अनुसार शुद्धोपयोगी मुनि सयम-तप-युक्त तथा राग रहित होते हैं, जो निरंतर दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव तप की भावसहित आराधना करते हैं। वे अतर्बाह्य परिग्रह के त्यागी एव निर्मोही होते हैं। ऐसे मुनि मान-अपमान, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय, निंदा-प्रशसा, तृण-कचन, हर्ष-विषाद, महल-श्मशान, जीवन-मरण आदि सभी को समान दृष्टि से देखते हुए समत्व धारण करते है। वे व्यवहार धर्म के प्रति अनुत्साही, किन्तु आत्मस्वभाव के प्रति अहर्निश जागरुक रहते हैं। ऐसे शुद्धोपयोगी मुनि सब मुनियो मे प्रधान एवं उत्तम सुख को प्राप्त करते है। उनके अनुसार जो मुनि

जिनलिंग धारण कर दर्शनादि भाव से रहित होते है वे तिर्यंचादि कुयोनियो मे दु:ख पाते हैं और उन्हे कभी मोक्ष की प्राप्ति नही होती ।

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य से यह प्रकट होता है कि उनके काल मे भावलिंगी मुनि के साथ कुछ ऐसे द्रव्यलिंगी शिथिलाचारी भी विद्यमान थे, जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विमुख होकर ससार कार्यो मे अनुरक्त रहते थे । ऐसे द्रव्यलिंगी मुनियो का वर्णन कुन्दकुन्द ने लिंगपाहुड मे कर उन्हे सावधान करते हुए कहा कि जो पुरुष यथाजात दिगम्बर जिनलिंग धारण कर परिग्रह धारण करता है, नृत्य करता है, गाता-बजाता है, इच्छावान है, आर्तध्यान मे निरन्तर ध्याता है, अभिमानी होकर कलह वाद-विवाद एव द्यूतक्रीडा मे निमग्न रहता है, अब्रह्म सेवन करता है, स्त्रियो के प्रति आसक्त रहता है, परिग्रह कुटुम्ब आदि विषयों में लीन रहता है, विवाह, कृषि कार्य, वाणिज्य-व्यापार रूप गृहस्थो का कार्य करता है, युद्ध-विवाद करता है, आहार एव रस के प्रति आसक्त होता है और उस निमित्त कलह करता है, कामवासना से पीडित होता है, ईर्ष्या करता है, दान लेता है, पर-निंदा करता है, सावधानीपूर्वक आहार-विहार न कर दौडता चलता है, दीक्षारहित गृहस्थों में स्नेह रखता है, मुनियो की क्रिया एव गुरुओ के विनय से रहित होता है, वह मुनि बहुत से शास्त्रो का ज्ञाता होकर भी तिर्यंचयोनि – पशु समान है । ऐसे तो मुनि क्या, मनुष्य भी कहलाने के योग्य नही होते ।

निर्ग्रंथ लिंग लोकपरिहास का कारण न बने – इस कारण कुन्दकुन्द के भावपाहुड की ७३वी गाथा में द्रव्यरूप मुनिलिंग धारण करने के पूर्व मिथ्यात्व आदि दोषो को छोडकर, भाव से अतरग नग्न होने एवं शुद्धात्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण एकरूप करने का उपदेश दिया है ।

समयसार के उपसंहार की गाथाओं में कुन्दकुन्द कहते हैं कि हे जीव ! मोक्षमार्ग मुनि-गृहस्थ रूप न होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् त्रिरत्न रूप है; अत: सागार-अनागार लिगो के ममत्व को छोड़कर इसी मे अपनी आत्मा को लगा, उसी का ध्यान कर, अनुभव कर और परद्रव्यों से विरत होकर अपने स्वरूप मे विहार कर । कुन्दकुन्द के अनुसार जो अध्यात्म एव मोक्ष के इस रहस्य को नही जानकर मुनि या गृहस्थ लिंग मे ममता करता है वह शुद्धात्मस्वरूप समयसार को न तो पहिचानता है और न ही सुख को प्राप्त कर पाता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी रचनाओं मे मोक्षार्थी श्रावक एव मुनि के स्वरूप एवं अंतर्बाह्य स्थिति का जो वर्णन-विश्लेषण किया है वह पठनीय-मननीय है । जो भव्य जीव सच्चे सुख को पाने के लिये रुचिवान हैं, उन्हें सर्व विकल्प त्यागकर इन रचनाओ के हार्द को हृदयंगम करना चाहिये । □

लेखक-परिचय :– उम्र ५० वर्ष । शिक्षा : एम. ए. (द्वय), एल एल. बी., पी-एच. डी., साहित्यरत्न । विविध पत्र-पत्रिकाओं मे शताधिक लेखो का प्रकाशन । अभिरुचि : धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में विशेष सहयोग । सम्पर्क-सूत्र : धार्मिक प्रबन्धक, ओरियन्ट पेपर मिल्स, मु०पो० – अमलाई, जिला – शहडोल, मध्यप्रदेश ।

स्वीकार करो मेरा प्रणाम

देवेन्द्रकुमार पाठक 'अचल'

हे समयसार के निर्माता ! स्वीकार करो मेरा प्रणाम ।
पावन कर सके धरा को तुम, रख करके अपने पद ललाम ।।

दे सके जगत को दिव्य ज्ञान
दे सके विश्व को नव विहान
दे करके अपना समयसार
कर सके बन्द भ्रम के बजार

कण कण मे अंकित झाँक रही है, समयसार की सुबह शाम ।
हे समयसार के निर्माता ! स्वीकार करो मेरा प्रणाम ।।

यह समयसार है समय-सार
यह मानवता का सत्त्व-सार
आधार मोक्ष का यही एक
संचित इसमे शाश्वत विवेक

हे कुन्दकुन्द आचार्य ! सकल, आचार्यों मे है प्रथम नाम ।
हे समयसार के निर्माता ! स्वीकार करो मेरा प्रणाम ।।

है यहाँ द्वैत-अद्वैत नही
इसके समान विरुदैत नही
इससे प्रसूत है अनेकान्त
जिससे मिटते हैं भ्रात-भ्रात

अब भी इसके पथ पर चलकर, पाता है जड चेतन विराम ।
हे समयसार के निर्माता ! स्वीकार करो मेरा प्रणाम ।।

गुरुता गरिमा युत भाव बोध
ज्ञानीजन के अन्त.प्रबोध
दे अदभुत समयसार दर्शन
दर्शन के भी बनकर दर्शन

दृग खोल समूची श्रद्धा को, तुम ही दे पाये आत्मधाम ।
आचार्यप्रवर श्री कुन्दकुन्द के चरणो में अर्पित प्रणाम ।। □

लेखक-परिचय :— शिक्षा : मैट्रिक । साहित्येन्दुशेखर एवं साहित्यप्रभाकर आदि उपाधियों से समय-समय पर सम्मानित । सहस्राधिक कविताएँ, लेख आदि प्रकाशित । अभिरुचि . चिन्तन, लेखन, सम्पादन । सम्पर्क-सूत्र : कलित साहित्य सदन, मु०पो० — दाना, जिला — सागर, मध्यप्रदेश ।

कुन्दकुन्द ने क्या बतलाया ?

मुकेश शास्त्री 'तन्मय'

कुन्दकुन्द ने सीमधर का सुन्दर तत्त्व बताया है ।
समयसार को स्वय समझकर समयसार बतलाया है ।।

कुन्दकुन्द के उपदेशों को उर में नही बसाया है ।
राग-द्वेष के अहकार में जीवन व्यर्थ गँवाया है ।।

कुन्दकुन्द उपदेश बिना ही बँधी तुझे जजीर है ।
मजिल तू है, स्वय सिद्ध है फिर क्यो तू पर रूप है ।।

परम्परागत पर भावो ने तेरी हँसी उडाई है ।
चला सुबह से दिन भर भटका हाय शाम घर आई है ।।

मंदिर तीरथ उपवासो में तूने उमर बिताई है ।
मगर तुझे तेरा प्रभु आखिर दिया नही दिखलाई है ।।

आत्मवस्तु तो ज्ञानपिण्ड है आनँदकन्द निराली है ।
इसकी सच्ची अनुभूति ही मोक्षमार्ग दिखलाती है ।।

बस जीवन का ज्ञाता-द्रष्टा बनना तेरा काम है ।
स्वयंसिद्ध ज्ञायक परमातम बस ये तेरा नाम है ।।

स्व-अनुभव का कुँआ खोद ले पर-अनुभव से हो जा बस ।
परमातम का आश्रय ले ले ज्ञायक ही मे रम जा बस ।।

परमागम का सार एक ज्ञायक परमातम त्रिकाली है ।
जिसकी श्रद्धा ज्ञान चरण ही लाती शिवसुख खानी है ।

श्रद्धा मे सामर्थ्य नहीं उनकी गौरव गाथा गाऊँ ।
अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाने बार-बार निज सिर नाऊँ ।। ☐

लेखक-परिचय :— उम्र : २३ वर्ष । शिक्षा : शास्त्री । श्री टोडरमल दि० जैन सि० महाविद्यालय, जयपुर के भूतपूर्व स्नातक । संप्रति : विदिशा (मध्यप्रदेश) में निजी व्यवसाय । सम्पर्क-सूत्र : भागचन्द निवास, किला अन्दर, विदिशा, मध्यप्रदेश ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का अद्वितीय सिद्धान्त : अकर्तावाद

— पण्डित रूपचन्द जैन

□

जिन-अध्यात्म के प्रवर्तक आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का उदय पचम काल मे भव्य जीवो के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। साक्षात् भगवान का विरह भुलाने मे समर्थ श्री कुन्दकुन्ददेव की अध्यात्मगगा मे अनेकानेक निकट (आसन्न) भव्य जीवो ने डुबकियाँ लगाई हैं। उनका प्रदेय अनुपम व अद्वितीय है। सर्वांग प्रदेय की चर्चा करना तो गुरुतर कार्य है, हम तो यहाँ केवल उनके अकर्तावाद सिद्धान्त की सक्षिप्त चर्चा कर रहे हैं। आशा है पाठक लाभान्वित होगे।

जीवो के अज्ञान का प्रमुख कारण परपदार्थों मे अहबुद्धि एव कर्तृत्वबुद्धि है। अकर्ता सिद्धान्त के सम्यक् परिज्ञान से ही अपने ज्ञायक स्वभाव का सत्य श्रद्धान, ज्ञान, आचरण होता है। अकर्ता सिद्धान्त की पुष्टि हेतु आचार्यदेव ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात रखी है —

> "गेण्हदि ग्रोव ण मुचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
> जीवो पोग्गलमज्भे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥[1]

जीव सर्व काल मे पुद्गल के मध्य रहता हुआ भी पुद्गलकर्म को न करता है, न ग्रहण करता है, न छोडता है।"

इस गाथा मे "जीवो सव्वकालेसु पोग्गलमज्भे वट्टण्णवि" — यह पक्ति महत्त्वपूर्ण है, जो सिद्ध करती है कि निगोद से लेकर सिद्ध पर्याय तक और अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक जीव पुद्गलकर्मों को न करता है, न ग्रहण करता है, न छोडता है।

जब कि इसके विपरीत अन्य आगम ग्रन्थो मे यह कथन लिखा मिलता है कि जीव ज्ञानावरणादि कर्मों को करता है, बाँधता है, छोडता है व घट, पट आदि पदार्थों का कर्त्ता है और जगत मे देखने मे भी ऐसा ही आता है कि जीव अनेक कार्य करता है, तो इन दोनो तरह के परस्पर विरोधी कथनो से अनेक आशकायें उपस्थित होती हैं। जैसे कि — (१) उपर्युक्त अकर्त्तावादी कथन सिद्ध अवस्था की अपेक्षा कहा होगा, ससार अवस्था की अपेक्षा नही। या (२) शुद्धोपयोग की अपेक्षा कहा होगा, अशुद्धोपयोग की अपेक्षा नही। या (३) कुन्दकुन्द मे व अन्य आचार्यों मे परस्पर मतभेद होगा जो ऐसा परस्पर विरोधी कथन किया। (४) सभव है गाथा की पादपूर्ति हेतु "सव्वकालेसु" पद लिख दिया होगा। इत्यादि।

[1] प्रवचनसार, गाथा १८५

पण्डित टोडरमलजी के शब्दो में इन सबका समाधान एकमात्र यही है कि :—

"जिनमार्ग मे कही तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' — ऐसा जानना। तथा कही व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे, 'ऐसा है नही, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' — ऐसा जानना।[1]"

पण्डित टोडरमलजी का यह मार्मिक सूत्र द्वादशांग की समस्त गुत्थियों को सुलझाने में उपयोगी है। उन्होने चारों अनुयोगो का दोहन करके लिखा है। उपर्युक्त समस्या को ही सुलझाते हुए 'समयसार' ग्रन्थाधिराज मे आचार्यदेव स्वय कहते हैं :—

"ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

अर्थात् आत्मा को घट, पट, रथ, कर्म, नोकर्म आदि का कर्त्ता व्यवहार से कहा है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ॥८३॥

अर्थात् निश्चयनय का कथन है कि आत्मा अपने ही भावो का कर्त्ता-भोक्ता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९१॥

अर्थात् आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव का वह कर्त्ता होता है। उस समय पुद्गल द्रव्य स्वय कर्मरूप परिणमन करता है।"

'प्रवचनसार' मे आचार्यदेव कहते है :—

"दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

अर्थात् जैसे द्रव्य स्वभावसिद्ध है, उसीप्रकार सत् भी स्वभावसिद्ध है — ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।"

यही बात आचार्य उमास्वामी 'तत्त्वार्थसूत्र' में इन दो सूत्रो से प्रतिपादित करते हैं :—

"सद् द्रव्यलक्षण[2]" और "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्[3]"।

अर्थात् द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपना है। सत् द्रव्य का स्वभाव है और स्वभाव निरपेक्ष होता है। स्वभाव में किसी भी परपदार्थ की अपेक्षा नही होती। इसप्रकार सामान्य से सभी द्रव्यो का परिणाम (परिणमन) स्वभावसिद्ध निरपेक्ष होने से पुद्गल द्रव्य का परिणाम स्वतःसिद्ध ठहरा।

प्रवचनसार गाथा १६५-१६६ में आचार्यदेव कहते हैं :— परमाणु (अणु) परिणाम स्निग्ध हो या रूक्ष हो, सम अश वाले हों या विषम अश वाले हों, यदि समान से दो अधिक अश वाले हो तो बँधते हैं, जघन्य अश वाले नही बँधते। स्निग्ध रूप से २ अंश वाला परमाणु ४ अश वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बँधता है अथवा रूक्षरूप से ३ अश वाला परमाणु ५ अश वाले परमाणु के साथ युक्त होता हुआ बँधता है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१

[2] तत्त्वार्थसूत्र, पचम अध्याय, सूत्राक २९

[3] तत्त्वार्थसूत्र, पचम अध्याय, सूत्राक ३०

इसीप्रकार का आशय तत्त्वार्थसूत्र के निम्नलिखित सूत्रों से भी प्रकट होता है :–

"द्व्यधिकादिगुणानां तु[1]" "स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः[2]"

(विचारणीय तथ्य यह है कि इन दो अंशो का अंतर देकर कोई अन्य उन परमाणुओ का स्कंधरूप परिणमन करता है या परमाणु स्वयं अपनी योग्यता से इसप्रकार परिणमन करते रहते हैं ?)

वस्तुतः वे परमाणु स्वयं ही अपनी योग्यता से इस प्रकार परिणमन करते रहते हैं। इसलिए प्रवचनसार गाथा १८५ मे जो कहा है :– "जीवो सव्वकालेसु पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि"। 'पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि' का अर्थ है :– 'पुद्गल के मध्य रहता हुआ भी'। तीन लोक मे ऐसा आकाश का कौनसा प्रदेश है जहाँ पुद्गल द्रव्य की २३ प्रकार की वर्गणायें न हो ? सभी वर्गणायें लोकाकाश के प्रदेशों पर ठसाठस भरी पड़ी हैं। जिस आकाश प्रदेश मे असंख्यात प्रदेशी जीव द्रव्य ठहरा हुआ है उसी आकाश प्रदेश में सभी प्रकार की वर्गणायें हैं। जब जीव मोह, राग, द्वेष रूप परिणाम करता है तब उनमे जो अनंत कार्माण वर्गणायें हैं उनमें से कुछ कर्मरूप परिणमन करती हैं, बाकी अनंत कार्माण वर्गणा रूप बनी रहती हैं। कुछ दूसरे समय मे कर्मरूप परिणमन करती हैं, कुछ तीसरे समय मे। यही परिपाटी चलती रहती है।

[इस प्रसंग मे विचारणीय बात यह है कि उसी क्षेत्र में उसी काल जितनी कार्माण वर्गणायें हैं वे सभी एक साथ कर्मरूप परिणमन क्यो नही करती ? इससे ज्ञात होता है कि उन परमाणुओ ने अपनी योग्यता से स्वतंत्र परिणमन करके कार्माण वर्गणारूप परिणमन किया है, जीव उनको कर्मरूप परिणमन नही कराता। जो समय जीव के मोह, राग, द्वेष, रूप परिणमन करने का है, वही समय कार्माण वर्गणा का कर्मरूप परिणमन करने का है, दोनो के परिणमन करने का समकाल है। परन्तु दोनो ही स्व-स्व योग्यता से स्वतंत्र ही परिणमन करते हैं। इसको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी कहते है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध उपादान व निमित्त दोनो की वर्तमान पर्याय मे बनता है। ऐसा कतई नही है कि पहले निमित्त की पर्याय हो, फिर जाकर उपदान मे असर करके उपादान की पर्याय प्रगट करे। दोनो की पर्यायो का एक काल (समकाल) देखकर ज्ञानी अपने ज्ञायक स्वभाव का निर्णय करता है। और अज्ञानी सदा से अपनी कर्तृत्वबुद्धि की पुष्टि करके मिथ्यादृष्टि बना रहता है। इसी भ्रम का निवारण आचार्यदेव करना चाहते हैं। आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते है कि यह जीव निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी पुद्गलादि द्रव्यो का कर्ता नही है :–)

> जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
> जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥[3]

और विशेष विचारणीय बात तो ये है कि इन कार्माणादि वर्गणाओ की रचना किसने की ? जीव से सम्बन्ध तो तब कहने मे आता है जब वह कर्म आदि रूप परिणमन

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, पचम अध्याय, सूत्रांक ३६

[2] तत्त्वार्थसूत्र, पचम अध्याय, सूत्रांक ३३

[3] समयसार, गाथा १००

कर जाती है। तत्पश्चात् उन कार्माण वर्गणाओ का ८ मूल प्रकृति रूप परिणमन होकर बँटवारा होता है कि कितना परमाणु किस प्रकृति को देना। उसमे एक भी परमाणु की भूल नही होती। इसके बाद स्थिति के अनुसार आबाधा काल पडता है। आबाधा काल पूरा होने से पहिले निषेकरचना नही होती, और जब तक निषेकरचना न हो तब तक कर्म उदय मे नही आते। दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडा-कोडी सागर की है, चारित्रमोहनीय की ४० कोडा-कोडी सागरोपमकाल है. तो दर्शनमोहनीय की आबाधा ७०० वर्ष, चारित्रमोहनीय की आबाधा ४०० वर्ष। इसके पूर्व निषेकरचना नही होती। ऐसे आबाधा काल का ख्याल कौन रखता होगा ? फिर १-१ निषेक की स्थिति अपनी-अपनी अलग-अलग है। जैसे दर्शनमोहनीय की स्थिति ७० कोडा-कोडी सागरोपम है तो ७० कोडा-कोडी सागरोपम काल के जितने समय है आबाधा काल के समयो को कम करके बाकी के जितने समय है गिनती के उतने ही निषेक स्वत बन जायेंगे। सब निषेको की स्थिति अपनी अलग-अलग होगी। जिस निषेक की स्थिति पूरी हो जाती है वह निषेक उदय मे आता जाता है, बाकी के बने रहते है। ऐसा नही है कि किसी भी समय मे जो चाहे निषेक उदय मे आ जाय। अत का निषेक तभी उदय मे आयेगा जब उस कर्म की पूरी स्थिति समाप्त होगी। इस तरह बध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थिति कांडक घात, अनुभाग काडक घात आदि होते हैं।

इनकी भी बडी विचित्रता है। जब अपकर्षण करण होता है तब ऐसा नही है कि जितने निपेको का अपकर्षण करना है वे सब एक साथ हो जाएँ। कुछ प्रथम समय मे, कुछ दूसरे समय मे, कुछ तीसरे समय मे आदि, और इन समयो मे कितने निषेक किस समय मे अपकर्षित होना है, उतने ही होगे। जैसे प्रथम १०० निषेक, द्वितीय समय मे ९६, तृतीय मे ९२ आदि निषेक अपकर्षण होकर प्रथम निषेको मे मिलते जाते है। और जिन निषेको मे मिलना है, उन्ही मे मिलेगे, अन्य मे नही। इसका विस्तार यहाँ पर सभव नही है। यह सब व्यवस्था व्यवस्थित है।

तात्पर्य यही है कि छहो द्रव्यो का प्रत्येक समय का परिणमन स्वतत्र है, मात्र सयोग बनते चले जाते है। जीव तो मात्र ज्ञाता है, परन्तु भ्रमवश स्व ज्ञायक स्वभाव को विस्मृत करके परपदार्थों का कर्त्ता मान्यता मे बना है, इसी कारण विभावरूप परिणमन है। जीव को कर्त्ता कहने की जो पद्धति है, वह उपचार मात्र है :—

"जीवम्हि हेदुभूदे बन्धस्स दु पस्सिदूण परिणाम।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण ॥[1]

बध के हेतुभूत जीव के परिणामो को देखकर 'जीव ने कर्म किया' — ऐसा उपचार से कहा जाता है।"

इसप्रकार वस्तु-व्यवस्था के सम्यक् परिज्ञान से सिद्ध होता है कि छहो द्रव्यों का अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावानुसार प्रत्येक समय का परिणमन स्वतत्र है। जीव तो ज्ञायक मात्र है।

---

[1] समयसार, गाथा १०५

समयसार गाथा ७५ मे आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव कर्म-नोकर्म के परिणमन को नही करता, केवल जानता है, वह ज्ञानी है। पर मे कर्तृत्वबुद्धि ही मिथ्यादर्शन है। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य मे कर्त्ता-कर्म कहना व्यवहार-कथन है। यथार्थ कथन नही है। ऐसे व्यवहार-कथन का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन नही होता है। यही बात आचार्यदेव ने समयसार की ११वी गाथा मे कही है :-

ववहारोभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥

अर्थात् निश्चय-व्यवहार के कथन को यथार्थ समझकर अपने ज्ञाता स्वभाव का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। ज्ञायक स्वभाव का निर्णय हुये बिना कर्तृत्वबुद्धि का बीज जलेगा नही। सचमुच कर्तृत्वबुद्धि की सतति का उच्छेद करने मे ही जीव का अनत पुरुषार्थ है। इस निर्णय के बिना पचपरमेष्ठी की भी सच्ची पहिचान नही होती, सात तत्त्वो, छह द्रव्यो का यथार्थ श्रद्धान नही होता, सर्वज्ञ की सर्वज्ञता भी सिद्ध नही हो पाती। और तो क्या, आगम व सिद्धान्त ग्रन्थो का बहुत अध्ययन करने पर भी कर्त्ताबुद्धि – मिथ्या मान्यता का सद्भाव बना ही रहता है।

अतः कर्तृत्वबुद्धि का त्याग कर शक्ति अर्थात् ज्ञाता स्वभाव का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रकट करना प्रथम कर्तव्य है। अत' आचार्यदेव ने अपने ग्रन्थो मे कर्त्ताबुद्धि का नाश करके ज्ञातास्वभावी निज शुद्धात्मा के निर्णय का उपदेश दिया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य अकर्त्ता सिद्धान्त को सिद्ध करता है। इसके समझे बिना ही ससार है। समयसार गाथा ८५ व ८६ मे कर्तृत्वबुद्धि वाले जीव को मिथ्यादृष्टि व जिनेन्द्रमत से बाहर कहा है, चाहे वह श्रावक हो या श्रमण हो।

साराश के तौर पर 'आत्मख्याति' मे समागत आचार्य अमृतचन्द्रदेव का यह ५५वाँ कलश विशेष मननीय है –

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः।
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहकाररूप तमः ॥
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवार व्रजेत्।
तत्कि ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥

'मैं पर द्रव्य का कर्त्ता हूँ' – ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहकार रूप अज्ञानाधकार जो अत्यत दुर्निवार है, वह अनादि काल से चला आ रहा है। यदि भूतार्थ स्वभाव का निर्णय करके, एक वार कर्त्तापने का अभाव हो जाय तो ससार के बधन से सदा के लिए यह जीव छूट जाय।

अतः जीव – चाहे ससारी हो या सिद्ध – सदाकाल से ही परपदार्थ का ज्ञाता मात्र ही है, कर्त्ता नही। □

लेखक-परिचय – उम्र ५२ वर्ष। स्वाध्यायी विद्वान। अभिरुचि अध्ययन, मनन और प्रवचन। सम्प्रति व्यवसाय। सम्पर्क-सूत्र जैनमदिर के पास, कोर्ट रोड, मु०पो० बण्डा बेलई, जिला सागर, मध्यप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द

–डॉ० (श्रीमती) अलका प्रचण्डिया 'दीति'

☐

श्रुत और आचार्य परम्परा के समर्थ आचार्य कुन्दकुन्द दसवें वस्तु अधिकार 'समयपाहुड' के अभिज्ञाता थे। इस अविच्छिन्न ज्ञानामृत प्रवाह मे से समयसार, प्रवचनसार, रयणसार, नियमसार, पचास्तिकाय आदि शास्त्ररत्न प्रकट हुए। आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी एव वैश्य वशज थे। आपके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। जन्म-स्थान था कौण्डकुन्दपुर, इसे 'कुरूमरई' भी कहा गया है। यह स्थान पेदथनाडु नामक जिले मे है। कहा जाता है कि कर्मण्डु दम्पत्ति को बहुत दिनो तक कोई सन्तान नही हुई। तदनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के प्रभाव से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम आगे चलकर उच्चारणमधुरता के कारण 'कौण्डकुन्द' ग्राम के आधार पर 'कुन्दकुन्द' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द उग्रविहारी थे। वे दुर्गम घाटियो और वनो मे भी निर्भीकभाव से विहरण-विचरण करते थे :–

"सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा॥"[1]

वस्तुत कुन्दकुन्दाचार्य के जीवनक्षण हैं बड़े विलक्षण। आध्यात्म शास्त्र के महान् प्रणेता एवं युगसस्थापक आचार्य श्री कुन्दकुन्द के ख्यात और प्रभावपूर्ण जीवन से सदर्भित वृत्त परम्परागत कथाओ से प्राप्त है, जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

ब्रह्म नेमिदत्त के 'आराधना कथाकोश' में शास्त्रदान के फलरूप में एक कथा आई है जो इसप्रकार है :–

भरतक्षेत्र के कुरूमरई ग्राम में एक गोविन्द नाम का ग्वाला रहता था। एक बार उसने जंगल मे एक गुफा मे एक जैनग्रंथ रखा देखा। उसने उसे उठा लिया और पद्मनदि नाम के एक महान आचार्य को दे दिया। उस ग्रंथ की यह विशेषता थी कि आचार्य देखकर अन्त मे उसे उसी गुफा मे रख देते थे। फलतया पद्मनंदि ने भी उस ग्रथ को उसी गुफा मे रख दिया। गोविन्द ग्वाला उसकी प्रतिदिन पूजा किया करता था। एक दिन उसे शेर ने

---

[1] अष्टपाहुड बोधपाहुड, गाथा ४२

खा डाला। वह मरकर निदानवश उसी गाँव के मुखिया के घर उसके पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। बडा होने पर उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और साधु हो गया। वहाँ से मरकर वह राजा कुण्डेश हुआ। वहाँ भी उसने जिनदीक्षा ले ली और श्रुतकेवली हुआ।

ब्रह्म नेमिदत्त से तीन शताब्दी पूर्व हुए प० आशाधर ने 'सागारधर्मामृत' के द्वितीय अध्याय मे शास्त्रदान के फल के रूप मे 'कौण्डेश' का उल्लेख किया है। यथा :–

कौण्डेश. पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम् ।।७०।।

अर्थात् पुस्तको की पूजा और दान की विधि से कौण्डेश श्रुत समुद्र का पारगामी अर्थात् श्रुतकेवली हुआ।

इसकी स्वोपज्ञ सस्कृत टीका मे आशाधर ने कौण्डेश को पूर्व जन्म मे गोविन्द नाम का ग्वाला बतलाया है। वहाँ से मरकर वह ग्रामकूट का पुत्र हुआ और फिर कौण्डेश नाम का मुनि हुआ। यथा –

"तथा कौण्डेशोऽपि गोविन्दाख्यगोपालचरो ग्रामकूटपुत्र· सन् कौण्डेशो नाम मुनिश्च।"

पडित कैलाशचद्र शास्त्री अपने 'जैन साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ९८ पर लिखते हैं –

'इस कथा का कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन से क्या कुछ सम्बन्ध है – यह नही कहा जा सकता। किन्तु 'कौण्डेश' नाम से और उसमे आगत 'पद्मनदि' नाम से उसका सम्बन्ध कुन्दकुन्दाचार्य से ही जान पडता है।"

एक कथा श्रीयुत नाथूरामप्रेमीजी ने 'ज्ञानप्रबोध' नामक पद्यबद्ध भाषा ग्रथ से 'जैन हितैषी' भाग १०, पृष्ठ ३६९ मे प्रकाशित की थी जिसमे कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन-वृत्त मुखर है। कथा इसप्रकार है :–

"मालवा देश के वारापुर नगर मे राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य मे कुन्द श्रेष्ठी नाम का एक वणिक रहता था। उसकी सेठानी का नाम कुन्दलता था। उनके एक पुत्र था। उसका नाम कुन्दकुन्द था। एक दिन वह बालक अपने मित्र बालको के साथ खेलता हुआ नगर उद्यान मे जा पहुँचा। उस समय वहाँ एक मुनिराज पधारे हुए थे। मुनिराज नर-नारियो को उपदेश दे रहे थे। बालक ने उनका उपदेश बडे ध्यान से सुना। बालक उस उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनका शिष्य हो गया। उस समय उसकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी।

मुनिराज का नाम जिनचन्द्र था। उन्होने तेतीस वर्ष की उम्र मे उस कुन्दकुन्द नाम के बालक को आचार्य पद प्रदान किया। आगम ग्रथो का स्वाध्याय करते हुए एक बार आचार्य कुन्दकुन्द को जैन तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध मे कोई शका उत्पन्न हुई। ध्यानस्थ हो एक दिन उन्होने शुद्ध मन-वच-काय से विदेह क्षेत्र मे विराजमान सीमधर स्वामी को नमस्कार किया। उन्हे सुनाई दिया कि समवशरण मे सीमधर स्वामी ने उन्हे आशीर्वाद दिया 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'। समवशरण मे उपस्थित श्रोताओ को बडा अचरज हुआ कि

इन्होंने किसको आशीर्वाद दिया है क्योकि यहाँ उन्हें नमस्कार करनेवाला तो कोई दिखाई नही देता। सीमधर स्वामी ने बतलाया कि उन्होने भारतवर्ष के कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। दो चारण मुनि जो पूर्वजन्म मे कुन्दकुन्द के मित्र थे, कुन्दकुन्द को सीमंधर स्वामी के समवशरण में ले गए। जब वे उन्हे आकाश मार्ग से ले जा रहे थे तो कुन्दकुन्द को मयूर-पिच्छिका गिर गई। कुन्दकुन्द ने गृद्ध के पखो से काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह रहे और उनकी शकाएँ दूर हो गईं। लौटते समय वह अपने साथ एक पुस्तक लाये थे, किन्तु वह समुद्र मे गिर गई। बहुत से तीर्थो की यात्रा करते हुए वे भारतवर्ष लौट आए और उन्होने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया और सात सौ स्त्री-पुरुषो ने उनसे दीक्षा ली।

कुछ समयोपरान्त सघ सहित वह गिरनार पर्वत पर पहुँचे और वहाँ उनका श्वेताम्बरो से विवाद/शास्त्रार्थ हो गया। मध्यस्थ बनाई गई वहाँ की अम्बिकादेवी। देवी की पाषाणमूर्ति मे से निर्घोष हुआ –'सत्य पथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर'। अन्त मे अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदान करके उन्होने सल्लेखनापूर्वक अपना शरीर त्याग दिया।"

इसप्रकार इन कथाओ मे कितना अश सत्य और तथ्यपूर्ण है – यह तो नही कहा जा सकता है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य आध्यात्म के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूतिपरक वाणी ने आध्यात्म के नये क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वो को तर्क-सुसगत परिधान दिया। ☐

लेखिका-परिचय :– उम्र : ३२ वर्ष। शिक्षा : एम. ए (संस्कृत-हिन्दी), पी-एच. डी.। अभिरुचि : कवित्व एव लेखन। सम्पर्क-सूत्र : W/o डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', मगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे ही समर्थ आचार्य थे

आत्मा के प्रति अत्यन्त सजग आत्मोन्मुखी वृत्ति एव शिथिलाचार के विरुद्ध इतना उग्र सघर्ष आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के ही वश की बात थी। आत्मोन्मुखी वृत्ति के नाम पर विकृतियों की ओर से आँख मूंद लेनेवाले पलायनवादी एव विकृतियों के विरुद्ध जिहाद छेडने के बहाने जगतप्रपचों मे उलझ जानेवाले परमाध्यात्म से पराङ्मुख पुरुष तो पग-पग पर मिल जावेंगे, पर आत्माराधना एव लोककल्याण मे समुचित समन्वय स्थापित कर, सुविचारित सन्मार्ग पर स्वय चलनेवाले एव जगत को ले जानेवाले समर्थ पुरुष विरले ही होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे ही समर्थ आचार्य थे, जो स्वय तो सन्मार्ग पर चले ही, साथ ही लोक को भी मगलमय मार्ग पर ले चले। उनके द्वारा प्रशस्त किया वह आध्यात्मिक सन्मार्ग आज भी अध्यात्मप्रेमियों का आधार है।

– आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम, पृष्ठ ११७

द्रव्यानुयोग के पुरस्कर्त्ता श्री कुंदकुंदाचार्य और उनका रचना-संसार

– डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

□

आचार्य कुन्दकुन्द ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के महामनीषी महर्षि थे। श्रमण सस्कृति के समुन्नयन मे आचार्यश्री का अवदान अविस्मरणीय है। दीर्घ तपस्वी, ऋद्धि-धारक और अतिशय ज्ञान-सम्पन्न श्रमण आचार्य कुन्दकुन्द का नामस्मरण विभु वर्द्धमान और गौतम गणधर के उपरान्त ही आज भी किया जाता है। वह मगलस्तवन द्रष्टव्य है.–

"मंगलं भगवदो वीरो, मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुन्दाई, जेण्ह धम्मोत्थु मगलं ॥"

जिसप्रकार करणानुयोग के साहित्य-सृजन का आद्यश्रेय आचार्य गुणधर और भूतवली-पुष्पदत को है, उसीप्रकार द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य-प्रणयन का श्रेय भगवत्कुदकुदाचार्य को है। वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द द्रव्यानुयोग – अध्यात्म और तत्त्वज्ञान – के पुरस्कर्त्ता हैं।

विन्ध्यगिरि के एक शिलालेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्ददेव को चारण ऋद्धि प्राप्त थी, जिसके द्वारा वह भूमितल से चार अगुल ऊपर आकाश मे गमन करते थे –

"रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्वाह्येपि संव्यञ्जयितु यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥[1]

अर्थात् यतीश्वर (श्रीकुन्दकुन्द स्वामी) रज:स्थान – भूमितल को छोडकर चार अगुल ऊपर आकाश मे गमन करते थे। अन्तरग मे वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और वाह्य मे धूल से अस्पृष्ट थे।"

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्वन्ध मे यह भी अनुश्रुति प्रचलित है कि वह विदेह क्षेत्र मे वर्तमान तीर्थङ्कर सीमन्धर भगवान के समवशरण मे गए थे और उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण लाभ किया था। देवसेनाचार्य ने भी अपने 'दर्शनसार' (वि० स० ९९०) की निम्नलिखित गाथा में कुन्दकुन्द (पद्मनदि) के सीमधर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त करने की वात लिखी है। यथा :–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥[2]

[1] जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, विन्ध्यगिरि शिलालेख, पृष्ठ १९७-१९८

[2] दर्शनसार, गाथा ४३

अर्थात् महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थङ्करदेव श्री सीमधर स्वामी से प्राप्त किए हुए दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्ग को कैसे जानते ?"

आचार्य कुन्दकुन्द का दीक्षाकालीन नाम पद्मनदी था। यथा –

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनंदिप्रथमाभिधानः।
श्रीकौडकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥[1]

परन्तु ये 'कोण्डकुन्दाचार्य' अथवा 'कुन्दकुन्दाचार्य' के नाम से ही अधिक विख्यात हुए जिसका कारण कोण्डकुन्दपुर के अधिवासी होना रहा है। 'कुन्दकुन्दान्वय' नाम से आचार्य परम्परा का सूत्रपात हुआ जो एक नही, अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त होकर दूर-दूर तक फैला। उत्तरकालीन प्रायश. सभी आचार्यों ने स्वय को 'कुन्दकुन्दान्वय' का बताते हुए गौरव का अनुभव किया है।

आचार्य कुन्कुन्द ने भरतक्षेत्र मे श्रुत की – जैन आगम की – प्रतिष्ठा की है। उसकी मान्यता एव प्रभाव को स्वयं के आचरणादि द्वारा उच्चाशय पर पहुँचाया। आगम के अनुसार चलने को खास महत्त्व दिया है। यथा –

"वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥[2]

अर्थात् कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएँ विभूषित हुँ है, जो चारणों के चारण ऋद्धिधारी महामुनियो के कर-कमलो के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र मे श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वद्य नही है।"

पद्मनदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य – ये पाँच नाम आचार्य कुन्दकुन्द के अनेक ग्रथो मे उल्लिखित है। 'अभिधानराजेन्द्रकोश' (३–५७७) मे कुन्दकुन्दाचार्य की विद्यमानता तथा उक्त पाँच नामो की चर्चा द्रष्टव्य है। मात्र 'पद्मनदि' के स्थान पर 'मदननदि' नाम का उल्लेख है। इतना स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के दो नामो की प्रवृत्ति तो वीकृत है, पर शेष तीन नामो के सन्दर्भ में विवाद है। 'बारस अणुवेक्खा' में उन्होंने अपर नाम 'कुन्दकुन्द' ही वर्णित किया है। यथा –

इदि णिच्छयववहारं जं भणिदं 'कुन्दकुन्द मुणिणाहे'।
जो भावदि सुद्धमणो सो पावदि परमणिव्वाणं ॥[3]

---

[1] जैन शिलालेखसग्रह, प्रथम भाग, चन्द्रगिरि शिलालेख, पृष्ठ २४

[2] जैन शिलालेखसग्रह, प्रथम भाग, चन्द्रगिरि शिलालेख, पृष्ठ १०२

[3] बारस अणुवेक्ख गाथा ९१

'बोधपाहुड' मे आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य बताया है – '.......सीसेण य भद्दबाहुस्स[1]', साथ ही अन्यत्र उन्होने भद्रबाहु को अपना 'गमक गुरु' स्वीकार किया है, यथा :–

सुदणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवदो जयओ ।[2]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य अपने ग्रथ 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', भाग २, पृष्ठ १०३ पर कुन्दकुन्द के गुरु का नाम 'जिनचन्द्र' अनुमानित करते है। वस्तुत' आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के परम्परा-शिष्य थे।

'समयसार' की भूमिका पृष्ठ ३ से ५ मे पण्डित बलभद्र ने उनके वैराग्यमय जीवन का अद्भुत इतिवृत्त सक्षेप मे इसप्रकार अभिव्यञ्जित किया है –

"आपने ग्यारह वर्ष की अल्पायु मे ही श्रमण मुनि दीक्षा ली तथा ३३ वर्ष तक मुनिपद पर रहकर ज्ञान और चारित्र की सतत साधना की। ४४ वर्ष की आयु मे (ई० पू० ६४) चतुर्विध (श्रमण, श्रमणी और श्रावक, श्राविका) सघ ने उन्हे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। वह ५१ वर्ष १० मास १५ दिन इस पद पर विराजमान रहे। उन्होने ९५ वर्ष १० मास १५ दिन की दीर्घायु पायी और ई० पू० १२ मे समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।"

आचार्य कुन्दकुन्ददेव चौरासी पाहुड ग्रथो के प्रणेता रूप मे प्रसिद्ध हैं। आपके प्राकृत दिगम्बर जैन वाङ्मय मे सबसे अधिक ग्रथ उपलब्ध है। आप प्राकृत तथा सस्कृत भाषा के अभिज्ञाता थे। आपकी सभी रचनाएँ शौरसैनी प्राकृत मे प्रणीत हैं। यहाँ आपके रचना-ससार का परिचय देना हमे इप्सित है। यथा –

प्रवचनसार :– आचार्य कुन्दकुन्द का यह ग्रथ प्रमुख है और महनीय भी। इसका विषय ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र रूप तत्त्वत्रय के विभाग से तीन अधिकारो मे विभक्त है। आपका यह ग्रथ अपने विषय का प्रामाणिक है। अमृतचद्राचार्य की टीकानुसार प्रवचनसार मे २७५ गाथाएँ हैं जबकि जयसेनाचार्य की टीका के पाठानुसार गाथाओं की सख्या ३१७ हैं। वस्तुत जैनधर्म का मर्म और तत्त्वज्ञान समझने-समझाने के लिए यह ग्रन्थ उपादेय भी है।

समयसार :– यह ग्रथ आत्मवैभव का जीवन्त प्रतीक है। आत्मधर्म का प्रतिनिधि ग्रथ है और है जैनदर्शन का प्राण। इसमे महामनीषी की स्वानुभूति तथा उसके स्वरूपाचरण का दिव्य उद्घोष है। यह अध्यात्म ग्रथ आत्मानुभूति का दिव्य और भव्य प्रकाश लिए हुए है। यह भेदविज्ञान का निरूपण करता है। दस अधिकारमे विभक्त इस उत्तम ग्रथ के सम्यक् पारायण से हर व्यक्ति अपना आत्मकल्याण करने मे समर्थ हो सकता है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीकानुसार इस ग्रथ मे ४१५ गाथाएँ और आचार्य जयसेन की टीकानुसार इसमें ४३९ गाथाएँ है।

---

[1] अष्टपाहुड बोधपाहुड, गाथा ६१

[2] अष्टपाहुड बोधपाहुड, गाथा ६२

पंचास्तिकायसंग्रह :– यह ग्रथ अखिल जैन समाज मे आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इस ग्रथ मे कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश नाम के पाँच द्रव्यो का सविशेषरूप से वर्णन निरूपित है। जैनदर्शन का यह ग्रंथ प्रामाणिक है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एव सत्ता का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रथ मे हुआ है। यह ग्रन्थ दो अधिकारो मे विभक्त है। अमृतचन्द्राचार्य की टीकानुसार इसमें १७३ गाथाएँ है और जयसेनाचार्य की टीका के पाठानुसार गाथाओं का कुल क्रमाङ्क १८१ है। यह ग्रथ तत्त्वज्ञान के समझने मे बडा उपयोगी है।

नियमसार – इस आध्यात्मिक ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को नियम से मोक्षप्राप्ति का मार्ग कहा है। अतएव मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप-कथन करते हुए उनके अनुष्ठान का तथा उनके विपरीत मिथ्यादर्शनादि के त्याग का विधान है। इस ग्रन्थ की एकमात्र सस्कृत टीका पद्मप्रभमलधारिदेव की उपलब्ध है। उसके अनुसार इस ग्रन्थ की गाथा सख्या १८७ है।

रयणसार – इस ग्रंथ मे गृहस्थो तथा मुनियो के रत्नत्रय धर्म सम्बन्धी कुछ विशेष कर्त्तव्यों का उपदेश तथा उनकी उचित-अनुचित प्रवृत्तियो के कतिपय निर्देशो का निरूपण है। इस ग्रथ की पद्य सख्या १६७ है। शुद्धात्मोपलब्धि ही इस ग्रथ के सम्पूर्ण कथन का मुख्य लक्ष्य है। वस्तुत: यह श्रावक और मुनि दोनो की जीवनशुद्धि का उद्बोधक ग्रथ है। कुछ विद्वान इस कृति को कुन्दकुन्द-कृत नही स्वीकारते।

बारस अणुवेक्खा – इसमें अध्रुव (अनित्य), अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधिदुर्लभ नाम की बारह भावनाओ का ९१ गाथाओ मे सुन्दर वर्णन है। ससार से विरक्ति के लिए यह रचना अत्यन्त उपादेय है।

इनके अतिरिक्त दसणपाहुड (३६ गाथाएँ), चारित्रपाहुड (४४ गाथाएँ), सुत्त-पाहुड (२७ गाथाएँ), बोधपाहुड (६२ गाथाएँ), भावपाहुड (१६३ गाथाएँ), मोक्खपाहुड (१०६ गाथाएँ), लिंगपाहुड (२२ गाथाएँ), शीलपाहुड (४० गाथाएँ), सिद्धभक्ति (१२ गाथाएँ), श्रुतभक्ति (११ गाथाएँ), चारित्रभक्ति (१० अनुष्टुप छद), योगि (अनगार) भक्ति (२३ गाथाएँ), आचार्यभक्ति (१० गाथाएँ), निर्वाणभक्ति (२७ गाथाएँ), पच गुरुभक्ति (पद्याक ७), थोस्सामि थुदि (पद्याक ८) और मूलाचार एव तिरुक्कुरल आदि अन्य अनेक रचनाएँ आचार्य कुन्दकुन्द की उल्लेखनीय है। कतिपय विद्वानो की मान्यता है कि मूलाचार और तिरुक्कुरल रचनाएँ आचार्य कुन्दकुन्द-कृत नही है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्मरसिक और आत्मानुभवी थे। आचार्य कुन्दकुन्ददेव का रचना-संसार उनके सहजानन्द की अद्भुत अभिव्यञ्जना है। उसमे आत्मानुभूति का अमृतार्णव छलकता है। वस्तुत. अपूर्व पाण्डित्य-मंडित, शास्त्र-ग्रथन-प्रतिभाधारी एव सिद्धान्त-साहित्य के प्ररूपक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान श्रमण-परम्परा मे महनीय और वदनीय है। □

लेखक-परिचय – उम्र : ३७ वर्ष। शिक्षा : एम. ए. (स्वर्णपदक प्राप्त), पी-एच. डी., डी. लिट् के शोध मे प्रवृत्त। कवि, लेखक और समीक्षक। सम्पर्क-सूत्र – मंगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द का स्वामी तारण-तरण पर प्रभाव

– दिनेशकुमार जैन

□

जैन संत निज कल्याण के साथ-साथ प्राणिमात्र के कल्याण के लिए एवं अक्षय सुख प्राप्त करने के लिए जन सामान्य को मार्ग बताते है। ऐसा करने से स्वरूप की प्राप्ति होकर नर से नारायण बनने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म विक्रम की प्रथम शताब्दी मे आज से लगभग दो हजार वर्ष पहिले कर्नाटक प्रान्त मे हुआ था। जिस स्थान पर उनका जन्म हुआ था, उसे कौण्डकुन्दपुर के नाम से जाना जाता था। इससे अधिक जानकारी उनके पारिवारिक जीवन की उपलब्ध नही है। कुन्दकुन्द स्वामी के समयसार के भाव को आचार्य अमृतचद्र ने कलशो के द्वारा अधकार मे पूर्णमासी के चन्द्रमा-सा प्रकाश प्रदत्त किया।

सोलवी सदी के संत तारणतरण स्वामी पर आचार्य कुन्दकुन्द की गहरी छाप थी। तारण-तरण स्वामी के साहित्य मे अनेक पद्य कुन्दकुन्द की गाथाओ की छाया से प्रतीत होते है।

समयसार गाथा ३८ मे कुन्दकुन्द स्वामी कहते है :–

"अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥

निश्चय से मै एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, किंचित्मात्र भी अन्य परमाणु मात्र भी परद्रव्य मेरा नही है।"

तथा ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ४४ मे तारण स्वामी कहते हैं :–

"ममात्मा ममलं शुद्धं ममात्मा शुद्धात्मनम्।
देहस्थोऽपि अदेही च ममात्मा परमात्म ध्रुवम्॥

मेरा यह ध्रुव आत्मा अत्यन्त अमल है, पूर्ण शुद्ध है। देह मे विराजमान यह मेरा आत्मा स्वय अदेही है और स्वय परमात्मा है।"

'पडित पूजा' की १२वी गाथा मे भी वे यही कहते हैं :–

"शुद्धात्मा चेतना भाव, शुद्ध दृष्टिसमं ध्रुव।
शुद्ध भावथिरी भूत्वा, ज्ञान स्नान पंडिता॥

शुद्धात्मा चेतना भावरूप है, सदा शुद्ध सम्यक्त्व रूप ही है। इस शुद्ध भाव मे जो स्थिर होते है, वही पण्डितो का ज्ञान स्नान है।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्ममय ग्रन्थो की रचना की। तारण स्वामी के ग्रन्थो मे भी अध्यात्म की प्रमुखता के साथ-साथ सदाचार की चर्चा है।

पचास्तिकायसग्रह गाथा १२८ से १३० मे कुन्दकुन्द आचार्य दर्शाते हैं कि जो वास्तव मे ससारस्थित जीव है, उससे परिणाम होता है, परिणाम से कर्म और कर्म से गतियो में गमन होता है। गति-प्राप्त को देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती है, इन्द्रियो से विषय-ग्रहण और विषय-ग्रहण से राग अथवा द्वेष होता है। ऐसे भाव-ससार-चक्र मे जीव को अनादि-अनत अथवा अनादि-सात होते रहते हैं, ऐसा जिनवरों ने कहा है :—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दो सोवा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्भि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

तारण स्वामी ने भी 'ज्ञानसमुच्चयसार' मे कहा है —

अनादि काल भ्रमणं च, कुज्ञानं पश्यते वटु।
ज्ञानं तत्र न दिष्टंते, कोशी उदय भास्करं ॥१९॥

यह अज्ञानी प्राणी अनादि काल से ससार के अँधेरे में भ्रमण कर रहा है। इसे मिथ्याज्ञान ही दीखता है, वहाँ उसे सम्यग्ज्ञान नही दिखलाई पड़ता है, जैसे बंद घर के भीतर सूर्य का दर्शन नही हो सकता है।

उपर्युक्त सदर्भों से यह स्पष्ट है कि इस संसार में परिभ्रमण का कारण हमारे भाव व अज्ञान है। इन गाथाओं से हम सीख लेकर अज्ञान अन्धकार को मिटाकर ज्ञान-सूर्य का उदय कर ससारचक्र से मुक्त होने का पुरुषार्थ करें।

इसप्रकार हम देखते हैं कि सत तारणतरण पर कुन्दकुन्द की पूरी छाप थी। तारणतरण स्वामी ने कुन्दकुन्दाचार्य को बहुत गहराई से पढ़ा था। तभी वे स्वयं तरे और भव्य जीवों को तारने मे निमित्त बने। यदि हम अभी इस द्विसहस्राब्दी समारोह के निमित्त से ही कुन्दकुन्द को कुछ पढ़ें-लिखें तो निःसंदेह हम भी तारणतरण की भाँति तरणतारण बन सकते हैं। □

लेखक-परिचय :— उम्र : ४१ वर्ष। शिक्षा : विज्ञान एवं विधि स्नातक। सम्प्रति : आयकर सलाहकार एवं विधि व्यवसायी। सम्पा० जैन युवा फेडरेशन शाखा सागर के उपाध्यक्ष, नगर के विभिन्न ट्रस्टों के ट्रस्टी। सम्पर्क-सूत्र : ५१, [illegible] नाका, सागर — ४७०००२, मध्यप्रदेश।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य कथा

— पण्डित विनोद जैन

□

कुदकुद को नमस्कार कर उनकी कथा सुनाता हूँ।
अति अल्पज्ञ मूढमति मैं सूरज को दीप दिखाता हूँ ॥ १ ॥

कन्नड प्रान्त बडा दक्षिण मे कोडकुन्द था नगर अपूर्व ।
कुन्दकुन्द ने जन्म लिया था दो हजार वर्षों के पूर्व ॥ २ ॥

बजी बधाई घर आँगन मे दूर शोक दुख दर्द हुआ।
माता मद मद मुस्काई पिता हृदय आनन्द हुआ ॥ ३ ॥

मात-पिता के लाड प्यार से घुटनो के बल खडे हुए।
बचपन क्रीडा करते बीता धीरे-धीरे बड़े हुए ॥ ४ ॥

अक्षरज्ञान आरभ किया फिर क्रम-क्रम से विद्या पाई।
सब प्रकार से शिक्षित होकर तत्त्वज्ञान की रुचि आई ॥ ५ ॥

अविवाहित रहने का निश्चय कर आत्मसाधना है जागी।
प्राणिमात्र को सुख पहुँचाने की मधुर कामना है जागी ॥ ६ ॥

अणुव्रत धारण कर क्रम-क्रम से व्रत सयम से प्यार किया।
श्रेष्ठ महाव्रत धारण करके मुनिव्रत अगीकार किया ॥ ७ ॥

एक दिवस बैठे जगल मे घोर तपस्या मे लवलीन।
कंचन-सी काया तपती थी आत्मध्यान मे थे तल्लीन ॥ ८ ॥

उसी समय इक पूर्वजन्म का भ्राता व्यन्तर देव आया।
देख तपस्या भूमि पर श्रद्धा से अपना सिर नाया ॥ ९ ॥

ध्यान पूर्ण होने पर मुनि ने जब अपनी आँखे खोली।
देखा देव पास बैठा है बोले तब मीठी बोली ॥१०॥

धर्मवृद्धि हो धर्मवृद्धि हो धर्मवृद्धि हो तुम हो कौन ?
गद्‌गद् होकर पुलिकत-पुलिकत तोडा तब उसने निज मौन ।।११।।

नमस्कार कर भाव भक्ति से पूर्व जन्म का दे परिचय ।
"पिछले भव मे तुम भाई थे क्षमा करे मेरी अविनय ।।१२।।

सीमधर स्वामी के दर्शन को विदेह मे जाता हूँ ।
यही प्रार्थना चले आप भी सविनय मैं ले चलता हूँ" ।।१३।।

चिर इच्छा साकार हुई मुनिवर ने स्वर्ण समय जाना ।
बोले श्री जिनवाणी सुनकर मुझे यही वापिस आना ।।१४।।

मुनिवर को लिया साथ फिर आकाश मार्ग से गमन किया ।
और तीव्र गति से उड करके विदेह क्षेत्र का भ्रमण किया ।।१५।।

सीमधर के समोशरण को देखा मन मे हर्षाये ।
जन्म-जन्म के पातक छूटे अक्षय ज्ञान खण्ड पाये ।।१६।।

सीमधर प्रभु के चरणो मे झुककर किया विनय वदन ।
प्रभु की शात मधुर छवि लख कर धन्य हुआ भारतनन्दन ।।१७।।

प्रभु की निर्मल वाणी सुनकर दिव्यधुनि आनद लिया ।
भरी सभा सहित रचना मे प्रभु दर्शन आनन्द लिया ।।१८।।

प्रभु से प्रश्न हुआ – 'लघु मुनिवर कौन कहाँ से है आये ?'
खिरी दिव्य-ध्वनि – 'कुदकुद मुनि भरत क्षेत्र से है आये' ।।१९।।

सीमधर ने दिव्य-ध्वनि मे कुदकुद का नाम लिया ।
जन्म-जन्म के पातक नाशे मुनि ने विनय प्रणाम किया ।।२०।।

विनयी होकर कुन्दकुन्द ने जिनवाणी का पान किया ।
जीवन में आध्यात्मिकता के सवेदन का ज्ञान किया ।।२१।।

आठ दिवस रह समवशरण मे तत्त्वज्ञान विज्ञान सुना ।
धन्य धन्य समझा निज मन मे, आत्मज्ञान महाज्ञान सुना ।।२२।।

हृदयगम कर ली जिनवाणी कुन्दकुन्द को ज्ञान मिला ।
जैसे प्यासे को सरिताजल भूखे को भोजनदान मिला ।।२३।।

अक्षय ज्ञान दिव्य मन मे भरि और हृदय मे प्रभु का नाम ।
सीमधर प्रभु के चरणो मे करके वारंबार प्रणाम ।।२४।।

तब विदेह से चले मुनि अरु दक्षिण भारत में आये ।
सीमधर के उपदेशो का सागर मन मे लहराये ।।२५।।

जो सुनकर आये जिनवाणी फिर उसको लिपिबद्ध किया।
जगत जीव कल्याण करें निज ऐसा शास्त्र स्वरूप दिया ।।२६।।

कितने ग्रंथ लिखे हैं मुनिवर ज्ञान नही है हमको आज।
जो उपलब्ध आज इस युग मे मुमुक्षु पचो के सरताज ।।२७।।

जन-जन की वाणी कल्याणी धन्य हुई प्राकृत भाषा।
मोक्षमार्ग को एक बताया सफल हुई सबकी आशा ।।२८।।

गागर मे सागर भरि तुमने जीवो का कल्याण किया।
किन्तु नही अपने मन मे तुमने कुछ ऐसा मान किया ।।२९।।

जीव अजीव आस्रव बध संवर निर्जर मोक्ष महान्।
सात तत्त्व श्रद्धा के लायक 'दसण मूलो धर्म' महान ।।३०।।

सच्चा तत्त्व निर्णय करके जीवन सफल बनाओ तुम।
सम्यक् श्रद्धा के द्वारा ही शीघ्र मोक्षफल पाओ तुम ।।३१।।

शुभ अरु अशुभ भाव को समझो दोनों ही ये आस्रव जान।
पाप पुण्य दोनो से ही तो जीव हो रहा है बदनाम ।।३२।।

अशुभ त्याग कर शुभ मे आओ शुभ को भी तज शुद्ध बनो।
संवर के द्वारा कर्मों को तजो करो निर्णय अरु बुद्ध बनो ।।३३।।

मोक्षतत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ है यदि तुम इसको पा लोगे।
जीवन मरण जगत मे कारण से छुटकारा पा लोगे ।।३४।।

अजर अमर अविकल अविनाशी सिद्ध स्वरूप तुम्हारा है।
भूले हो तुम निज स्वरूप को, क्या ये कभी विचारा है ।।३५।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित सबने अब तक अपनाया है।
भवसागर से पार उतरने का बस यही किनारा है ।।३६।।

पद्मनदि आचार्य और है ऐलाचार्य आपका नाम।
गृद्धपिच्छ है वक्रग्रीव है कुन्द कुन्द हैं गुण के धाम ।।३७।।

भक्तिभाव के सुमन तुम्हारे चरणो मे अर्पित हैं देव।
भव्य भावना चाहूँ एक दिन मैं सर्वज्ञ बनूं स्वयमेव ।।३८।। □

लेखक-परिचय : उम्र : ३६ वर्ष। अभिरुचि आध्यात्मिक लेखन व प्रवचन। सम्प्रति : निजी व्यवसाय . सनमाइका, हार्डबोर्ड, डनलप आदि के विक्रेता। अ० भा० जैन युवा फैडरेशन शाखा के उपाध्यक्ष एव श्री वीतराग-विज्ञान पाठशाला के मंत्री। सम्पर्क-सूत्र C/o सनमाइका एम्पोरियम, बी० जी० रोड, जय स्तम्भ चौराहा, गुना – ४७३००१, मध्यप्रदेश।

जिन-अध्यात्म और कुन्दकुन्दाचार्य

—सौ० पोसेरिया चन्द्रिका जैन

□

लोक मे अध्यात्म, दर्शन एव धर्म की जो-जो परिभाषाएँ और मान्यताये प्रचलित हैं, उन सभी का प्रयोग वस्तुत: सभ्यता, सस्कृति, सस्कार, भौतिकविज्ञान के साँचे मे ढालकर किया जाता है, उनका सबध मात्र जगत और परपदार्थो तक ही सीमित होता है।

जिनअध्यात्म को समझ पाना जितना कठिन, है उसकी परिभाषा कर पाना भी उतना ही कठिन है। जिन-अध्यात्म कहो या भेदविज्ञान कहो या जैनदर्शन कहो या वीतराग-विज्ञान कहो, सब पर्यायवाची है। सर्वज्ञ और सर्वज्ञस्वभावी ज्ञायक निज भगवान आत्मा ही जिन-अध्यात्म के आधार हैं। सर्वज्ञ जैनधर्म का मूल है और सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का आश्रय उस सर्वज्ञता को प्राप्त करने का उपाय है। मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत सात तत्त्वो का सम्यक् ज्ञान स्व-पर के भेदज्ञान का मुख्य कारण है।

तत्त्वार्थसूत्र मे भी सात तत्त्वो का वर्णन है और समयसार मे भी, परन्तु तत्त्वार्थसूत्र आगम है और समयसार परमागम, क्योकि समयसार मे भेदज्ञान की मुख्यता से प्रतिपादन है और तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वो की जानकारी देने की दृष्टि से ज्ञानपरक प्रतिपादन है।

समयसार की पूर्वरग की ३८ गाथाओ मे जीव का स्वरूप बताया है। वैसे तो पूरा समयसार ही जीव को जानने के लिए लिखा गया है, पर प्रथम अधिकार का तो नाम ही जीवाजीवाधिकार है।

छठवी गाथा की नीव पर ही पूरा समयसार का महल खड़ा है। जीव-अजीव का वर्णन करने के बाद एकदम कर्ता-कर्म अधिकार लिखा। क्रम मे तो आस्रव अधिकार लिखा जाना चाहिए था, पर ऐसा क्यो नही किया? समाधान यह है कि जब तक जीव, पर से कर्त्ता-कर्म की मान्यता का विष वमन नही करेगा, तब तक आस्रव से निर्वृत्त नही हो सकता; अत. आस्रव तत्त्व का क्रमप्राप्त कथन न करके पहिले कर्त्ता-कर्म अधिकार लिखा, क्योंकि जीव की अनादि से कर्त्ता-कर्म के विषय में उल्टी मान्यता पड़ी है।

इसीप्रकार पुण्य-पाप अधिकार को भी बीच मे लेना पडा; क्योंकि अज्ञानी शुभ को सुशील मानता है और अशुभ को कुशील, जबकि दोनो संसार मे ही रखते हैं। पहले इस मिथ्या कल्पना को दूर करना चाहिए। फिर आस्रवतत्त्व का वर्णन किया है। फिर

आस्रवतत्त्व के बाद बधतत्त्व का वर्णन न करके एकदम सवर-निर्जरा तत्त्वो का वर्णन कर दिया है – ऐसा क्यो ?

क्योकि आस्रव के बीच मे ही सवर-निर्जरा की उत्पत्ति हो जाये तो बध होगा ही नही, होगा तो अल्प ससार का; इसलिए बधतत्त्व के पहिले सवर तत्त्व का निरूपण किया है। और बधतत्त्व मे भावबध का कथन है। वहाँ भी विपरीत मान्यता को ही बध का कारण सिद्ध किया है। फिर बध के बाद मोक्ष का कथन किया है जिसमे बध से मुक्ति पाने के लिए अर्थात् बध-मोक्ष का द्विविधाकरण करने के लिये प्रज्ञाछैनी को ही बताया है। मोक्ष का उपाय मोक्षस्वरूपी आत्मा का अनुभव करना जिसे सर्वविशुद्धि द्वार मे खूब ही खोला है।

देखो, समयसार शुद्धात्मा (छठवी गाथा) से शुरू हुआ और वही शुद्धात्मा के वर्णन पर समाप्त हुआ है। जैसे जिसे मूल बात प्रारम्भ मे बताई हो आखिर मे आते-आते कही भूल न जाये, एतदर्थ फिर उसे दृढता से मजबूत कर दिया। यह है भगवान कुन्दकुन्द के निरूपण की विशेषता।

कर्ता-कर्म अधिकार की १००वी गाथा हम जैनियो की धुँधली प्रज्ञाचक्षु खोलने के लिए ही है। जो निमित्त-निमित्त की रट लगाकर जैन सिद्धान्तो की दुहाई देकर कर्ता-कर्म मानते आ रहे है, उनसे कहते हैं कि –

द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नही है, परन्तु पर्यायदृष्टि से, किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है, इसलिये इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्यो के परिणामो के निमित्त कर्ता कहलाते हैं। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामो का कर्ता है। अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नही होता। तात्पर्य यह है कि अपने विकल्प को और अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता भले ही हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो निमित्तरूप से भी कदापि नही है।

नयो के बिना जिन अध्यात्म को समझा ही नही जा सकता। नयातीत हुए बिना अध्यात्म को पाया भी नही जा सकता है। इसके लिए कर्ता-कर्म अधिकार की अतिम गाथा मे लिखते है :–

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है॥

अनादिकाल से इसी भूल के कारण अपने दु खो का कर्ता पर को मानकर आप निर्दोष रहना चाहता है। इसके लिए प० बनारसीदासजी 'समयसार नाटक' के मोक्षद्वार मे अपराधी-निरपराधी की व्याख्या करते हुए कहते हैं :–

जाकै घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव॥२५॥
अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध।
पर कौं मानै आतमा, करै करम कौ बंध॥२६॥
झूठी करनी आचरै, झूठे सुख की आस।
झूठी भगति हिए धरै, झूठे प्रभु कौ दास॥२७॥

तथा निरपराधी की व्याख्या करते हुए आगे लिखते है कि –

जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ग्यानकला घट मांहि ।
परचै आतमराम सौं, ते अपराधी नांहि ।।२८।।

पडित दीपचदजी शाह 'भावदीपिका' मे कहते है कि सात तत्त्वो के अयथार्थ श्रद्धान से ही ससार है और सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान से मोक्ष ।

प्रवचनसार मे ज्ञान और ज्ञेय की स्वतन्त्रता एव उनके परिणमन की स्वतन्त्रता बतलाई है । द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप का वर्णन कर ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन अधिकार के शुरू मे गाथा ९३ मे हमारे बहिरात्मपने को छुडाने का प्रयत्न किया है ।

ज्ञानतत्वप्रज्ञापन को जानने का सार प्रवचनसार की ८०वी गाथा है । अरहंतदेव के स्वरूप को जाननेवाला आत्मा को जानता है । जिसने अपने आत्मा को नही जाना, उसने अरहत को जाना ही नही ।

इस गाथा मे तो मोह के नाश का उपाय खोल दिया है । जब यह जीव आत्मा को जानता है तो दोनो में निश्चय से अन्तर नही है । स्वत.विशुद्ध निज आत्मा को खयाल मे लेने पर, सर्वत:विशुद्ध भगवान अरहत मे जीव तीनो प्रकार-युक्त द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को अपने मन से जान लेता है ।

यथा . "यह चेतन है"– इसप्रकार अन्वय यह द्रव्य है । अन्वय के आश्रय रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय की मर्यादा वाला काल परिमाण होने से परस्पर अन्वय-व्यतिरेक वे पर्यायि है । आचार्य बड़ी दृढता से कहते है कि 'यदि मैंने ऐसा अनुभव कर लिया है तो मोह की सेना जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है, मैंने चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया है' ।

ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के बाद चरणानुयोगसूचक चूलिका मे मोक्ष के साक्षात् कारण शुद्धोपयोगरूप चारित्र की अन्तर्बाह्य दोनो दशाओ का बोध कराया है ।

जिन-अध्यात्म मे त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक कारण परमात्मा परम पारिणामिक भाव के आश्रय से ही जीव की प्रसिद्धि होती है अर्थात् सच्चे अविनाशी परमपद की प्राप्ति होती है । जीव को एकमात्र यही सुख का कारण है ।

जिन-अध्यात्म और कुन्दकुन्दाचार्य का शुभ स्मरण करने के साथ-साथ उन सद्गुरुदेव का महान-महान परमोपकार भी स्मरण आता है, जिनके प्रसाद से वर्तमान युग ने इन दोनो को समझा है । भगवान आत्मा को भगवान कहनेवाले इस युग के महापुरुष धन्य है और जो भव्यात्माये इस पर श्रद्धा करती हैं वे भी जयवन्त है । ☐

लेखिका-परिचय – उम्र ६६ वर्ष । शिक्षा . मैट्रिक, जैन-धर्म विशारद । अभिरुचि · परमागम का अध्ययन एव प्रवचन । श्री वीतराग-विज्ञान पाठशाला मे अध्यापिका के रूप मे नि शुल्क सेवाएँ । विदेश यात्रा मे भी धर्म प्रचार में ही अधिक सक्रिय । सम्पर्क-सूत्र W/o श्री शान्तिलाल जैन, पोसेरिया निकेतन, २०/३ नॉर्थ न्यू राजमोहल्ला, इन्दौर, मध्यप्रदेश ।
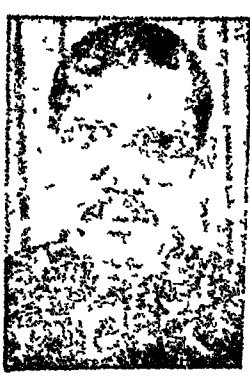
आचार्य कुन्दकुन्द और उनका 'अष्टपाहुड'

– लालाराम साहु मधुप

केवलियो और श्रुतकेवलियो के उत्स से प्रवाहित अखण्ड जिनशासन की परम पावनी स्रोतस्विनी ज्ञान-गगा को अपनी समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, रयणसार, मूलाचार, अष्टपाहुड, द्वादशानुप्रेक्षा और दसभक्ति आदि पाहुड ग्रन्थो रूपी जटाओ मे आत्मसात करके शिव की तरह भव-आताप से सताये जीवो के कल्याण के लिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भागीरथी गगा वहाने वाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जैन आचार्यो की अध्यात्म-परम्परा मे सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

धर्मतीर्थ के सवर्द्धक अगणित ऋषिगणो मे अग्रणी कुन्दकुन्दाचार्यदेव का शासन इस पचमकाल मे साक्षात् तीर्थकर भगवान महावीर के समान और उनकी वाणी साक्षात् केवली परमात्मा के समान हमारे लिये मगलदायी है। अध्यात्म और आगम, निश्चय और व्यवहार, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का सम-सेतु निर्मित करनेवाली अपनी आत्मोन्मुखी सिद्धात-प्रतिपादक ग्रन्थ-शैली के कारण उन्हे प्रधान पूज्य व प्रमाण कोटि मे भगवान महावीर तथा गौतम गणी के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है –

मंगलं भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोस्तु मगलम्॥

कुन्दकुन्दाचार्य ने भगवान महावीर के उपदेश को यथासूत्र लोकजीवन मे चरितार्थ करने के लिए तात्कालिक जनभाषा प्राकृत मे लगभग चौरासी पाहुड ग्रन्थो का प्रणयन किया है, जिनमे से ८ पाहुडो का सग्रह यह 'अष्टपाहुड' ग्रन्थ है। आपके द्वारा प्रणीत समयसारादि सभी शास्त्र एक से बढकर एक है। शुद्धात्मतत्त्व को केन्द्र मे रखकर आपके सभी शास्त्र दर्शन-सिद्धातो का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए जहाँ अन्तर्साधना की – ध्यान की विधि प्रस्तुत करते है, वही वहिर्साधना यानी भूमिकानुसार व्यवहार की स्थूल सूक्ष्म भ्रमणाओ से सचेत करते हुए शुद्धात्मानुभूति एव ज्ञान-चारित्र की पूर्णता पर जोर देते हुए एक ससारी को ससारातीत सिद्ध पद तक पहुँचाते हैं।

प्रस्तुत आलेख मे आपके द्वारा विरचित केवल 'अष्टपाहुड' की विवेचना ही अभीष्ट है। प्रस्तुत 'अष्टपाहुड' आपके आठ पाहुड (प्राभृत) ग्रन्थो का सग्रह है। प्रत्येक पाहुड का अलग-अलग मगलाचरण है। अष्टपाहुड मे सगृहीत इन पाहुडो के नाम व गाथा-सख्या क्रमश निम्नप्रकार है –

(१) दर्शनपाहुड – ३६ गाथाएँ (२) सूत्रपाहुड – २७ गाथाएँ
(३) चारित्रपाहुड – ४५ गाथाएँ (४) बोधपाहुड – ६२ गाथाएँ

(५) भावपाहुड – १६५ गाथाएँ (६) मोक्षपाहुड – १०६ गाथाए
(७) लिंगपाहुड – २२ गाथाएँ (८) शीलपाहुड – ४० गाथाएँ

इसप्रकार कुल गाथायें ५०३ हैं।

अष्टपाहुड मे सगृहीत इन ग्रन्थो को लिखने का अभिप्राय इनकी विषयवस्तु से ही स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन देश-काल-परिस्थिति ने ही इन पाहुड ग्रन्थो को लिखने के लिये आचार्यवर को प्रेरित किया है। इस हुडावसर्पिणी काल मे मोक्षमार्ग की अन्यथा विवेचना करनेवाले अनेक मत–सम्प्रदाय प्रवर्तमान है। उनमे भी इस विषम काल मे केवली-श्रुतकेवली परमात्मा का व्युच्छेद होने से जिनमत मे भी अज्ञानी एव शिथिलाचारी जीवो के निमित्त से परम्परामार्ग का उल्लघन करके श्वेताम्बर आदि बुद्धिकल्पित मत हुए है, जिनका निराकरण करना एव यथार्थ मूल आम्नाय अनुसार वस्तुस्वरूप की स्थापना करना आचार्यवर को आवश्यक लगा। इसकारण आपने इन पाहुड ग्रन्थो के द्वारा आचार-संहिता के श्रेष्ठ पारखी एव पालक होने के नाते ज्ञान एव साधना के जीर्ण (लुप्त) होते शाश्वत मूल्यो की पुनर्स्थापना की। साथ ही आचार व आत्मबोध-साधना से विहीन मात्र दैहिक आचरण की व्यर्थता बतलाने के लिए सम्यक् मोक्षमार्ग का प्रकाशन किया।

सर्वप्रथम दर्शनपाहुड मे आचार्य ने यह तुमुल नाद किया कि –

दंसण मूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेंहि सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।।२।।

अर्थात् जिनवरो ने अपने शिष्यो को यह उपदेश दिया है कि दर्शन ही धर्म का आधार है। दर्शनहीन वन्दनीय नही है।

सम्यग्दर्शन मोक्ष का प्रथम सोपान होने से उसे प्रथम धारण करने का उपदेश है :–

"एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाण पढम मोक्खस्स ।।२१।।

अर्थात् हे भव्य जीवो ! जिनेश्वरदेव-प्रणीत यह सम्यग्दर्शन तीनो रत्नो (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) मे सारभूत है और मोक्षमहल की प्रथम सीढो है, अत. इसे अन्तरग भाव से धारण करो।"

व्यवहार-निश्चय के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा है :–

जीवादीसद्दहण सम्मत्त जिणवरेंहि पण्णत्त।
वयवहारा, णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्त ।।२०।।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभेद परिणतिरूप निश्चय सम्यक्त्व के साथ ही देव, गुरु, शास्त्र एव सात तत्त्व का रागरूप श्रद्धान होता है, जिसे उपचार से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है।

लोक में सम्यग्दर्शन रूपी रत्न अमूल्य है, वही देव दानवो से पूज्य है एवं परम्परा से कल्याण यानी मोक्षदायक है :–

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ।।३३।।

सूत्रपाहुड में ससूत्र के भवनाश एव सूत्ररहित के भवभ्रमण की ओर सुन्दर इशारा किया है। जिनेन्द्र परमात्मा के मार्ग पर यथावत् चलने वाला ही ससूत्र सुई की तरह नाश को प्राप्त नही होगा :—

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवनासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥३॥

चारित्रपाहुड मे सम्यग्दृष्टि के स्वरूपाचरण चारित्र और तीन कषाय चौकडी का अभाव करने वाले प्रचुर स्वसवेदनशील के सयमाचरण चारित्र की व्याख्या करते हुए कहा है '—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥

अर्थात् सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना सयमाचरण चारित्र सभव नही है।

बोधपाहुड मे आचार्य ने धर्मायतन आदि ग्यारह स्थल बाँधे हैं। धर्म मार्ग मे काल-दोष से अनेक मत हो गये है तथा जैनमत मे भी भेद हो गये हैं। उनमे आयतन आदि मे विपरीतपना हुआ है, उनका परमार्थभूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नही हैं और धर्म के लोभी होकर जैसी वाह्य प्रवृत्ति देखते हैं, उसमे ही प्रवर्तने लग जाते हैं। उनको संबोधने के लिए यह बोधपाहुड बनाया है और सर्वज्ञदेव के कहे अनुसार (१) आयतन, (२) चैत्यगृह, (३) जिनप्रतिमा, (४) दर्शन, (५) जिनबिम्ब, (६) जिनमुद्रा, (७) ज्ञान, (८) देव, (९) तीर्थ, (१०) अरहत, और (११) प्रव्रज्या के सच्चे स्वरूप का व्याख्यान किया है।

इस पाहुडसग्रह मे भावपाहुड सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इस काल मे शिथिलाचार के कारण छद्म आगमशास्त्रों के आधार पर 'गुरु' के स्वरूप के विषय मे नाना भ्रान्तियो का पोषण किया जा रहा है और 'लिंग' यानी पहचान के नाम पर द्रव्यलिंग ही मुनि का एकमात्र स्वरूप रह गया है। इस कारण गुण जो स्वर्ग-मोक्ष का होना और दोष अर्थात् नरकादिक ससार का होना, का कारण भगवान ने भावो को कहा है, सो मुनि-श्रावक के द्रव्यलिंग के पहले भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव हो तो सच्चा मुनि-श्रावकपना होता है, इसलिए भावलिंग प्रधान है। जो प्रधान है वही परमार्थ है, इसलिये द्रव्यलिंग परमार्थभूत मानने योग्य नही है '—

भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बिंति ॥२॥

आत्माश्रित शुद्धोपयोग दशा से ही कर्मबधन कटते है। केवल शरीर की नग्नता कार्यकारी नही है :—

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इय णाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ! ॥५५॥

ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग, संवर और योग – ये भाव भावलिंगी मुनि के ही होते है। ये अनेक है तो भी एक आत्मा ही हैं। इसलिये संत इनसे भी अभेद का अनुभव करते है :–

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

द्रव्यलिंग धारण करने का क्रम बतलाते है :–

"भावेण होई णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

पहले मिथ्यात्वादि दोषो को छोडकर भाव से अंतरग नग्न हो एक-रूप शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करे, पीछे जिन-आज्ञा से द्रव्य से बाह्यलिंग प्रगट करे – यह सच्चा मार्ग है।"

जो पुण्य ही को धर्म जानकर श्रद्धान करता है, उसके केवल भोग का निमित्त है, कर्मक्षय का निमित्त नही है :–

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्ण भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥

मोक्षपाहुड मे शुभरूप व्यवहार के पुरुषार्थ की व्यर्थता प्रकट करते हुए कहते है :–

"जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥

जो योगी व्यवहार मे सोता है वह अपने स्वरूप के काम मे जागता है और जो व्यवहार मे जागता है वह अपने आत्मकार्य मे सोता है।"

मूलगुण धारण करने के उपरान्त जो मुनि उनको बिगाड़ता है, वह सिद्धि तो पाता नही, बल्कि वह जिनलिंग का विराधक ही है :–

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू।
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियदं ॥९८॥

शीलपाहुड मे विषय-भोग को तो जहर बतलाया ही, किन्तु पुण्य और राग की बुद्धि को भी विष कहा है। विष से तो एक ही बार मरण होता है, किन्तु यह विषय-विष तो जन्म-जन्म मे बारम्बार जन्म-मरण कराता है :–

एकम्मि वारि जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहयाणं भमंति संसारकान्तारे ॥२२॥

इसप्रकार कुन्दकुन्दाचार्य देव ने साक्षात् सीमधर प्रभु से दिव्यध्वनि श्रवण कर जो वस्तुस्वरूप जाना, उसे स्वात्मानुभव और सयम से सिद्ध किया एव "अष्टपाहुड" शास्त्र में सगृहीत ५०३ गाथाओ मे पिरो कर भव्य जीवो के मार्गदर्शन के लिए महान कार्य किया है। ऐसे मार्गदर्शक सत के चरणो मे कोटि-कोटि वदन। ☐

लेखक-परिचय :– उम्र : ४३ वर्ष। शिक्षा : एम०ए० (हिन्दी), एल एल०बी०। अभिरुचि : अध्ययन एवं प्रवचन। व्यवसाय : वकालत। सम्पर्क-सूत्र : आनन्द विहार, अशोक नगर – ४७३३३१ मध्यप्रदेश।

कुन्दकुन्द-साहित्य में अकर्तावाद

शान्तिकुमार पाटील

□

विश्व के समस्त दर्शनो मे कर्तृ-कर्म सबधी मीमासा मिलती है। जैनदर्शन मे भी वस्तुस्वरूप की दृष्टि से कर्तृ-कर्म की चर्चा है, पर वस्तु का स्वरूप एक-दूसरे के परस्पर कर्तृत्व की स्वीकृति नही देता, अत. जैनदर्शन मे कर्ता-कर्म के रूप मे वस्तुत. अकर्तावाद की मीमासा की गई है। ईश्वर के जगत्कर्तृत्व की तो वात ही वहुत दूर है, पर यहाँ तो विश्व की समस्त सत्ताओ मे परस्पर कर्ता-कर्मपने का निषेध है।

जैनदर्शन के सभी प्रमुख सिद्धातो पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अपनी लेखनी चलाई है, अतः उनकी कृतियो मे अकर्तावाद की चर्चा भी प्रसगानुसार मिलती है। आचार्यदेव ने समग्र वस्तुस्वरूप का निरूपण अध्यात्म की दृष्टि से किया है, अत· उन्होने किसी मत-विशेष के निषेधपरक कथनो मे न उलझकर जीवद्रव्य सबधी अकर्तृत्व की ही चर्चा करना उचित माना है। यहाँ समयसारादि समस्त कृतियो मे समागत अकर्तावाद सम्बन्धी कथन को सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस विषय से सम्वन्धित विस्तृत चर्चा समयसार के कर्ता-कर्म अधिकार मे उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। आचार्यदेव ने इस अधिकार मे नाना युक्तियो से जीव का परद्रव्य सबधी अकर्तृत्व तो सिद्ध किया ही है, साथ ही निश्चय-व्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक आदि दृष्टिकोणो से भी कर्ता-कर्म का निरूपण किया है, जिसका सक्षिप्त वर्णन इसप्रकार है :—

"जीव और पुद्गल कर्म दोनो का परिणमन परस्पर निमित्त से होता है, परन्तु वे एक-दूसरे के गुणो (परिणमनो) को नही करते हैं, अत. एक-दूसरे के अकर्ता ही है।[1]

निश्चय से आत्मा अपने ही भावो का कर्ता और भोक्ता है तथा व्यवहार से अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता है, लेकिन यदि वास्तव मे आत्मा को पुद्गल कर्म का कर्ता और भोक्ता माना जाय तो वह दोनो की क्रियाओ से अभिन्न होगा, लेकिन यह (वस्तुस्वरूप के विरुद्ध होने से) जिनेन्द्र भगवान को मान्य नही है, अतः ऐसी मान्यता वाले को द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कहा है।[2]

---

[1] समयसार, गाथा ८० से ८२

[2] वही, गाथा ८३ से ८६

स्व को पर-रूप और पर को स्व-रूप मानने वाला अज्ञानी जीव ही कर्मो का कर्ता होता है, ज्ञानी नहीं। लेकिन वास्तव मे अज्ञानी जीव भी पररूप कर्मो का कर्ता न होकर 'मैं पररूप हूँ' – ऐसे उपयोग (ज्ञान) के विकल्प का ही कर्ता होता है, जो कि वास्तव में आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए निश्चय के जानने वाले ज्ञानियो ने अज्ञानी जीव को ही कर्ता कहा है – ऐसा जो जानता है, वह सर्वकर्तृत्व का त्याग करता है।[1]

घट-पट-रथादि वस्तुएँ, इन्द्रियाँ एव अनेक प्रकार के कर्म-नोकर्म इत्यादि समस्त परद्रव्यो का आत्मा व्यवहार से कर्ता है, लेकिन यदि उसे इन समस्त परद्रव्यो का निश्चय से अर्थात् वास्तव मे कर्ता माना जाय तो वह उन सबसे तन्मय हो जायेगा, लेकिन तन्मय होता ही नही है, अतः कर्ता भी नही है। आत्मा तो उन पदार्थों का वास्तव मे निमित्त कर्ता भी नही है। उनके वास्तविक निमित्त तो आत्मा के तदनुकूल परिणमित योग और उपयोग ही है और आत्मा अपने योग और उपयोग का ही कर्ता है, अत वह समस्त ही परपदार्थो का अकर्ता है।[2]

जीव और पुद्गल कर्म दोनो ही स्वय परिणमनशील होने से दोनो का स्वतत्र परिणमन होता है और वे अपने उन परिणामो के ही कर्ता है। यदि दोनो को स्वयं परिणमनशील नही माना जाय तो वे अपरिणामी सिद्ध होगे और तब ससार के अभाव का ही प्रसग आयेगा।[3]"

जीव, पुद्गलादि अन्य द्रव्यों का कर्ता तो है नही; लेकिन परस्पर मे भी एक जीव दूसरे जीवद्रव्य का कुछ भी कार्य नही कर सकता है। इसी बात को जीवन-मरण और सुख-दुःख आदि के सन्दर्भ मे समझाते हुए आचार्यदेव ने बन्धाधिकार मे लिखा है :—

"मैं अन्य जीवो को मारता हूँ और अन्य जीव मुझे मारते है – ऐसी मान्यता अज्ञान है, क्योकि जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि प्राणियो का मरण आयुक्षय से होता है तू किसी की आयु नही छीन सकता है और न ही कोई तेरी आयु छीन सकता है, अतः 'मैं किसी को मार या जिला सकता हूँ' – ऐसी मान्यता ही मिथ्या है। इसीप्रकार 'मैं किसी की रक्षा करता हूँ या कोई अन्य मेरी रक्षा करता है, मैं किसी को सुखी-दुखी करता हूँ या कोई अन्य मुझे सुखी-दुःखी करता है' – इत्यादि सभी मान्यताएँ अज्ञान और मिथ्यात्व ही है। सभी जीव स्वय अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार ही सुखी-दुःखी होते हैं, अतः वास्तव में वे एक-दूसरे के कर्ता नही हैं।[4]"

इसीप्रकार सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार मे भी अनेक दृष्टान्तो और युक्तियो के द्वारा पर के कर्तृत्व का खण्डन किया है। उसका सक्षिप्त निरूपण निम्नानुसार है :—

"जैसे सुवर्णनिर्मित कगनादि पर्यायो से सुवर्ण अनन्य है, वैसे ही जो द्रव्य जिन गुणो (पर्यायों) से उत्पन्न होता है, उनसे वह अनन्य होता है। उसीप्रकार जीव और अजीव

---

[1] समयसार, गाथा ९२ से ९६
[2] वही, गाथा ९८ से १००
[3] वही, गाथा ११६ से १२५
[4] वही, गाथा २४७ से २५६

भी शास्त्र-प्रणीत अपने-अपने परिणामो से अनन्य होते हैं। आत्मा (आत्मा का परिणाम) भी किसी से उत्पन्न नही है, इसलिए वह किसी का कर्म नही है और किसी को उत्पन्न नही करता है; अत· वह किसी का कर्ता भी नही है।[1]

जैसे नेत्र समस्त दृश्य पदार्थों को मात्र देखता ही है, उनका किंचित् भी कर्ता-भोक्ता नही होता है; वैसे ही ज्ञान बध, मोक्ष, कर्मोदय, कर्मफल, निर्जरा आदि सभी को मात्र जानता ही है, (उनका किंचित् भी कर्ता-भोक्ता नही है); अत. वह अकारक और अवेदक है।[2]

सामान्य जन विष्णु (ईश्वर) को मनुष्यादि सभी प्राणियो का कर्ता मानते है, वैसे ही यदि श्रमण भी 'षट्कायरूप जीवो का कर्ता आत्मा है' – ऐसा मानें तो उन दोनो की मान्यता मे कोई अन्तर नही है, अत· सामान्यजनवत् उनको भी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है।[3]

जैसे शिल्पी (स्वर्णकार) साधनो को ग्रहण करके कर्म (कुण्डलादि) करता है और उसके फल (खान-पानादि) को भोगता है, तथापि वह उनसे – साधन · कर्म और फल किसी से भी – तन्मय नही होता है, उसीप्रकार जीव भी करणो (मन-वचन-काय) के द्वारा (पुण्य-पापादि) करता है और उसके फल (पुद्गल-परिणामरूप सुख-दु.खादि) को भोगता है, तथापि वह उनसे तन्मय नही होता है, अत वास्तव मे वह उनका कर्ता भी नही है और भोक्ता भी नही है। तथा जैसे वह शिल्पी चेष्टारूप कर्म को करता हुआ दु:खी होता है और उनसे अनन्य भी है, उसीप्रकार जीव भी अपने परिणामरूप (विभागरूप) कर्म करके दु.खी होता है और उनसे तन्मय भी है, अत वह उनका कर्ता भी है और भोक्ता भी है।[4]"

इसीप्रकार प्रवचनसार मे भी जीव का कर्म-नोकर्मरूप समस्त ही पुद्गल-द्रव्यमय भावो का अकर्तृत्व और अपने ही भावो का कर्तृत्व सिद्ध करते हुए आचार्यदेव ने लिखा है :–

"मैं (जीवद्रव्य) पुद्गलमय नही हूँ और वे पुद्गल भी मेरे द्वारा पिण्डरूप नही किये गये है, अत न तो मैं स्वय देह हूँ और न ही उसका कर्ता हूँ।[5]

कर्मत्व के योग्य पुद्गलस्कन्ध जीवपरिणति को (निमित्तरूप मे) प्राप्त करके कर्मभाव को प्राप्त होते है, जीव उनको कर्मरूप नही करता है।[6]

अपने भाव को करता हुआ आत्मा वास्तव मे अपने भाव का तो कर्ता है, किन्तु वह पुद्गलद्रव्यमय किसी भी भाव का कर्ता नही है।[7]"

इसीप्रकार का आशय पचास्तिकायसग्रह की गाथा ६१–६२ मे भी आचार्यदेव ने व्यक्त किया है।

---

[1] समयसार, गाथा ३०८ से ३११
[2] वही, गाथा ३२०
[3] वही, गाथा ३२१ से ३२३
[4] वही, गाथा ३४९ से ३५५
[5] प्रवचनसार, गाथा १६२
[6] वही, गाथा १६९
[7] वही, गाथा १८४

कुन्दकुन्द वर्ष : निश्चय कर्तव्य के रूप में

– देवेन्द्रकुमार जैन

इस युग मे आत्मकल्याण की मूलभूत अध्यात्मविद्या को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने-वाले आचार्य कुन्दकुन्द ही थे। आचार्यश्री ने इस अध्यात्माक्रन्ति का श्रीगणेश उस समय किया था, जबकि शिथिलाचार एवं स्वेच्छाचार अपनी चरम सीमा पर प्रतिष्ठित था। श्रमण परम्परा एव मूलतत्त्वज्ञान प्राय: लुप्त हो गया था। ऐसे समय मे आचार्यश्री ने मूल तत्त्वज्ञान की सुरक्षा तो की ही, साथ ही शिथिलाचार के विरुद्ध भी सशक्त वातावरण का निर्माण किया। यही कारण है कि आचार्य देवसेन को तो दर्शनसार नामक ग्रथ मे यहाँ तक कहना पड़ा कि –

"जइ पउमणदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ॥

यदि सीमधर स्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान द्वारा पद्मनन्दि नाथ (कुन्दकुन्दाचार्य) ने तत्त्वबोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को किस तरह जानते ?"

कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित उपलब्ध पच परमागमो मे समयसार एव नियमसार तो विशुद्ध अध्यात्म से ओत-प्रोत ग्रन्थराज है तथा प्रवचनसार एव पचास्तिकाय वस्तु-व्यवस्था का सम्यक् परिज्ञान कराने वाले है। उपर्युक्त ग्रन्थो मे वे एक आध्यात्मिक और दार्शनिक व्यक्तित्व के रूप मे दिखाई देते है तथा अष्टपाहुड मे वर्णित विषयवस्तु के द्वारा वे एक प्रशासक व्यक्तित्व के रूप मे उभरते नजर आते है।

कुन्दकुन्द-साहित्य के सम्यक् परिशीलनोपरान्त हम देखते हैं कि एक ओर जहाँ वे आत्मज्ञान-शून्य तथाकथित क्रियाकाण्ड का निर्भयतापूर्वक निषेध करते हुए दृष्टिगोचर होते है, वही दूसरी ओर आगम की मर्यादाओ का उल्लघन कर भूमिकानुसार समुचित क्रियाओ से भी विमुख शिथिलाचारियो के ऊपर कठोर प्रहार करके उन्हे अन्तर्बाह्य की सधि-युक्त दशा का सम्यक् परिज्ञान कराते हुए भी नजर आते है।

कही ध्रुवधाम की धुन मे पर्याय मात्र को गौण कर ज्ञायक स्वभाव की अचिन्त्य सामर्थ्य का परिचय प्रदान कराते है तो कही पर्याय की अल्पज्ञता – पामरता का ज्ञान कराते हुए स्वभाव की सामर्थ्य से पर्याय मे परमेश्वरत्व प्रगट करने हेतु मगल प्रेरणा प्रदान करते हैं।

इसीप्रकार मात्र शरीराश्रित द्रव्यलिंग को ही मुक्ति का कारण माननेवालों को वे समयसार से अनभिज्ञ घोषित करते है और वे ही मुनिमुद्रा को धारण कर तिल-तुष मात्र परिग्रह अगीकार करने का फल निगोद प्रतिपादित करते है।[1] इसप्रकार मुक्तिमार्ग में साधक की अन्तरग स्थिति के साथ बाह्य स्थिति किसप्रकार की होती है — इसका भी यथार्थ ज्ञान कराते है।

प्रत्येक वस्तु की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करते हुए 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है' — ऐसी मान्यतावालो को वे जिनमत से बाहर घोषित करने मे भी सकोच नही करते हैं।

ऐसे ही पुण्य-पाप के सम्यक् स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उन्हे समान रूप से बंध के कारण एव मुक्तिमार्ग मे बाधक बताते हुए पुण्य-पाप में द्वैत की दृष्टिवालो को घोर अपार ससार मे परिभ्रमण का पात्र बताते है।

आत्मानुभूति ही भव-अंत का पंथ है एव पूर्णता के लक्ष्य से होनेवाला प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है — जिनशासन के ये मुख्य सिद्धान्त सर्वत्र मुख्य रहे है।

इसतरह हम कह सकते है कि कुन्दकुन्दाचार्य का सम्पूर्ण प्रतिपादन आत्मस्वभाव की मुख्यतापूर्वक ही हुआ है। अत. प्रत्येक आत्मार्थी का यह कर्त्तव्य है कि कुन्दकुन्द-वाणी का गहनता से अध्ययन-मनन-चिन्तवन करे।

आत्मानुभूति ही कुन्दकुन्दवाणी का सार है; अतः हमे उस कारण पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा कि हम आत्मानुभूति तक क्यो नही पहुँच पा रहे है ? कहाँ हमारी भूल हो रही है ? यदि कुन्दकुन्द-वर्ष के पावन प्रसग पर हम अपनी भूल का सही अध्ययन करके स्वभाव-सन्मुख होने हेतु उद्यमवंत बनें, तो नि.सदेह ही हम कह सकेंगे कि हमने कुछ कर्त्तव्य किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे स्वयं ही एक प्रश्न उठाया है कि यह आत्मा कब तक अज्ञानी (आत्मानुभूति-विहीन) रहता है ? — इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए समयसार की १९वी गाथा मे वे इसप्रकार कहते है :—

"कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥

अर्थात् जब तक यह जीव ऐसा मानता है कि द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म मैं हूँ और मुझ मे ये द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म है, तब तक यह जीव अज्ञानी अर्थात् आत्मानुभूति-विहीन रहता है।"

उक्त विवेचन पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव मे आत्मा की पर (द्रव्यकर्म, नोकर्म) एव विभाव (भावकर्म) मे एकत्वबुद्धि ही अज्ञान है, संसार है, दुःख है और आत्मानुभूति के न होने का समर्थ कारण हैं।

---

[1] अष्टपाहुड सूत्रपाहुड, गाथा १८

अत: यदि हमे ज्ञानी होना हो, सुखी होना हो; तो उसका उपाय इससे विपरीत ही होगा। वह उपाय क्या है – इस विषय मे कुन्दकुन्दाचार्य के परम भक्त आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य हैं :–

- स्वभाव सुखरूप है, विभाव दु खरूप है – इस बात का यथार्थ निर्णय करते ही स्वभाव के आश्रय से सुख प्रगट होकर दु:ख का अभाव होगा।
- "स्वभाव की सामर्थ्य, विभाव की विपरीतता, संयोग की पृथक्ता" – इसका निर्णय होते ही स्वभाव-सामर्थ्य के आश्रय से पर्याय मे सामर्थ्य प्रगट होकर विभाव अभावरूप हो जायेंगे।
- "स्वभाव उपादेय, विभाव हेय, सयोग ज्ञेय" – ऐसा जानकर उपादेयरूप स्वभाव का आश्रय करने से निर्मलता प्रगट होगी, हेयरूप विभाव छूटेंगे और ज्ञान-सामर्थ्य मे सब ज्ञेय हो जायेगा।
- "स्वभाव शाश्वत, विभाव क्षणिक, सयोग अपने मे अभावरूप" – ऐसा जानकर सयोग का लक्ष्य त्यागकर शाश्वत स्वभाव के लक्ष्य से पर्याय का क्षणिक विकार नष्ट होकर शुद्धता प्रगट होगी।
- "स्वभाव कभी नही मिटता, विभाव सदा नही रहता, संयोग साथ नही आता" –ऐसा जानकर नित्य ज्ञायक स्वभाव का अवलम्बन करे तो विभाव से भिन्न होकर असयोगी सिद्धपद प्रगट होगा।

इसप्रकार हम सभी आत्माएँ स्वामीजी के उक्त विवेचनानुसार स्वभाव की सामर्थ्य से विपरीतदशा रूप विभाव का परित्याग कर सयोग की ज्ञेयता को पहिचान कर अनन्त सुखी हो – यही वास्तव मे परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द-वर्ष के पावन प्रसग पर हमारा निश्चय कर्त्तव्य है।

हम सभी इस कर्त्तव्य के द्वारा कृतकृत्य दशा को प्राप्त करें – इसी मगल भावना से आचार्य कुन्दकुन्द के चरणकमलो मे अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हूँ। □

लेखक-परिचय .– उम्र : २२ वर्ष। शिक्षा : मैट्रिक। अभिरुचि : धार्मिक अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं प्रवचन। व्यवसाय : स्टोन सप्लायर्स। सम्पर्क-सूत्र : देवेन्द्र स्टोन सप्लायर्स, मु० पो० – बिजौलिया, जिला – भीलवाडा, राजस्थान।

कविवर बनारसीदासजी 'समयसार नाटक' मे समस्त कुटुबीजनो से राग-द्वेषपूर्ण नातो का त्याग करने का सदुपदेश देते हुए कहते हैं –

लोकनिसौं कछु नातौ न तेरौ, न तोसौं कछु इह लोकको नातौ।
ए तौ रहै रमि स्वारथ के रस, तू परमारथ के रस मातौ॥
ये तनसौं तनमै तनसे जड़, चेतन तू तिनसौं नित हांतौ।
होहु सुखी अपनौ बल फेरिकै, तौरिकै राग विरोध कौ तांतौ॥

–साध्य-साधक द्वार, छन्द ९

आचार्य कुन्दकुन्द

– पण्डित प्रकाशचन्द्र शास्त्री 'हितैषी'

श्रमणधारा के तत्त्वचिन्तन के इतिहास मे अध्यात्मपरम्परा के प्रमुख चितक, तत्त्वान्वेषी, स्वानुभूतिसपन्न, परमात्मा के सहजानन्द को प्राप्त, अध्यात्मगगा के प्रवहमान स्रोत आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व एव कृतित्व भास्कर के समान प्रकाशमान है।

उन्होने तत्कालीन प्रचलित भाषा प्राकृत मे परमतत्त्व का स्वानुभूति-प्रसूत सार निबद्ध किया है, जिसे कोई भी मानव अपनी स्वानुभूति के द्वारा प्राप्त कर सकता है। और वह स्वानुभूति तत्त्वनिर्णय से प्राप्त होती है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे तत्त्वनिर्णय की प्रधानता से ही अधिकाश कथन है।

यद्यपि आपके ग्रथो मे अध्यात्म की प्रधानता देखी जाती है, किन्तु आप चारो अनुयोगो के अधिकारी – निष्णात विद्वान थे। आपने करणानुयोग के मूलभूत ग्रंथ 'षट्खण्डागम' पर भी एक 'परिकर्म' नाम की टीका लिखी थी – ऐसा 'श्रुतावतार' मे कहा है।

श्री नाथूराम प्रेमी के अनुसार आप द्रविड देशस्थ कौण्डकुण्ड नगर के रहनेवाले थे। इसीकारण आप 'कुन्दकुन्द' नाम से प्रसिद्ध हुये। नन्दिसंघ बलात्कारगण की गुर्वावली के अनुसार आप नन्दिसघ के आचार्य थे। इस परम्परा मे भद्रबाहु, माघनंदि प्रथम, जिनचंद्र और इनके शिष्य कुन्दकुन्द (पद्मनन्दि) थे। आप आचार्य जिनचन्द के शिष्य और उमास्वामी के गुरु थे। यह नन्दिसघ आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वीरनिर्वाण स० ५९६ (ईस्वी सन् ७७) में स्थापित हुआ था। नन्दिसंघ बलात्कार गण की पट्टावली के अनुसार मूलसंघ में नन्दिसघ है, उसमे अतिरम्य बलात्कार गण है। उसमे अपूर्व पदांशवेदी नरसुरवंद्य माघनन्दि आचार्य हुये हैं। उनके शिष्य मुनिमान्य जिनचन्द्र तथा उनके शिष्य पचनामधारी श्री पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) मुनि चक्रवर्ती हुये हैं।[1]

आपके पाँच नाम प्रसिद्ध है :– १. कुन्दकुन्द, २. वक्रग्रीव, ३. एलाचार्य, ४. गृद्धपिच्छ और ५. पद्मनन्दि। मूल नन्दिसघ की पट्टावली में उनके उपर्युक्त नामो का उल्लेख इसप्रकार हुआ है :–

आचार्यो कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दिर्वितायते ॥

[1] श्रीमूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्य।
तत्राभवद् पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दि. नरदेववद्य. ॥
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्र समभूदतन्द्र।
ततोऽभवद् पच सुनामधामा श्रीपद्मनन्दि . मुनि चक्रवर्ती ॥

इन नामो की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि :-

नन्दिसघ की पट्टावली मे इनके गुरु जिनचन्द आचार्य के पश्चात् पद्मनन्दि का नाम आता है – इससे निश्चय होता है कि इनका दीक्षा नाम पद्मनन्दि था। कौण्डकुण्ड नगर में इनका जन्म होने से इनको कुन्दकुन्द कहते हैं। 'एलाचार्य' नाम का स्पष्टीकरण करते हुए 'मूलाचार' मे जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री ने लिखा है – कुन्दकुन्दाचार्य विदेहक्षेत्रस्थ श्री भगवान सीमधर स्वामी के समवशरण मे गये थे। वहाँ के मनुष्यो की ऊँचाई ५०० धनुष की होती है और इनका शरीर साढे तीन हाथ का था। वहाँ का चक्रवर्ती इन्हे देखकर इलायची की तरह उठाकर हाथ पर रख लेता है। इनका परिचय पाने पर इन्हे नमस्कार कर चक्रवर्ती ने इनका नाम एलाचार्य रख दिया। गृद्धपिच्छ के विषय मे 'मूलाचार' मे जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री के अनुसार विदेह क्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी समुद्र मे गिर गई थी, तब वे गिद्ध पक्षी के पख हाथ मे लेकर लौट आये थे। इसी से इनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य चल गया था। इसीप्रकार 'वक्रगीव' के बारे मे 'मूलाचार' मे लिखा है कि सीमधर भगवान के समवशरण मे ऊपर को देखते रहने से इनकी ग्रीवा टेडी पड गई थी। इसी से इनका नाम 'वक्रग्रीव' पड गया था।

इनका एक अन्य 'वट्टकेरि' नाम 'मूलाचार' ग्रथ के आधार पर सिद्ध किया जाता है। 'मूलाचार' नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध है। एक के रचियता का नाम 'वट्टकेरि' दिया है तथा दूसरे का 'कुन्दकुन्द'। दोनो ग्रथो मे मात्र कुछ गाथाओ को छोडकर शेष समान ही है। इससे पता चलता है कि दोनो रचनाएँ एक ही है। इसप्रकार आपका एक नाम 'वट्टकेरि' भी रहा होगा।

जैन शिलालेख-सग्रह मे एव श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो मे बताया है कि आपको चारणऋद्धि तथा जमीन से चार अगुल ऊपर अन्तरिक्ष मे चलने की शक्ति प्राप्त थी।

शिलालेख स० ६२, ६४, ६६, ६७, २५४, २६१ (जै० शि०स०, पृष्ठ २६२-२६६) मे यह घोषित किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन करते थे। जैन शिलालेख-सग्रह पृष्ठ १९७-१९८ मे लिखा है :-

"यतीश्वर कुन्दकुन्ददेव रज स्थान और भूमितल को छोडकर चार अगुल ऊँचे आकाश मे चलते थे, इससे मैं समझता हूँ कि वे अन्दर से और बाहर से रज से अत्यन्त अस्पर्शित थे।[1]"

'षट्प्राभृत' की प्रशस्ति मे कहा है :-

"पाँच नाम वाले श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने चतुरगुल आकाशगमन ऋद्धि द्वारा विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकणी नगरी मे स्थित श्री सीमन्धर स्वामी की वन्दना की थी।[2]"

---

[1] रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि सव्यञ्जयितु यतीश ।
रज पद भूमितल विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुल स ॥

[2] नामपञ्चकविराजितेन चतुराङ्गुलाकाशगमनर्दिना पूर्वविदेहपुण्डरीकणीनगरवन्दितसीमधरजिनेन ...

मूलाचार की प्रस्तावना मे जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले शास्त्री ने लिखा है :– भद्रबाहु चरित्र के अनुसार राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नो का फलकथन करते हुए भद्रबाहु आचार्य कहते है कि पचम काल में चारणऋद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त नही होंगी, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द की चारण ऋद्धि के सम्बन्ध मे शका हो सकती है। इसका समाधान इसप्रकार समझना चाहिए कि चारण ऋद्धि का निषेध एक सामान्य कथन है। पचमकाल मे ऋद्धिप्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है – यही उसका अर्थ है। पचमकाल के प्रारम्भ मे ऋद्धि का अभाव नही है, परन्तु आगे उसका अभाव है – ऐसा समझना चाहिए। पंचम काल मे विशेष कारण से तीन केवलियो ने भी मुक्ति प्राप्त की है।

'दर्शनसार' ग्रन्थ मे कहा है कि विदेहक्षेत्रस्थ श्री सीमधर स्वामी के समवशरण मे जाकर श्री पद्मनन्दि ने जो दिव्यज्ञान प्राप्त किया था, उसके द्वारा यदि बोध न दिया जाता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?[1]

पचास्तिकायसग्रह की तात्पर्यवृत्ति टीका के मंगलाचरण मे भी कहा है कि –

"अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यै. प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेह गत्वा वीतराग-सर्वज्ञसीमधरस्वामितीर्थंकरपरमदेव दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणी श्रवणाव-धारित ……। श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य की प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्व-विदेह मे जाकर वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के दर्शन करके उनके मुख से निर्गत दिव्यवाणी के श्रवण द्वारा अवधारित पदार्थ से शुद्धात्म तत्त्व के सार को ग्रहण करके आये थे … ।"

'षट्प्राभृत' की प्रशस्ति मे भी कहा है :–

श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य के पाँच नाम थे। वे चारण ऋद्धि द्वारा पृथ्वी से चार अंगुल आकाश मे गमन करके पूर्वविदेह की पुण्डरीकणी नगरी मे गये थे। वहाँ सीमधर भगवान की वन्दना करके आये थे। वहाँ से आकर उन्होने भारतवर्ष के भव्यजीवो को सम्बोधित किया था। वे श्री जिनचन्द भट्टारक के पद पर आसीन हुए थे तथा कलिकाल-सर्वज्ञ के रूप मे प्रसिद्ध थे। इससे यह भी पता चलता है कि वे अपनी ज्ञान-गरिमा के कारण 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहलाते थे।

इससे सुनिश्चित रूप से ज्ञात होता है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और वहाँ पर भग-वान सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि से तत्त्वस्वरूप का निर्णय करके आये थे। इसी कारण उनके अध्यात्म का अनुगमन उनके परवर्ती अनेक आचार्यों ने किया है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि उन्होने अपने ग्रन्थो मे इस तथ्य का उल्लेख क्यों नही किया कि वे विदेहक्षेत्र मे सीमन्धर स्वामी के समवशरण मे गये थे, जिससे यह नि.सन्देह प्रमाणित हो जाता कि वे विदेहक्षेत्र गये थे ?

इसका उत्तर यही है कि उन्हे अपने गुरुओ की और अन्य आचार्यों की प्रामाणिकता का आधार एकमात्र स्वानुभव को प्रदर्शित करना था। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की

---

[1] जइ पउमणदिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति ॥

प्रामाणिकता इसलिए मानी जावे कि वे विदेहक्षेत्र में सीमन्धर स्वामी का उपदेश सुनकर आये थे तो फिर जो आचार्य वहाँ नही गये थे, वे सब अप्रमाणिक हो जाते। यह एक घातक परंपरा होती।

दूसरी बात यह है कि उन्होने कही भी अपना परिचय नही दिया है, जिससे वे इस विषय का उल्लेख करते उन्होने कही भी अपने पाँच नामो तक का भी उल्लेख नही किया है। उन्होने अपने गुरु का भी कही नामोल्लेख नही किया है। इससे पता चलता है कि उन्हे इन लौकिक चर्चाओं के लिए अवकाश ही नही था और न उस ओर उनकी रुचि ही थी। उन्हे तो तत्त्व का परिचय स्वय करना था और दूसरो को कराना था। वे स्वय उस युग मे 'कलिकाल-सर्वज्ञ' जैसी सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा से वे प्रतिष्ठित थे। तब प्रकाशमान सूर्य को क्या कुछ कहने की आवश्यकता है कि मैं स्वय इतना प्रतिभाशाली हूँ ? कहा भी है :- 'हीरा मुख से ना कहे, लाख हमारो मोल'।

पंचास्तिकाय की टीका मे जयसेनाचार्य ने उनके गुरु का नाम कुमारनन्दि बताया है; किन्तु नन्दिसघ बलात्कारगण की पट्टावली मे आपके गुरु का नाम जिनचन्द लिखा है।

— इस मतभेद का निवारण इसप्रकार हो सकता है कि आपके दीक्षागुरु जिनचद हो और शिक्षागुरु कुमारनन्दि।

नन्दिसघ की पट्टावली के अनुसार एवं अन्य स्रोतो से आपका समय शालिवाहन अर्थात् शक सवत् ४९-१०१ या ईस्वी सन् १२७-१७९ है। आपके समय के विषय मे विद्वानो मे कुछ मतभेद हैं। श्री बी के. पाठक के अतिरिक्त अन्य सब विद्वान् नन्दिसघ की पट्टावली के अनुसार आपका समय यही मानते हैं।

आपके जीवन की अनेक घटनाओ मे दिगम्बर-श्वेताम्बर के वाद-विवाद मे आपकी महत्त्वपूर्ण विजय का उल्लेख 'पाण्डवपुराण' में शुभचन्द्राचार्य ने किया है।

वे लिखते है :-

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥[1]"

इसीप्रकार का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावली के अत मे दो श्लोको में इसप्रकार मिलता है :-

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवन्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने॥

कविवर वृन्दावन ने भी इस घटना का उल्लेख किया है कि श्री कुन्दकुन्दाचाय सघसहित गिरिनार की यात्रा को गये थे। वहाँ उन्ही दिनो श्वेताम्बर शुक्लाचार्य का संघ भी ठहरा हुआ था। वहाँ पर विवाद छिड़ गया कि जो सत्य पथ होगा, वही प्रथम वन्दना

[1] पाण्डवपुराण, प्रथम पर्व, श्लोक १४

करेगा। इस विवाद को सुलझाने के लिए पर्वत पर स्थित मूर्ति को मध्यस्थ बनाया गया। उस मूर्ति ने स्पष्ट कह दिया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ पंथ ही परमसत्य है।[1]

श्री नाथूराम प्रेमी ने एक निबन्ध मे लिखा था :– "जान पडता है गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरो के बीच वह विवाद कभी न कभी अवश्य हुआ है, जिसका उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है। यह कोई ऐतिहासिक घटना अवश्य है।"

आचार्य कुन्दकुन्द की सबसे बडी विशेषता उनकी अलौकिक आध्यात्मिक साहित्य-रचना मे पाई जाती है। वह है '–प्रत्येक पदार्थ की स्वतत्रता की उद्‌घोषणा। उनकी इस कल्याणकारी विशेषता का अनुसरण मूलसघ के सभी आचार्यों ने किया है; इसीलिए दिगम्बर-साहित्य के महान् प्रणेताओ में आपको मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त है। □

---

[1] कविवर वृन्दावन का वह छन्द मूलत. इसप्रकार है –

सघसहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वदन हेत गये गिरनार।
वाद पर्‌यौ तहँ सशयमति सौ साक्षी वदी अविकाकार॥
"सत्यपथ निरग्रथ दिगवर" – कही सुरी तहँ प्रगट पुकार।
सो गुरुदेव वसो उर मेरे विघनहरन मगल करतार॥

– वृन्दावन-विलास, गुरुदेव-स्तुति

लेखक-परिचय – उम्र : ७३ वर्ष। शिक्षा शास्त्री। बुन्देलखण्ड की विभिन्न शिक्षण संस्थाओ मे दसाधिक वर्षों तक अध्यापन किया। सन् १९५५ से आप प्रसिद्ध मासिक पत्र 'सन्मति-सन्देश' के सम्पादक हैं। सम्पर्क-सूत्र . ५३५, गाँधीनगर, दिल्ली – ११००३१।

आध्यात्मिक क्रान्ति के मसीहा : आचार्य कुन्दकुन्द

– अशोककुमार गोइल्ल

□

विलक्षण वैरागी वीर पुरुषो का अखिल विश्लेषण लिपिबद्ध करना साधारण काम नही है। वह भी अध्यात्म व द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्यप्रवर्तक कलिकाल-सर्वज्ञ, अद्वितीय प्रतिभाशाली व प्रभावशाली, नि स्पृही, निरभिमानी वीतरागी सन्त कुन्दकुन्ददेव के सदर्भ मे तो और भी कठिन है। रागी छद्मस्थ की लेखनी मे इतनी सामर्थ्य व प्रतिभा कहाँ कि वह दिगम्बर जैन आचार्य-परम्परा के निर्विवाद व सिरमौर आचार्य कुन्दकुन्द के अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व व कर्तृत्व का समग्र मूल्याकन कर सके ? फिर भी रागी जीव अपने रागवश पीछे कब हटता है ?

सही मूल्याकन तो वे गवेषक, वे धर्मपिपासु, वे मुमुक्षु ही कर सके हैं और कर पाते हैं, जो सत्य मे जी रहे है तथा सत्य के लिए तडप रहे एव जी रहे हैं।

'जैनेन्द्र सिद्धात कोश' के लेखक लिखते है –

"आप अत्यन्त वीतराग तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे। आप अध्यात्म-विषय मे इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छबुद्धि व्यक्तियो की शक्ति से बाहर है। आपके अनेको नाम प्रसिद्ध हैं तथा आपके जीवन मे कुछ ऋद्धियो व चमत्कारिक घटनाओ का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्मप्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयो के पारगामी थे और इसीलिए हर विषय पर आपने ग्रन्थ रचे है। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध मे कल्पना करते है कि इन्हे करणानुयोग व गणित आदि विषयो का ज्ञान न था; पर ऐसा मानना उनका भ्रम है, क्योकि करणानुयोग के मूलभूत सर्वप्रथम ग्रन्थ षट्खण्डागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी – यह बात सिद्ध हो चुकी है। वह टीका आज उपलब्ध नही है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थो को पढकर अज्ञानी जन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध-बुद्ध व जीवनमुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं, परन्तु वे स्वय महान चारित्रवत थे। भले ही अज्ञानी जगत् उसे न देख सके, पर उन्होने अपने शास्त्रो मे सर्वत्र व्यवहार व निश्चय नयो का साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते है वहाँ उसकी कथचित् उपादेयता बताये बिना नही रहते।

अच्छा हो कि अज्ञानी जन उनके शास्त्रों को पढकर सकुचित एकान्त दृष्टि अपनाने की बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनायें ।[1]"

श्रुतकेवली भद्राबहु के पश्चात् जैन परम्परा आचार-विचार के आधार पर दो भागो में विभाजित हो गई । ई० पूर्व प्रथम सदी में आचार-विचार सम्बन्धी शिथिलता ने जब विकराल रूप धारण किया, तब कुन्दकुन्ददेव जैसे समर्थ व प्रखर आचार्य का उदय हुआ । शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आवाज व आन्दोलन चलाकर समस्त विकृतियो पर प्रहार करके उन्हें जड़मूल से उखाड़ फेंका । अध्यात्म व आगम की सयुक्तिक गर्जना करके मूल मोक्षमार्ग को सदा के लिए सुरक्षित कर दिया ।

इस संदर्भ मे डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल का निम्न कथन पठनीय है :—

"इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एव प्रखर प्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी । यह समय श्वेताम्बर मत का आरभकाल ही था । इस समय बरती गयी किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी ।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे । एक तो :— द्वितीय श्रुतस्कन्ध रूप परमागम (अध्यात्मशास्त्र) को लिखित रूप से व्यवस्थित करना और दूसरा :— शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एव कठोर कदम उठाना । दोनो ही उत्तरदायित्वो को उन्होने बखूबी निभाया ।[2]"

उनके आन्तरिक वैभव का दर्शन तो उनकी साहित्यिक अमर कृतियो से मिल सकता है । उनमें परम-अध्यात्म तो सर्वत्र प्रवाहित है ही; साथ ही दर्शन, सिद्धान्त, आचार एव व्यवहार आदि सभी का सागोपाग विशद विवेचन भी देखने को मिलता है । समयसार तो उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध व बेजोड कृति है, जिसके माध्यम से अनेकानेक जीवो को मार्ग-दर्शन मिलता है । अध्यात्म-क्रान्ति का बिगुल बजानेवाली कृति समयसार ही तो है । परम सत्य के प्रकाशन मे जहाँ वे सुमन से कोमल हैं, असत्य व शिथिलाचार के परिहार मे वहाँ वे शैल से कठोर भी है । अध्यात्म की प्ररूपणा सर्वप्रथम उन्ही के माध्यम से हुई । यह एक ऐसे अभाव की पूर्ति हुई, जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता थी । उनके अद्वितीय व अनुपम प्रदेय को देखकर ही कविवर वृन्दावनलालजी को कहना पडा —

"हुए है न होंहिंगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से ।[3]

अर्थात् विगत दो हजार वर्षों मे कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभा के धनी अध्यात्म-प्रकाश बिखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो पीढ़ियो से हुए ही हैं और न पीढियो तक होने की संभा-वना ही नजर आती है ।"

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धात कोश, भाग २, पृष्ठ १२६

[2] नियमसार, प्रस्तावना, पृष्ठ २०

[3] प्रवचनसार परमागम, पीठिका, छन्द ६६

अध्यात्म का अपूर्व सिंहनाद करने से उन्हे सर्वाधिक प्रसिद्धि मिली ।

यद्यपि उनकी गाथाएँ यतिवृषभ की तिलोयपणत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे, और 'सर्वार्थसिद्धि' मे भी उपलब्ध होती हैं । निश्चयनय की चर्चा भी अकलकदेव व विद्यानद के ग्रन्थो मे मिलती है, तथापि सर्वप्रथम अमृतचद्रदेव ने ही समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय पर विशद व विशाल रहस्योद्‌घाटक टीकायें लिखकर एकतरह से ढके हुए कुन्दकुन्द को जिनशासन का सिरमौर बना दिया और भगवान महावीर व गौतम गणधर के बाद उन्हे ही स्मरण किया जाने लगा तथा दि० जैन आम्नाय 'कुन्दकुन्दाम्नाय' एवं उनका सघ 'मूलसघ' कहलाया । कुन्दकुन्द की कीर्तिकौमुदी को प्रसृत करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य अमृतचद्रदेव ही हैं । अत्यधिक प्रसिद्धि दिलाने का श्रेय भी अमृतचंद्रदेव को है ।

आज कुन्दकुन्द एव उनकी कृतियो का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार होने के बावजूद भी दि० जैन अनुयायी उनके निकट क्यो नही है ? सभी एक स्वर से उन्हे श्रद्धा के साथ स्वीकारते है, उनके भक्त कहलाने पर गौरव का अनुभव करते हैं; फिर भी आपस मे इतना वैमनस्य, वैर-विरोध की भावना जीवित है । क्यो नही हम कुन्दकुन्द के सूत्रो को हृदय मे अवधारण करके इन विकारो की सन्तति को उखाड फेंकते ? भले ही हम उनके प्रिय भक्त होने का दावा करते हो, परन्तु उनके भक्त नही बन सके है । कुन्दकुन्द को माना है, परन्तु अपनी मान्यता के मुताबिक । यदि हमने कुन्दकुन्द को कुन्दकुन्द की तरह स्वीकारा होता तो इतना विसवाद व पोपडम देखने को नही मिलता । इसीलिए उनकी आध्यात्मिक क्रांति भी अपना वह रूप नही दिखा सकी, जिसके लिए वह विख्यात है । उनकी मूलभूत क्रान्ति व छवि को उन्ही के भक्त धूमिल कर रहे हैं । आज भी कुन्दकुन्द के समय का वातावरण निर्मित हो गया है । दि० जैन आम्नाय मे भी घोर शिथिलाचार (आचार और विचार के रूप मे) फैल चुका है और फैल रहा है ।

ताज्जुब की बात है, जिस पोपडम को कुन्दकुन्द ने उखाड फैका है, उसी पोपडम को उन्ही के शिष्य, उन्ही की पीछी-कमण्डल लेकर पुनरुज्जीवित करने मे अपनी शक्ति प्रदर्शित कर रहे है । आज पहले से अधिक खतरा उत्पन्न है । भगवान महावीर की अविच्छिन्न परम्परा को सुरक्षित करने का दायित्व इने-गिने शिष्यो के ऊपर है । देखते है कुन्दकुन्द की क्रान्ति धूमिल होती है या पुन जीवित होती है । भीषण शिथिलाचार पर रोक लगाने के लिए आज सचमुच ही कुन्दकुन्द जैसे ही समर्थ व प्रखर आचार्य की सख्त आवश्यकता है । किसी न किसी को भगवान के दूत बनकर अवतरित होना ही होगा । जबतक कोई दूत बनकर नही आये, तबतक उनके सच्चे अनुयायी मूलमार्ग को सुरक्षित रखकर शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाने से न चूकें । उन्हे स्मरण कीजिये, अपनी मान्यतानुसार नही, कुन्दकुन्द की मान्यतानुसार; तभी उनकी कीर्ति-पताका युगो-युगो तक जीवित रह सकेगी । □

लेखक-परिचय :– उम्र २५ वर्ष । शास्त्री, एम ए (संस्कृत), जैनदर्शनाचार्य । श्री टोडरमल महाविद्यालय के भूतपूर्व स्नातक । सप्रति शोधकार्य में रत । सम्पर्क-सूत्र · अलंकार जनरल स्टोर्स, कोर्ट रोड, मु० पो० – बण्डा-बेलई, जिला – सागर, मध्यप्रदेश ।

कुन्दकुन्द और उनका दर्शन

— बाबूलाल बाँझल

कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नहीं पारस बन जाये।
'समयसार' का अवगाहन कर, समयसार ही खुद बन जाये।।
कलिकाल सर्वज्ञ मुनीश्वर, दर्शन को दर्पण दे डाला।
महावीर के तत्त्वबोध को, शोध-शोध जग को दे डाला।।
तत्त्वबोध को स्वीकारे जो, आत्मबोध उसको हो जाये।
कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नही पारस बन जाये।।

गये सदेह विदेह धन्य तुम, सीमन्धर से तत्त्व सुना था।
उसको वैसा ही प्राकृत की, गाथाओ मे गूँथ दिया था।।
बने अनेकों 'पाहुड' उससे, सत्यबोध के दर्शन को।
पर द्रव्यो से भिन्न बताकर, एक शुद्ध निज दर्शन को।।
निज दर्शन से सहज सुखी हो, सुख का ही स्वामी बन जाये।
कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नही पारस बन जाये।।

षट्कारक निज के निज मे हैं, पर मे कुछ अपनत्व नही।
मैं ही मेरा, मैं हूँ निश्चित, पर का कुछ अस्तित्व नही।।
अन्तर्चक्षु से अन्तर मे, जिसने जब भी जो देखा है।
वह ही केवल आत्मतत्त्व है, अन्य नही कुछ, सब धोखा है।।
आत्मतत्त्व को जो आराधे, मिथ्यातम उसका गल जाये।
कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नही पारस बन जाये।।

नित्य देशना अरहन्तो सी, 'समयसार' हमको देता है।
सिद्धो-सा शुद्धत्व बताकर, आत्मबोध सबको देता है।।
सर्वसाधु के आचरणो का, उपाध्याय के उपदेशो का।
कुन्दकुन्द के निर्देशो का, 'समयसार' दर्शन देता है।।
श्रद्धा हो जब 'समयसार' पर, 'समयसार' को ही पा जाये।
कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नही पारस बन जाये।।

पच परम गुरुओ का तुझमे, सहज समन्वय मुझको दिखता।
चारो अनुयोगों का दर्शन, तेरी रचनाओ मे मिलता।।
तीर्थंकर-सी धर्म देशना, समयसार देता आया।
उपकारों को कैसे भूलें, मैंने तो सब कुछ पाया।।
कुन्दकुन्द का जो आराधक, कुन्दकुन्द-सा ही बन जाये।
कुन्दकुन्द-सा पारस छूकर, कौन नही पारस बन जाये।। □

लेखक-परिचय — उम्र ५२ वर्ष। शिक्षा एम. ए. (हिन्दी)। अभिरुचि धार्मिक अध्ययन, मनन एवं सामाजिक कार्य। योगसार के पद्यानुवादक। सम्प्रति . प्रधानाध्यापक, माध्यमिक विद्यालय। सम्पर्क-सूत्र जयप्रकाश मार्ग, गुना — ४७३००१, मध्यप्रदेश।

दो काव्य-रचनायें

— वीरेन्द्रप्रसाद जैन

□

१. धन्य-धन्य श्री कुन्दकुन्द मुनि

धन्य धन्य श्री कुन्दकुन्द मुनि, आत्म-ज्ञान के दिव्य दिवाकर।
मेटा चिर मिथ्यात्त्व अँधेरा, समयसार की किरण जगाकर।।
महा तपस्वी चारण ऋषिवर, आत्म-साधना-लीन साधुवर।
द्रव्यलिंग के साथ भावमुनि, चिद्विलास कैलास मनोहर।।

स्वाध्याय अध्याय स्वय के, सम्यक्दर्शन समलकृत वर।
सम्यक् ज्ञान-चरित से भूषित, प्रकटे ज्यो कि त्रिरत्न-मूर्तिकर।।
सद्ग्रन्थों के रचन-मनन मे, खोये-खोये मुनि विदेहवर।
लचे हुई गरदन जब टेढी, कहलाये मुनि वक्रग्रीवधर।।

आत्म-साधना मे विदेह अति, गए विदेह देहधर अघहर।
विहरमान सीमन्धर अर्हन्, दर्शन कर सब शकाये हर।।
पुनरावर्तन जब विदेह से, गिरी मयूर-पिच्छिका पथ पर।
गृद्ध पख की पीछी कर ली, कहलाये प्रभु गृद्धपिच्छि-धर।।

प्रभु निर्ग्रन्थ ग्रन्थ-रचनाकर, बने अज्ञतम-हारी दिनकर।
समयसार और नियमसार भी, प्रवचनसार सुग्रन्थ-ज्ञान-धर।।
पचास्तिकाय व अष्टपाहुड, अविरोध ग्रन्थ रचना हितकर।
जिससे विभोर हो जाते है, भविगण उनका अवगाहन कर।।

इस कलिकाल मध्य छाया जव, जड जडवाद अहितकर दुष्कर।
विश्वत्राण-हित प्रकट लोक मे, कुन्दकुन्द स्वामी आभाकर।।
इस भौतिकवादी जग-जल मे, डूब रहे को आप सहारे।
देव! आपके सद्ग्रन्थो ने, अगणित हैं भवि जीव उबारे।।

ग्रन्थ स्वय सद्गुरु समान हैं, धन्य भाग्य जो इन्हे समझते।
भव-वन में जन भटके भटके, तव प्रसाद से शिवमग चलते।।
चिर कृतज्ञ भविजीव आपके, श्रद्धा से अभिभूत हुए है।
शत शत श्रद्धा-सुमन समर्पित, भक्ति-भाव से शीश नए हैं।। □

२. मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक

कुन्द कुसुम-सी कीर्ति-कौमुदी, जिनकी छिटक रही सुखकर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक, कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।।टेक।।

समयसार के अध्येता वे, समयसार अनुभव आया।
समय-दृष्टि खुल गई, समय का सकल विभव दृग-पथ पाया ।।
निर्मल समय-सलिल मे अविरल पैठ गए गहरे ऋषिवर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक, कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।। १ ।।

चुन-चुन गुन-गुन समयसार के, सुधा बिन्दु ही वर्षाये।
गाथाओं में भरे मिले वे, भव्य हृदय पा हर्षाये ।।
अमृतचन्द्र ने समयामृत का. प्रकट कर दिया शुचि सागर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।। २ ।।

निर्मल आत्मा के उद्घाटक, समयसार के सार सुभग।
अन्तरंग खोले अन्तर दृग, मिल जाता है मोक्ष सुभग ।।
अन्तर्चक्षु विचक्षण योगी, मननशील मगल मुनिवर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक, कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।। ३ ।।

साधन साध्य नही हो सकते, अर्थात्मा का हृदयंगम।
दर्शन ज्ञान चरित्र त्रिवेणी, निश्चय एक द्रव्य संगम ।।
निज संगम स्नात समय ही, समयसार का सार निकर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक, कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।। ४ ।।

भेद दृष्टि व्यवहारभूत नय, अभूतार्थ ही दर्शाये।
किन्तु अभेद दृष्टि मे अक्षय, द्रव्य झलक ही झलकाये ।।
आत्म-बोधि श्रद्धान रमण बिन, मिलता कभी न मोक्ष नगर।
मोक्ष-वीथिका के सद्दर्शक, कुन्दकुन्द स्वामी शशिधर ।। ५ ।।

☐

लेखक-परिचय :– उम्र ५६ वर्ष। शिक्षा : बी. ए.। हिन्दी या अंग्रेजी में २० से अधिक रचनाएं प्रकाशित, जिनमें 'तीर्थंकर भगवान महावीर' और 'पार्श्व-प्रभाकर' जैसे महाकाव्य एव 'गीत गंगा' जैसे गीतसंग्रह तथा अनेक कहानी व एकांकी के संग्रह हैं। संप्रति : 'अहिंसा-वाणी' के अवैतनिक सपादक। सम्पर्क-सूत्र :– मु० पो० – अलीगंज, जिला – एटा, उत्तरप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द की कीर्ति अमर रहे।

कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कहीं प्रभाव है

– (श्रीमती) माधुरी 'ज्योति'

□

कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कही प्रभाव है।
जब तक मिथ्यादृष्टि तभी तक पर भावो से लगाव है।।

मृगतृष्णा मे भटका मानव जिसमे हाहाकार है।
अपनी सुध-बुध भूल गया दर-दर फिरता लाचार है।।
कुन्दकुन्द का तत्वकथन ही आत्मशान्ति का द्वार है।
आत्मशान्ति के बिना जगत का वैभव सब नि:सार है।।

ममता की आँधी का देखो नित बढ रहा प्रभाव है।
कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कही प्रभाव है।।

भौतिक उपलब्धि से मानव नीचे गिरता जाता है।
आशा की तृष्णा मे फँसकर अपना सर्व लुटाता है।।
सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण का कुन्दकुन्द पाठ पढाता है।
वीतराग पथ पर चल करके पूर्ण शान्ति पा जाता है।।

भटक रहा अपने कृत्यो से अन्तर ज्योति अभाव है।
कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कही प्रभाव है।।

आत्मगुणो से भूषित होना यह अपनी ही शान है।
स्व-पर भेदविज्ञान करन से मिलता मोक्ष महान है।।
पर मे झुकना यह अपनी जिनमाता का अपमान है।
अनेकात और स्याद्वाद का नारा जग को वरदान है।।

किन्तु आज के मानव जन को दिखता नही स्वभाव है।
कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कही प्रभाव है।।

यह आगम ही कुन्दकुन्द का हितकारी सोपान है।
सकल्प विकल्पो को तजकर ज्ञाता-द्रष्टा भगवान है।।
ध्रुव स्वभाव मे भरा हुआ है कुन्दकुन्द का गान है।
भरा इसी मे पचम गति का मार्मिक अनुपम धाम है।।

अविकारी अविनाशी अविचल अपना समता भाव है।
कुन्दकुन्द की वाणी जैसा और न कही प्रभाव है।। □

लेखिका-परिचय :— उम्र : २६ वर्ष। शिक्षा : एम० ए०, बी० एड०। सम्प्रति : अध्यापिका, खण्डेलवाल वैश्य वालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय, चाँदपोल, जयपुर। अभिरुचि . प्रवचन, लेखन, एकाकी कला। सम्पर्क-सूत्र ११९६, वर्मा बिल्डिंग, चौरूको का रास्ता, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३०२००३।

आचार्य कुन्दकुन्द का जीवन

– पूनमचन्द छाबड़ा

□

यह किंवदन्ती है कि एक बार वन में आग लग गई। सारा जगल जल गया, एक वृक्ष हरा-भरा बचा। उस वृक्ष की छाया मे सब पशु-पक्षी आकर इकट्ठे हो गये। उसी वन मे अपनी गाये चराते जब मतिवर नामक ग्वाले ने उस घटना को देखा तो उसने विचार किया कि यह वृक्ष हरा-भरा कैसे रह गया ? चारो तरफ घूम कर देखा तो उस वृक्ष के कोटर मे एक ग्रन्थ रखा हुआ दिखाई दिया। ग्वाला उस ग्रन्थ को देखकर बहुत प्रमुदित हुआ। ग्रन्थ को सिर पर रखकर ग्राम की तरफ आया। उसकी खुशी का पारावार न था। उसने विचार किया कि इस महान ग्रथ को किसी महान योगी को देकर अपना जीवन सफल करूँगा।

कुछ ही दिनो बाद उस नगर के सेठ के यहाँ एक वीतरागी सत मुनिराज का आहारदान हुआ। ग्वाले ने मुनिराज का आहारदान देखकर अपने जीवन को धन्य माना.– "आज मेरे को अपने जीवन मे प्रथम बार इसप्रकार के महान वीतरागी सत के दर्शन हुए, मेरा जीवन सफल हो गया"।

मुनिराज तो आहार करके वन मे चले गये। ग्वाला भी उनके पीछे-पीछे ग्रन्थ लेकर चल पडा। जहाँ वन मे मुनिराज विराजे थे वहाँ पहुँचकर ग्वाले ने वह ग्रन्थ भेट किया और बोला·– "महाराज ! इस महान ग्रन्थ मे क्या बात लिखी है, इस बात को तो आप जैसे वीतरागी संत ही जान सकते है। आपके श्रीमुख से इस ग्रंथ मे निहित बातें श्रवण कर जगत् के जीव सच्चे सुख की प्राप्ति करे – यही मगल भावना मैं भाता हूँ।"

उक्त शुभभावना के फलस्वरूप वही ग्वाला आगे चलकर उसी ग्राम मे कुन्दकुन्द श्रेष्ठी एव कुन्दलता सेठानी के घर में कुन्दकुन्द नाम का पुत्र हुआ। ऐसे पुत्ररत्न को पाकर कौन माता-पिता प्रसन्न नही होगे ? उनकी खुशी का पारावार नही रहा। कुन्दकुन्द की माता अपने बालक को पालने मे झुलाती हुई अपने मधुर गीतो द्वारा यह भावना भाती थी कि –

> शुद्ध बुद्ध तू नित्य निरंजन, जग की माया से अविकार।
> तू जिनेन्द्र-सा सैनिक बनकर, शीघ्र करे कर्मो का क्षार ।।
> शुद्ध बुद्ध तू सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
> कुन्दकुन्द तू है भगवान, मोह-राग-रुष दुःख की खान ।।

बचपन से ही माता के द्वारा प्रदत्त धार्मिक सस्कारो से ओतप्रोत कुन्दकुन्द ११ वर्ष की अल्पायु मे ही नग्न दिगम्बर साधु बन गये ।

जब वे ११ वर्ष के हुए और उन्होने मुनिदीक्षा अगीकार करने की भावना व्यक्त की तो माता ने अनेक बार मना किया, पर वे अपनी बात पर दृढ रहे, क्योकि उनके अंतरंग मे वैराग्य का समुद्र लहरा रहा था । अन्त मे माता अनेक-अनेक प्रश्न अपने उस पुत्र के सामने रखती है और वह पुत्र कुन्दकुन्द निस्पृह भाव से उन सभी प्रश्नो का जवाब देता है। अतिम प्रश्न माता पूछती है कि बेटा ! तू निर्ग्रन्थ दीक्षा अगीकार करेगा, मुनि दीक्षा अगीकार करेगा, धर्म का धोरी बनेगा, मोक्षमार्ग का नेता बनेगा, वीतरागी मार्ग का प्रणेता बनेगा – यह तो बहुत ही खुशी की बात है; परन्तु यह तो बता कि तेरे विरह मे मैं रोऊँगी तो क्या तुझे अच्छा लगेगा ? तब बालक कुन्दकुन्द जवाब देते हैं :–

"माँ ! तुझे जितना रोना हो रो ले, पर मै तुझे विश्वास दिलाता हूँ कि अब मै किसी माता को नही रुलाऊँगा। इस ही भव मे ऐसा पुरुषार्थ करूँगा कि मुझे किसी नवीन माता के गर्भ मे पुन जन्म नही लेना पड़ेगा।"

धन्य हैं वे शुभ दिन, धन्य है वह काल, धन्य है वे श्रावकजन और धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्हे इसप्रकार के भावलिंगी बाल योगीश्वरो का सान्निध्य प्राप्त होता था। धन्य है वह मुनिदशा। जिसके घर मे मुनिभगवत का आहार होता है वह तो कहता है कि आज मेरे आँगन मे मोक्षमार्ग चलता-चलता आया।

भरतक्षेत्र के भव्यजीवो की चतुर्गति का अभाव कैसे होवे और पचमगति की प्राप्ति कैसे होवे – इस भावना से प्रेरित होकर आचार्य कुन्दकुन्द पच परमागमो की रचना करते है। मद्रास से ८० मील दूर पोन्नूर ग्राम के निकट पोन्नूर हिल पर बैठकर उन्होने पच परमागम की रचना की थी। पोन्नूर अर्थात् सोना। जैसे सोने पर जग नही लगती है उसीप्रकार पच परमागमो के अभ्यास करने वाले मुमुक्षुओ के मिथ्यात्व की जंग नही लग सकती।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय और अष्टपाहुड जैसे महान ग्रथो के रूप मे आचार्य कुन्दकुन्द आज दो हजार वर्ष बाद भी जीवित हैं। जो आत्मार्थीजन इन पच परमागमो का स्वाध्याय करेंगे उनके भव बिगड़ेंगे नही, भव बढेंगे नही।

महान प्रतिभा के धनी आचार्य कुन्दकुन्द ने समस्त जिनागम का सार अपनी लेखनी मे निहित कर दिया है, जो कि उनकी ज्ञान-गरिमा का प्रतीक है। इतना होते हुए भी विशेष बात यह है कि उन्होने कही अपना नामोल्लेख नही किया है। सो ठीक ही है – अपने अतरंग मे निमग्न रहनेवाले निस्पृही सतो का स्वभाव भी कुछ ऐसा ही होता है कि उन्हे अपनी नाम-ख्याति का लोभ नही होता। उनके उपदेशो का श्रवण कर कितने ही भव्यजीवो का कल्याण हुआ और भविष्य मे भी होता रहेगा। □

लेखक-परिचय — उम्र ५२ वर्ष। शिक्षा . मैट्रिक। सफल व्यापारी भी और समर्पित तत्वप्रचारक विद्वान भी। उपमन्त्री . पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर। सम्पर्क-सूत्र M/s महावीर एण्ड कं., मुछाल भवन, एम. टी. क्लॉथ मार्केट, इन्दौर – ४५२००२, मध्यप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कुछ धारणायें

– डॉ० अनिलकुमार जैन

□

एक किंवदन्ती[1] है कि भरत खण्ड के दक्षिण देश मे पिदठनाडु जिले के कुरूमराई नामक नगर मे करमुण्ड नामक सेठ (व्यापारी) था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उसके यहाँ मतिवरन् नाम का एक ग्वाले का लड़का रहता था। एक बार की बात है कि इनके नगर में विशुद्ध चारित्र के धारक दिगम्बर मुनियो का शुभागमन हुआ। यह समाचार सुनते ही सेठ-सेठानी के हृदय-कमल खिल उठे। उन्होंने मुनियों के लिये आहार की व्यवस्था की।

इसी बीच एक घटना और हुई कि ग्वाला नित्य-प्रति की भाँति उस दिन भी प्रातः गायो को चराने के लिए गया। वहाँ जंगल में उसने एक आश्चर्यजनक घटना देखी कि सारा जंगल सूखा पडा है, लेकिन एक जगह काफी हरियाली दिखाई दे रही है। ग्वाला उसी स्थान पर गया। वहाँ उसे एक सन्दूक दिखाई दिया। उस सन्दूक को खोलने पर उसमे एक आगम ग्रंथ रखा हुआ मिला। इधर सेठ और सेठानी बहुत ही भक्तिपूर्वक मुनि महाराज को आहार दे रहे थे। इसप्रकार आहारदान के कारण युगल दम्पत्ति ने बहुत पुण्य-संचय किया। उस समय तक ग्वाला भी वही पहुँच चुका था। ग्वाले ने भी आहार-दान की अनुमोदना की तथा आहार के पश्चात् जंगल मे मिला आगम ग्रथ मुनिश्री को भेंट किया। कुछ समय बाद आयु पूर्ण हो जाने पर यही ग्वाला इन्हीं सेठ-सेठानी के पुत्र उत्पन्न हुआ। बचपन से ही यह बालक बहुत प्रतिभाशाली तथा असाधारण व्यक्तित्व वाला था। देखते ही देखते कुछ समय मे वह सभी विद्याओ में पूर्ण पण्डित हो गया।

एक बार दिगम्बर मुनि श्री जिनचन्द्राचार्य विहार करते हुए उनके नगर में पधारे। आचार्यश्री के धर्मोपदेश से वह पुत्र बहुत प्रभावित हुआ तथा अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर उसने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। मुनि-दीक्षा के समय इस बालक की आयु १२ वर्ष की ही थी। आगे चलकर वही बालमुनि आचार्य कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

[1] (क) कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न : गोपालदास जीवाभाई पटेल
(ख) जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २ : पं० परमानन्द शास्त्री
(ग) जैनधर्म की पूर्वपीठिका और हमारा अभ्युत्थान : प्रो० हीरालाल जैन
(घ) संक्षिप्त जैन इतिहास : बाबू कामताप्रसाद

कुछ लोगों का मत है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तप के प्रभाव से चारण ऋद्धि भी प्राप्त कर ली थी। इसी के प्रभाव से वे विदेह क्षेत्र गये तथा वहाँ विद्यमान तीर्थंकर सीमन्धर स्वामी के समवसरण मे जाकर साक्षात् धर्मोपदेश सुना।

कहते है कि एक बार आचार्य कुन्दकुन्द ५९४ मुनियो के साथ गिरिनार पर्वत पर गये। वहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री शुक्ल भी मौजूद थे। दोनो मे शास्त्रार्थ हुआ तथा आचार्य कुन्दकुन्द विजयी हुये।

आचार्य कुन्दकुन्द का निधन ९६ वर्ष की दीर्घायु मे वि०स० १४५ मे हुआ।

कुछ विद्वानो का मत है कि आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म राजस्थान के कोटा-बूँदी के निकट वाराह (वारापुर) नामक स्थान पर हुआ था। इस कथन के दो आधार हैं – 'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रथ तथा वाराह मे स्थित श्री कुन्दकुन्द की छतरी।

'ज्ञानप्रबोध' नामक ग्रन्थ मे आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म-स्थान वारापुर दिया है, लेकिन अधिकतर विद्वानो ने इस ग्रन्थ को अर्वाचीन ही माना है, अत इस ग्रन्थ के कथन को प्रामाणिक नही माना जा सकता है। जहाँ तक वाराह मे स्थित छतरी का प्रश्न है, उसके लिए यह बताना आवश्यक होगा कि 'कुन्दकुन्द' नाम के तीन मुनि हुये हैं। आचार्यश्री के अतिरिक्त जो दो अन्य कुन्दकुन्द मुनि हुये हैं, वे क्रमश सवत् १२४९ तथा सवत् १३८५ मे हुये है। इसका उल्लेख सौरीपुर से प्राप्त पट्टावली मे किया गया है। अतः सभव है कि वाराह की उक्त छतरी कुन्दकुन्द नामक किसी अन्य दिगम्बर मुनि को हो।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द की जाति – किसी भी महान आत्मा के लिए उसकी जाति की बात करना कोई कीमत नही रखता; लेकिन उस जाति विशेष के लिए अवश्य ही यह एक महत्त्वपूर्ण बात है, जिसमे उन्होने जन्म लिया, क्योकि जिससे आगे आनेवाली पीढी को बताया जा सके कि ऐसे-ऐसे महापुरुष इस जाति मे हो चुके है, अत. वे भी उनके बताये रास्ते पर चले। बहुत समय से यह एक चर्चा का विषय रहा है कि आचार्य कुदकुद किस जाति मे उत्पन्न हुये थे।

अबतक प्राप्त पट्टावलियो मे कुछ पट्टावलियाँ ही ऐसी है जिनमे प्रत्येक आचार्य की जाति का भी उल्लेख किया गया हो। ऐसी पट्टावलियो मे एक पट्टावली[2] नागौर के शास्त्र भण्डार मे से प्राप्त हुई है तथा एक अन्य पट्टावली आचार्य विमलसागरजी के गुरु आचार्य महावीरकीर्तिजी ने शिलालेखो तथा प्रशस्तियो के आधार पर बनाई है।[3] सौरीपुर से प्राप्त पट्टावली मे भी आचार्यों की जाति का उल्लेख मिलता है। इन सब से पता चलता है कि आचार्य कुदकुद पल्लीवाल जात्युत्पन्न थे। नागौर से प्राप्त पट्टावली मे इसप्रकार लिखा है :–

---

[1] लबेचू जाति का इतिहास प० झम्मनलाल

[2] सीकर से प्रकाशित चामुण्डराय कृत 'चारित्रसार' के अन्त मे, पट्टावली

[3] श्री महावीरकीर्ति स्मृति ग्रथ स० डॉ० नेमेन्द्रचन्द्र जैन

"श्री मिती पौष कृष्णा ८ विक्रम सवत् ४९ (उनपचास) और श्री वीरनिर्वाण संवत् ५१९ (पाँच सौ उन्नीस) में पल्लीवाल जात्युत्पन्न श्री कुन्दकुन्दाचार्य हुये। श्री कुन्दकुन्दाचार्य का गृहस्थावस्था काल ११ वर्ष रहा, दीक्षा काल ३३ वर्ष, पटस्थ काल ५१ वर्ष १० माह १० दिन, विरह दिन ५–इसप्रकार से ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की सम्पूर्ण आयु थी। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ही ४ (चार) नाम थे :–(१) श्री पद्मनन्दि, (२) श्री वक्रग्रीव, (३) श्री गृद्धिपिच्छ (गृद्धपिच्छ), और (४) श्री इलाचार्य (एलाचार्य)।"

लेखक प० नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार जिन पट्टावलियों में आचार्यों की जाति का उल्लेख किया है वे चौदहवी शताब्दी के पूर्व की नही हैं। कुछ विद्वान विभिन्न जैन जातियो की उत्पत्ति का समय दसवी-ग्यारहवी शताब्दी ही मानते है, अतः उनके अनुसार आचार्य कुंदकुंद आदि की जाति का उल्लेख करना गलत है।[1]

जो विद्वान जैन जातियो की उत्पत्ति आचार्य भद्रबाहु से मानते हैं, उनके अनुसार उक्त जाति का उल्लेख सही है। मेरी भी यही मान्यता है कि पल्लीवाल जाति सहित कई जातियो की उत्पत्ति आचार्य भद्रबाहु तथा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हो गई थी तथा आचार्य कुदकुद पल्लीवाल जात्युत्पन्न थे।

कुरल काव्य :– कुरल काव्य तामिल भाषा का सुन्दर ग्रन्थ है। लोग इसे तमिल-वेद, ईश्वरीय ग्रन्थ आदि कई उपनामो से पुकारते है। इस काव्य का अंग्रेजी-हिन्दी-सहित कई देशी तथा विदेशी भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। ईसाई लोग इसे ईसाई ग्रन्थ बताते है। हिन्दू लोगो की मान्यता है कि यह ग्रंथ किसी अछूत हिन्दू की कृति है। वस्तुतः यह एक जैनग्रन्थ है। प० गोविन्दराय शास्त्री महरौनी (झाँसी) ने सफलतापूर्वक यह सिद्ध किया है कि कुरल एक जैन कृति है तथा इसके रचयिता श्री एलाचार्य है। एलाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य का ही दूसरा नाम है।[2]

सभी जैन विद्वान इस बात से सहमत हो – ऐसा नही है। कुछ का मानना है कि आचार्य कुन्दकुन्द का मात्र एक नाम पद्मनन्दि था। एलाचार्य, गृद्धपिच्छ तथा वक्रग्रीव आचार्यश्री के नाम नही थे। चूकि कुरल काव्य के रचयिता कुंदकुदाचार्य से भिन्न एलाचार्य हैं, अत. कुरल कुन्दकुन्दाचार्य की कृति नही हो सकती।[3]

लेकिन अधिकतर मान्यता यही है कि कुरल एक जैनकृति है तथा इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ही है, जिनका दूसरा नाम एलाचार्य है। □

---

[1] अनेकात, वर्ष ३, पृष्ठ ४४१ (मई, सन् १९४०)

[2] कुरल काव्य . प० गोविन्दराय शास्त्री

[3] भगवान कुन्दकुन्दाचार्य · वाबू भोलानाथ जैन

लेखक-परिचय :– उम्र : ३१ वर्ष। शिक्षा : एम.एस-सी., पी-एच.डी.। अभिरुचि : जैन साहित्य एवं धर्म से सम्बन्धित लेख लिखना। सम्प्रतिः : सहायक निदेशक (आगार) तैल एवं प्राकृतिक गैस आयोग। सम्पर्क-सूत्र : A33/AONGC कॉलोनी, अंकलेश्वर–३९३०१० गुजरात।

कलिकाल-सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

–डॉ॰ चन्दुभाई कामदार

□
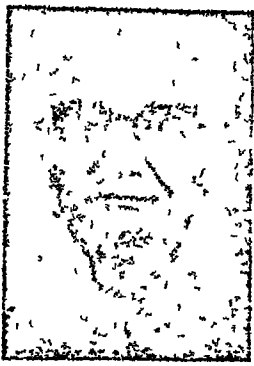
बनावु पत्र कुन्दननां, रत्नोंना अक्षरो लखी।
तथापि कुन्दसूत्रोनां, अंकाये मूल्य ना कदी॥

उपर्युक्त पक्तियो मे आचार्य कुन्दकुन्द के गाथासूत्रो की महिमा मे कहा गया है कि स्वर्ण के पन्नो पर रत्नो के अक्षर लिखे जावें, तो भी कुन्दकुन्दाचार्य के गाथासूत्रों का मूल्याकन कम ही प्रतीत होगा। ऐसे महान ग्रथो के रचयिता परम आगमधर परमपूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित समयसार शास्त्र ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की जीवनदशा के परिवर्तन मे निमित्त बना था। आज दिगम्बर जैन परम्परा मे आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव और उनके रचे हुए शास्त्रो को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

मगलाचरण मे भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद तीसरा स्थान आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनका कार्य गणधर-तुल्य था। उनके द्वारा की गई श्रुतसेवा बेजोड़ मानी जाती है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधर देव के वचनो के समान ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् रचे गये शास्त्रो के आधारभूत माने जाते है। परवर्ती आचार्यों ने स्वय के कथन को सिद्ध करने लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित शास्त्रो को ही प्रमाणभूत माना है।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् पांच श्रुतकेवली हुये, जिनमे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। तब तक तो भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग यथार्थ रीति से प्रवर्तता था, जीवो के परिणाम साधारण एव सरल थे; परन्तु कालान्तर मे हीनता आना प्रारम्भ हुआ, गृहस्थ एव साधुजीवन मे शिथिलता बढने लगी, धर्म का वास्तविक स्वरूप भूलकर बाह्य स्वरूप को धर्म का स्वरूप माना जाने लगा। आचार्यों के आचार-विचार मे भी शिथिलता आने लगी एव क्रियाकाण्ड धर्म का प्रमुख अग बनता चला गया।

पाँचवें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परिपाटी में दो समर्थ मुनि हुए:– धरसेनाचार्य और गुणधराचार्य। गुणधराचार्य की परिपाटी मे कुन्दकुन्दाचार्य हुये। धरसेनाचार्य की परिपाटी मे हुए आचार्यों ने प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना की, जिसमे मुख्यता से धर्म के व्यवहार स्वरूप का निरूपण किया गया है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की, जिसमे मुख्यत: निश्चयनय से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन है।

इन शास्त्रों की रचनाओं मे उन्हे गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान-वैभव एवं स्वानुभूति का बल प्राप्त था। उन्हें विदेहक्षेत्र में विराजमान भगवान सीमन्धर स्वामी की दिव्य-ध्वनि का भी योग मिला था। इसप्रकार हम कह सकते है कि अनेक शास्त्रो में दिव्यध्वनि का सार है और उनके द्वारा रचे गये शास्त्र प्रमाण माने जाते हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह, नियमसार और अष्टपाहुड आदि शास्त्रो का समावेश होता है। उनके द्वारा अनेक शास्त्रो की रचना की गई थी, परन्तु काल-दोष के कारण अन्य शास्त्र लुप्त हो गये।

समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय—तीनों परमागम प्राभृतत्रय माने जाते हैं। इन तीनो शास्त्रो मे सर्व शास्त्रों का सार गर्भित है—ऐसा कहे तो चले।

समयसार उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, जिसमें 'एकत्व-विभक्त' आत्मा की बात अत्यन्त करुणापूर्वक भव्य जीवो को बतायी है। सम्पूर्ण शास्त्र में शुद्धनय की प्रधानता से कथन किया है। अजीव-आस्रव से भेदज्ञान करके शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे हो, सम्यग्दर्शन कैसे हो - यह मूलभूत सिद्धांत बताना ही उनका आशय (उद्देश्य) है। व्यवहारनय का ज्ञान कराके सम्पूर्ण व्यवहार को अभूतार्थ करके (गौण करके) एक शुद्धात्मा की ही मुख्यता बतायी है। शुद्धता के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एव मुक्ति प्राप्त होती है। अनुभूति के लिए कोई भी व्यवहार, विकल्प, नयपक्ष, चिन्तन, मनन आदि का विचारना कार्यकारी नही है; व्रत, तप, सयमरूपी स्थूल शुभभाव के विकल्प की तो बात ही क्या करना ?

यो तो चारों अनुयोगों से ही; वीतरागता निकलती है। फिर भी भेदज्ञान के लिए - आत्मा की अनुभूति के लिए श्री समयसार शास्त्र मे सरल, सहज, स्वाभाविक मार्ग बताया है। वर्तमान मे कितने ही जीवो को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में यह शास्त्र उपकारी निमित्तभूत हुआ है।

प्रवचनसार भी उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसमे मुख्यता से ज्ञानप्रधान कथन-शैली को अपनाया गया है। दो द्रव्यो की भिन्नता की मुख्यता से कथन किया है। ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व भिन्न-भिन्न जानने वाले को मोह नही रहता, सम्यग्दर्शन होता ही है। द्रव्य-गुण-पर्याय को यथार्थ जानने से मोह का नाश होता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। रागादि, जीव के स्वयं के परिणाम हैं, जीव की दशा मे स्वय से ही किये हुए हैं; कर्मों ने नही कराये, कर्मकृत नहीं हैं, वे जीव के ही हैं - ऐसा कहा है। जीव के ये परिणाम विकार हैं, दोषरूप है, अज्ञानभाव मे स्वयं-कृत हैं - ऐसा जानने वाला इनके अभाव के लिए स्वरूप का अवलम्बन करे तो राग-द्वेषों का नाश करके अन्तरात्मा व परमात्मा की दशा प्राप्त करता है।

पंचास्तिकायसंग्रह मे पाँच अस्तिकाय और छः द्रव्यो का निरूपण किया है। सात तत्त्वों और मोक्ष-प्राप्ति के उपाय का निश्चय-व्यवहारपूर्वक वर्णन किया है।

नियमसार शास्त्र को स्वयं की भावना के लिए रचा है। बार-बार अनुप्रेक्षा करने के लिए एक स्वाभिमुख सत्क्रिया को प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, सामायिक,

भक्ति, श्रावश्यक क्रिया श्रौर योग श्रौर संवर श्रादि श्रनेक नामों से कहा है । इसप्रकार पृथक्-पृथक् श्रधिकारो मे एक ही बात को बार-बार मन्थन किया है । रत्नत्रय मार्ग परमनिरपेक्ष है, जिसमे कोई व्यवहार का होना श्रावश्यक नही — ऐसा सर्वांगीण ज्ञान कराया है ।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित परमागम शास्त्रो मे बारह श्रगो का सार श्रा जाता है । श्रौर इसप्रकार उन्होने हमे दिव्यध्वनि के वियोग का श्रहसास नही होने दिया है । ऐसा 'कलिकाल-सर्वज्ञ' जैसा उन्होने कार्य किया हैं ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के स्वर्गवास को जब एक हजार वर्ष बीत गए तब श्री श्रमृत-चन्द्राचार्यदेव का उदय हुश्रा । जयसेनाचार्य, पद्मप्रभमलधारीदेव श्रादि समर्थ टीकाकार भी दिगम्बर जैन परम्परा मे हुये । श्री कुन्दकुन्द श्राचार्यदेव के शास्त्रो से वे प्रभावित हुये श्रौर उनके शास्त्रों पर उन्होने टीका रची श्रौर जैन समाज मे कुन्दकुन्दाचार्य देव को समझाने मे सरलता कर दी ।

तत्पश्चात् एक हजार वर्ष श्रौर बीत गये श्रौर पूज्य श्री कानजी स्वामी का वर्तमान काल मे उदय हुश्रा । उन्होने श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा रचित शास्त्रो तथा उन पर समस्त श्राचार्यों द्वारा लिखी हुयी टीकाश्रो की ज्ञानगगा बहायी, जिससे ज्ञानामृत का सारे भारतवर्ष मे प्रसार होने लगा श्रौर शास्त्रो का श्रध्ययन-पठन श्राज भी घर-घर मे हो रहा है ।

ये परमागम शास्त्र मार्ग भूले हुए जीवो को पाँचवें काल के श्रन्त तक मोक्षमार्ग सूचक होते रहेगे — ऐसी इन शास्त्रो की सामर्थ्य है ।

धन्य हो, धन्य हो, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव धन्य हो ! श्रापका हमारे ऊपर श्रनन्त-श्रनन्त उपकार है, जिसका वर्णन करने की हमारी तुच्छ वाणी मे सामर्थ्य नही है । श्रापके चरणो मे हमारा कोटि-कोटि वन्दन हो । □

लेखक-परिचय :—उम्र : ७७ वर्ष । शिक्षा एम.बी.बी.एस. । श्रभिरुचि : श्राध्यात्मिक तत्त्व-चिंतन श्रौर प्रवचन । संप्रति : 'गुरु-प्रसाद' (गुजराती मासिक) के सम्पादक । सम्पर्क-सूत्र C/o श्री दिगम्बर जैन सघ, ५, पचनाथ प्लाट, राजकोट, गुजरात ।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका मूलसंघ

– हरकचन्द सेठी, अजमेर

भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली तथा अगज्ञान के धारी हुये। इसप्रकार ६८३ वर्ष तक यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रचलित रही। श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय १२ वर्ष का अकाल पड़ने के कारण उस समय जिन मुनिराजो से मुनिधर्म का पालन नही हो सका तथा भद्रबाहु के निर्देशानुसार दक्षिण भारत मे जो मुनिगण नही जा सके उन्होने श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी जन्म दिया।

यद्यपि यह सघ भेद उस समय प्रारंभ हो गया था, तथापि अधिकाश बातो मे दिगंबर जैन सम्प्रदाय का ही अनुसरण होता आ रहा है। शनै. शनै. इनके बाद मे अन्य आचार्य होते गये। उन्होंने अन्य भेदो को भी समय-समय पर पनपा दिया। परिणामस्वरूप सघभेद के साकार होकर सामने आने से दिगम्बर व श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय बन गये। फिर भी इसका प्रभाव श्रावकों पर विशेष रूप से नही पडा और अनुयायिगणो ने विशेष ध्यान भी नही दिया। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मुनिदीक्षा ली और १२ वर्ष की अवस्था मे आचार्य-पदासीन हुये। उस समय सघभेद विशेष रूप से तब सामने आया, जबकि आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने श्रमण संघ सहित गिरनार पर्वत पर पदार्पण किया। उसी समय श्वेताम्बर आचार्य भी अपने सघ सहित वदनार्थ वहाँ गये हुए थे।

जब तीर्थ-वदना का समय आया तब यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि प्रथम वदना कौन करे—इसका निर्णय होने पर ही कोई सघ वदनार्थ गिरनार पर्वत पर जा सकेगा।

दिगम्बर व श्वेताम्बर पक्ष के दोनो आचार्यो ने इसका निर्णय कराने के लिये अपनी-अपनी युक्ति, तर्क व आगम पर विवेचन करना प्रारभ कर दिया। इस विवाद के निर्णय के लिये अम्बिका देवी को मध्यस्थ माना गया।

विवाद प्रारंभ हुआ और अपने-अपने तर्क दोनो पक्षो ने रखे। इस विवाद मे अम्बिका देवी से आचार्य कुन्दकुन्द ने कहलवा दिया कि दिगबर पथ ही सत्य है 'सत्य पथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर, कही सुरी तहँ प्रकट पुकार'। इसप्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने संघ सहित गिरनार पर्वत की सानद यात्रा करके दिगम्बर जैनधर्म का महत्त्व दिखला दिया। उस समय दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे मूलसंघ की घोषणा हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय प्राकृत भाषा का ही पठन-पाठन होने से इसी मे उनका प्रवचन हुआ। ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी प्रारम्भिक रचना अष्टपाहुड से शुरू हुई और इसके बाद उन्होंने नियमसार, प्रवचनसार आदि ग्रथों की रचना की है। आचार्यश्री की रचनाएँ प्राकृत भाषा मे होने से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि उस समय हमारे यहाँ प्राकृत भाषा का ही अधिक प्रचलन था।

आचार्यश्री की अन्तिम रचना समयसार है जो आध्यात्मिक विद्या का अनुपम व सर्वोच्च ग्रथराज है। आचार्यश्री ने दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की महान रक्षा की है। जिसके कारण प्रतिमाओ पर आचार्य कुन्दकुन्द आम्नाय मूलसघ सरस्वती गच्छ बलात्कार गरण अकित होता आ रहा है जो प्रमाण कोटि मे माना जाता है।

दिगम्बर व श्वेताम्बर सघ भेद के समय दिगम्बर जैनधर्म की रक्षा की है, जिसके कारण देश मे इस दिगम्बर सम्प्रदाय को आदि धर्म कहते हैं। श्वेताम्बर समाज भी दिगम्बर जैनधर्म की प्राचीनता को स्वीकार करती आ रही है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने दीर्घकाल तक आचार्य पद पर आसीन होते हुये दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया। वे विक्रम स० १०० तक इस भौतिक शरीर मे विद्यमान रहे, वि० स० १०१ मे इनके उत्तराधिकारी पट्टाधीश आचार्य श्री उमास्वामी पदासीन हुये।

आचार्य उमास्वामी भी इनके अद्वितीय उत्तराधिकारी हुये है। जिन्होने तत्त्वार्थसूत्र ग्रथ की रचना की है। यद्यपि यह ग्रथ दिखने मे लगता छोटा है, लेकिन गागर मे सागर भर दिया है। आचार्य समन्तभद्र, अकलकदेव और विद्यानन्दी आदि आचार्यों ने इस पर विस्तृत टीकाएँ लिखकर इस ग्रथ की महत्ता को ससार के समक्ष दिखाते हुये प्रतिपादित विषयो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आचार्य पद पर चतुर्थ थे, लेकिन इन्होने दिगम्बर धर्म की अपूर्व रक्षा की है। दिगम्बर धर्म को बचाया—इस कारण कुन्दकुन्द आम्नाय व मूलसघ, सरस्वती गच्छ व बलात्कार गरण से अधिक प्रसिद्ध एव प्रचलित हो गया।

अन्त मे इस प्रसग पर आदरणीय श्री कानजी स्वामी को नही भुलाया जा सकता; क्योकि इस युग मे उन्होने समयसार ग्रन्थ को स्वय समझकर इसके पठन-पाठन का जो प्रचार-प्रसार किया और करवाया है, उससे समाज आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी से परिचित हुआ और उनकी रचनाओ के स्वाध्याय की परिपाटी भी प्रचलित हुई। □

आचार्य कुन्दकुन्द का संदिग्ध साहित्य

— विमलकुमार शास्त्री

□

दिगम्बर जैन साधुगण स्वय को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने मे गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके बाद के ग्रथकार आचार्य स्वयं के किसी कथन को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्रो का प्रमाण देते है जिससे वह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। उनके पीछे के रचे हुए ग्रथों मे उनके शास्त्रों में से अनेकानेक अवतरण लिए हुए है। वि० सं० ६६० में श्री देवसेनाचार्य अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ मे कहते हैं कि :—

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणारोण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।।

अर्थात् विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सोमधर स्वामी से प्राप्त दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनदिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) बोध नही दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?"

द्वितीय उल्लेख मे कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कलिकाल-सर्वज्ञ कहा गया है। वे पद्मनदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य — इन पाँच नामों से विभूषित हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि सनातन दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे कलिकाल-सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान बेजोड है।

उपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य में कालक्रम की दृष्टि से कसायपाहुड और षट्खण्डागम सूत्रो के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य-रचित साहित्य का ही नम्बर आता है। इस दृष्टि से उक्त दोनों आगमिक सूत्र-ग्रंथों को बाद कर दिया जावे तो दिगम्बर जैन परम्परा मे कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य ही आद्य साहित्य ठहरता है। 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' में उन विषयो की कोई चर्चा नही, जिन विषयो की चर्चा कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित साहित्य मे है, अत. उनके साहित्य का महत्त्व और भी बढ जाता है; क्योकि वह जैन परम्परा का एतद्विषयक आद्य साहित्य ठहरता है। उत्तरकाल मे जैन परम्परा में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व और आचार विषयक जो विचारधारा प्रवाहित हुई और ग्रन्थकारो ने अनेक ग्रन्थों में जिन विषयों को पल्लवित और पुष्पित किया, उनका मूल

कुन्दकुन्द-रचित साहित्य ही है, अत जो स्थान वैदिक धर्म में उपनिषदो को प्राप्त है, वही स्थान दिगम्बर जैन परम्परा मे कुन्दकुन्द के साहित्य को है। उनके प्राभृतो को यदि जैन उपनिषद् कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

डॉ० उपाध्ये ने लिखा है कि शायद वेदान्तियो के प्रस्थानत्रयी की समानता के आधार पर कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार को नाटकत्रय या प्राभृतत्रय कहते है। ये तीनो ग्रन्थ जैनो के लिये उतने ही पवित्र और मान्य हैं जितने वेदान्तियो के लिए उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता।[1]

कुन्दकुन्द के प्राय सभी ग्रथ 'पाहुड' कहे जाते हैं। 'पाहुड' का सस्कृतरूप 'प्राभृत' होता है। 'प्राभृत' का अर्थ है भेंट। इसी को लक्ष्य मे रख जयसेन ने अपनी टीका मे 'समयप्राभृत' का अर्थ इसप्रकार किया है –

जैसे देवदत्त नामक कोई व्यक्ति राजा का दर्शन करने के लिए कोई सारभूत वस्तु राजा को देता है उसे प्राभृत (भेंट) कहते हैं, उसीप्रकार परमात्मा के आराधक पुरुष के लिए निर्दोष परमात्मा रूपी राजा का दर्शन करने के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत है।[2]

'प्राभृत' का आगमिक अर्थ यतिवृषभ ने अपने चूर्णि सूत्रो मे इस प्रकार किया है :–

"जम्हा पदेहि पुद। (फुड) तम्हा पाहुड।[3]"

जयधवला मे वीरसेन स्वामी ने 'प्राभृत' का अर्थ इसप्रकार किया है :–

प्र+आभृत अर्थात् जो प्रकृष्टरूप से तीर्थंकर के द्वारा प्रस्तापित किया गया है वह 'प्राभृत' है अथवा विद्या ही जिनका धन है – ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा रूप से लाया गया है, वह 'प्राभृत' है।[4]

अत 'प्राभृत' शब्द इस बात का सूचक है कि जिस ग्रथ के साथ वह 'प्राभृत' शब्द सयुक्त है वह ग्रथ द्वादशाग वाणी से सम्बद्ध है, क्योंकि गणधर के द्वारा रचित अगो और पूर्वों मे से पूर्वों मे 'प्राभृत' नामक अवान्तर अधिकार होते थे। 'कसायपाहुड' और 'षट्खण्डागम' दोनो क्रम से पाँचवे और दूसरे पूर्व से सम्बद्ध है। पहला भाग उनकी युक्ति और आगम मे कुशलता की छाप से अकित है और दूसरा भाग प्रतिपादन शैली से, किन्तु समयसार में तो उनकी दोनो विशेषताएँ पद-पद पर दिखाई देती हैं। कुन्दकुन्द के दोनो गुणो का निखार समयप्राभृत मे अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया है। निश्चय और व्यवहार का सामजस्य उनकी युक्ति और आगम की कुशलता का अपूर्व उदाहरण है तथा उसके द्वारा की गई परमार्थ की सिद्धि उनके प्रतिपादन का चमत्कार है।

---

[1] प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृष्ठ १

[2] यथा कोऽपि देवदत्त राजदर्शनार्थं किंचित् सारभूत वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृत भण्यते तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्र प्राभृतम्।

[3] कसायपाहुड, भाग १, पृष्ठ ३८६

[4] प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृन प्रस्तापित इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृत धारित व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्। – कषायपाहुड, भाग १, पृष्ठ ३२५

सचमुच मे कुन्दकुन्द का साहित्य हमारे लिए उतना ही महान है, जितनी भगवान ावीर की दिव्यवाणी और गौतम गणधर द्वारा ग्रथित द्वादशाग ।

यहाँ हमे आचार्य कुन्दकुन्द के उस साहित्य का परिचय कराना अभीष्ट है, से कुन्दकुन्द-रचित मानने मे सन्देह अथवा विवाद है :–

१. परिकर्म :– इन्द्रनन्दी के 'श्रुतावतार' से ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी रा 'षट्खण्डागम' के आद्यभाग पर जो 'परिकर्म' नाम का ग्रंथ रचा गया है, धवला टीका उसके अनेक उद्धरण उपलब्ध हैं। कुन्दकुन्द के समय की चर्चा करते हुए यह सिद्ध करने प्रयत्न किया गया है कि 'परिकर्म' कुन्दकुन्द-रचित होना चाहिए तथा यह ग्रंथ रणानुयोग का अपूर्व ग्रन्थ होना चाहिए। उसके प्रकाश मे आने पर कुन्दकुन्द की त्यागमकुशलता मे चार चाँद लग जायेंगे ।

२. मूलाचार :– इस ग्रन्थ के टीकाकार वसुनन्दी ने मूलाचार को वट्टकेराचार्य कृति लिखा है। यथा :– "इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्याय: । कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत लाचाराख्यविवृत्ति: । कृतिरिय वसुनन्दिन: श्री श्रमणस्य ।"

डॉ० उपाध्ये तथा जुगलकिशोरजी मुख्तार मूलाचार के प्रवर्तक कुन्दकुन्द को ही ानते हैं। उन्होने लिखा है कि सम्भव है कुन्दकुन्द के प्रवर्तकत्व गुण को लेकर ही नके लिए 'बट्टकेर' शब्द का प्रयोग किया गया हो ।[1] पण्डित हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री भी 'बट्टकएराचार्य' का 'वर्तकएलाचार्य' अर्थ कल्पित करते हुए मूलाचार को कुन्दकुन्द ी कृति बताया है ।[2] पण्डित परमानन्दजी ने भी मूलाचार की गाथाओं का मिलान न्दकुन्द के अन्य ग्रंथों के साथ करके यही निष्कर्ष निकाला है ।[3] किन्तु श्री नाथूरामजी मी ने बट्टकेरि को मूलाचार का कर्ता माना है। उनका कहना है कि 'बेट्टगेरि' या ेट्टकेरी' नाम के कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचार के कर्त्ता उन्ही मे से किसी ेट्टगेरि' या 'बेट्टकेरि' ग्राम के रहनेवाले होगे और उस पर से कौण्डकुन्दादि की तरह वट्टकेरि' कहलाने लगे होगे ।[4]

इसप्रकार इसके सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं; किन्तु मूलाचार एक प्राचीन ग्रथ है तिलोयपण्णत्ति' मे उसका उल्लेख मिलता है, तथा जैसे कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, ंचास्तिकायसग्रह और समयसार की अनेक गाथाएँ तिलोयपण्णति मे सगृहीत है, वैसे ही ूलाचार की भी कतिपय गाथाएँ सगृहीत है, अत: यदि 'मूलाचार' कुन्दकुन्द-कृत हो तो ोई आश्चर्य नही, क्योकि मूलसघ के मूल आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा 'मूलाचार' नामक ंथ रचा जाना उचित और संभव प्रतीत होता है, किन्तु दूसरे नाम के रहते हुए सबल माणो के बिना 'मूलाचार' को कुन्दकुन्द का नही कहा जा सकता है ।

[1] जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ १००
[2] अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ११, पृष्ठ ३३२
[3] अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ३१
[4] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १२, किरण १

३. रयणसार :– इसके सम्बन्ध में डॉ० उपाध्ये ने लिखा है कि उसमे विचारो की पुनरुक्ति है और व्यवस्थितपना सतोषजनक नही है – इसका कारण अतिरिक्त गाथाओ की मिलावट हो सकती है। उसके मध्य मे एक दोहा तथा लगभग आधा दर्जन पद्य अपभ्रंश भाषा मे हैं। कुन्दकुन्द के ग्रथो मे ऐसा नही पाया जाता; अत: जिस स्थिति मे 'रयणसार' वर्तमान है उसे कुन्दकुन्द का नही माना जा सकता है। यह सभव है कि 'रयणसार' का आधारभूत रूप कुन्दकुन्द-रचित हो। पुष्पिका मे कुन्दकुन्द का नाम नही है। कुन्दकुन्द के ग्रथो मे उपमा पायी जाती है, किन्तु 'रयणसार' मे उसकी बहुतायत है; अत. जब तक अधिक प्रमाण प्रकाश मे नही आते, तबतक 'रयणसार' का कुन्दकुन्द-रचित माना जाना विचाराधीन ही रहेगा।[1]

४. दशभक्ति :– प्रभाचन्द्र ने सिद्धभक्ति की सस्कृत टीका मे लिखा है कि सस्कृत की सब भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी कृत हैं तथा प्राकृत की सब भक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य कृत हैं[2]। ये भक्तियाँ पचनमस्कारमत्र और चत्तारिदण्डक से प्रारम्भ होती है। प्रथम भक्ति मे सिद्धो का स्तवन, श्रुतभक्ति मे द्वादशाग का स्तवन, चारित्रभक्ति मे चारित्र तथा योगीभक्ति मे निर्ग्रन्थ साधुओ का स्तवन किया गया है। इसीप्रकार आचार्य भक्ति मे आचार्य परमेष्ठी की स्तुति है। निर्वाणभक्ति को निर्वाणकाण्ड भी कहते हैं। पचपरमेष्ठी तथा तीर्थंकर भक्ति मे पंचपरमेष्ठी एव तीर्थंकरो की स्तुति की गई है। तीर्थंकर भक्ति श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी मान्य है, अत: विशेष प्राचीन हो सकती है।

उक्त सदिग्ध साहित्य के सिवाय समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय-सग्रह और अष्टपाहुड के रूप मे उपलब्ध आचार्य कुन्दकुन्द की पचरत्न के नाम से विख्यात पाँच रचनाओ ने तो यह कहने को बाध्य कर ही दिया है –

"हुए न है न होंहिंगे, मुनिन्द कुन्दकुन्द से[3]

अर्थात् विगत दो हजार वर्षो मे कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभा के धनी अध्यात्म-प्रकाश बखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो पीढियो से हुए ही हैं और न पीढियो तक होने की सभावना ही नजर आती है।"

अर्थात् ये समयसारादि उनकी ऐसी बेजोड़ कृतियाँ है, जिनकी आजतक कोई तुलना उपलब्ध नही है।

इस द्विसहस्राब्दी वर्ष मे उनका यह साहित्य अधिकतम पढा-सुना जावे – बस यही भावना है। □

---

[1] डॉ० उपाध्ये प्रवचनसार प्रस्तावना

[2] सस्कृता सर्वा भक्तय पूज्यपादस्वामिकृता प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृता।
– दशभक्ति, सोलापुर सस्करण, पृष्ठ ६

[3] प्रवचनसार परमागम, पीठिका, छन्द ६६

लेखक-परिचय – उम्र : २६ वर्ष। शिक्षा शास्त्री, आचार्य, एम०ए०, बी०एड०, रिसर्च-स्कालर। सम्प्रति : अध्यापक, राजकीय उपाध्याय संस्कृत महाविद्यालय, नारदपुरा (जयपुर)। अभिरुचि : प्रवचन, लेखन। सम्पर्क-सूत्र : ११६६, वर्मा बिल्डिंग, चौरूकों का रास्ता, चौडा रास्ता, जयपुर – ३०२००३, राजस्थान।

बार-बार सब मिल जय बोलो

राजमल पवैया

□

बार सब मिल जय बोलो कुन्दकुन्द-उपदेश की ।
रल धारा बरस रही है आत्मज्ञान सदेश की ।।

एक बार शुद्धात्मतत्त्व की तुम सम्यक् पहचान करो ।
आत्मद्रव्य का रूप जानकर निज स्वद्रव्य का भान करो ।।
पर विभाव भावों से हटकर निजस्वभाव का ज्ञान करो ।
ध्रुव चैतन्य आत्मा के भीतर आ निज कल्याण करो ।।
महिमा शुद्धभाव की ही है लेश नही है वेश की ।
बार-बार सब मिल जय बोलो कुन्दकुन्द-संदेश की ।।

परिचित अनुभूत सुलभ है राग कथा ससार की ।
आत्मचर्चा दुर्लभ है महिमा नही विकार की ।।
-मरण करते-करते भी ऊबे नही विभाव से ।
तो निज पुरुषार्थ जगा लो मिलकर अभी स्वभाव से ।।
नुभूति दर्शन देने आई है अपने देश की ।
-बार सब मिल जय बोलो कुन्दकुन्द-संदेश की ।।

लेखक-परिचय :— उम्र : ७१ वर्ष । शिक्षा : माध्यमिक विद्यालय । अभिरुचि . काव्य ाध्यात्मिक चिन्तन-मनन एवं प्रवचन । सहस्राधिक भजन, शताधिक पूजन एवं इन्द्रध्वज के रचयिता । 'अपूर्व अवसर' के पद्यानुवादक । सम्पर्क-सूत्र : ४४, इब्राहीमपुरा, भोपाल — , मध्यप्रदेश ।

सौ-सौ बार नमन है

हजारीलाल 'काका'

□

आत्मतत्त्व का करा दिया जग को सच्चा दर्शन है।
कुन्दकुन्द आचार्यश्री को सौ-सौ बार नमन है॥

सीमंधर की श्रीवाणी को जैसा सुना उतारा।
समयसार व प्रवचनसार मे सार भर दिया सारा॥
जिसे श्रवण कर शाति पा रहा इस युग का जन-जन है।
कुन्दकुन्द आचार्यश्री को सौ-सौ बार नमन है॥१॥

जैनधर्म के सही समर्थक पथनिर्देशक प्यारे।
तत्त्वप्रेमी भूल नही सकते उपकार तुम्हारे॥
ऐसे पर-उपकारी गुरु को बार बार वन्दन है।
कुन्दकुन्द आचार्यश्री को सौ-सौ बार नमन है॥२॥

कुन्दकुन्द आचार्य वर्ष को अब इस भाँति मनाये।
उनके पदचिह्नो पर चलकर आतम ज्योति जगायें॥
आपा-पर का भेद जानकर पाये मोक्ष चमन है।
कुन्दकुन्द आचार्यश्री को सौ-सौ बार नमन है॥३॥

□

लेखक-परिचय : एक अच्छे व्यंग्यकार, आशुकवि एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता। सम्प्रति तीर्थवन्दना रथ प्रवर्तन के प्रवक्ता के रूप मे अनन्य योगदान। सम्पर्क-सूत्र : मु० पो० सकरार, जिला झाँसी, उत्तरप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका 'प्रवचनसार'

— डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन

'मंगल कुन्दकुन्दार्यो' कहकर जिन आचार्य कुन्दकुन्द का भगवान् महावीर और गौतम गणी के साथ मंगल के रूप में स्मरण किया जाता है, उन महापुरुष के विषय मे उनके ग्रन्थो मे भी नामोल्लेख के सिवाय कुछ भी उपलब्ध नही होता। 'बारस अणुवेक्खा' की निम्नांकित ९१वी अन्तिम गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख है :—

"इदि णिच्छयववहारं जं भणियं कुदकुदमुणिणाहे।
जो भावइ सुद्धमणो सो पावइ परमणिव्वाणं॥

इसप्रकार मुनिनाथ कुन्दकुन्द ने निश्चय एव व्यवहार के विषय मे जो कहा है उसे जो शुद्धमन से चिन्तवन करते है वे परम निर्वाण को प्राप्त करते है।"

इसीप्रकार 'बोधपाहुड' की निम्नाकित ६१वी और ६२वी गाथाओं मे श्रुतकेवली भद्रबाहु का जयकार किया गया है, और ग्रथकार ने अपने को भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है :—

"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥
बारस अंगवियाणं चौदस पुव्वंगविपुलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयउ॥

अर्थात् शब्दविकार से उत्पन्न हुए भाषासूत्रों मे जो जिनदेव ने कहा है, वही परम्परा से भद्रबाहु नामक श्रुतकेवली ने जाना है। आचार्य कहते है कि वही अर्थ हम कहते हैं। तथा बारह अगो और चौदह पूर्वो के विशेष ज्ञाता श्रुतकेवली गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवंत होवे।"

इन उल्लेखों से केवल इतना ज्ञात होता है कि ग्रंथकार का नाम 'कुन्दकुन्द' है और वे भद्रबाहु के शिष्य थे।

आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी थे। उनके पिता का नाम 'करमण्डु' और माता का नाम 'श्रीमती' था। उनका जन्म 'कोण्डकुन्दपुर' नामक स्थान मे हुआ था। इस ग्राम का दूसरा नाम 'कुरुमरई' भी कहा गया है। यह स्थान 'पिदथानाडू' नामक जिले में है।

कहा जाता है कि करमण्डु दम्पति को बहुत दिनो तक कोई सन्तान नही हुई। अनन्तर एक तपस्वी ऋषि को दान देने के निमित्त से पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका आगे चलकर गाँव के नाम पर 'कुन्दकुन्द' नाम प्रसिद्ध हुआ।

आचार्य कुन्दकुन्द की तिथि के सबध मे अनेक मत प्रचलित हैं। डॉ. ए एन उपाध्ये ने अपने प्रवचनसार की प्रस्तावना मे इन सभी मतो का गहन आलोडन करके जो निष्कर्ष निकाला है, तदनुसार आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से लेकर ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक है।[1]

डॉ० नेमीचन्द शास्त्री ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईसा पूर्व ८ से ईस्वी सन् ४४ तक माना है।[2]

"बारह अगो मे 'दृष्टिवाद' द्रव्यानुयोग से ही विशेषरूप से सम्बद्ध था। इस अग के अतिम ज्ञाता एकमात्र श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उनके स्वर्गारोहण के पश्चात् यह अग क्रमश विलुप्त हो गया; किन्तु जैन-परम्परा मे द्रव्यानुयोग-विषयक जो साहित्य रचा गया उसका मूल यह दृष्टिवाद अग ही था।

जैसे करणानुयोग-विषयक साहित्य के मूल दृष्टिवाद अग के अन्तर्गत पूर्वों के अवशिष्ट त्रुटिताश थे, वैसे ही द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य का मूल भी पूर्वों के अवशिष्टाश ही थे। उन्ही के आधार पर उत्तरकाल मे द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य की रचना होकर उसका सपोषण एव सवर्द्धन हुआ।

उस द्रव्यानुयोग का प्रारभ आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियो से होता है। आचार्य कुन्दकुन्द एक बहुत ही समर्थ एव प्रभावक आचार्य हुए हैं। द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य की रचना का श्रेय उन्ही को है।

द्रव्यानुयोग-विषयक साहित्य को मूलरूप मे दो भागो मे विभक्त किया जाता है'— एक अध्यात्म-विषयक और दूसरा तत्त्वज्ञान-विषयक। आचार्य कुन्दकुन्द दोनो के पुरस्कर्ता है। एक ओर उन्होने समयसार प्राभृत के द्वारा जैन अध्यात्म का प्रस्थापन किया तो दूसरी ओर प्रवचनसार आदि के द्वारा जैन तत्त्वज्ञान को मूर्तरूप दिया।[3]"

ऐसी किंवदन्ती है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने चौरासी 'पाहुडो' की रचना की थी। 'पाहुड' शब्द प्राचीन द्वादशाग से सम्बद्ध है। बारहवे अग दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्वों मे 'पाहुड' नामक अवान्तर-अधिकार थे, जैसे '— 'महाकर्मप्रकृति-पाहुड', 'कषायपाहुड' आदि।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने सभी ग्रथो का नाम पाहुडान्त रखा है। ऐसा करके उन्होने प्राचीन श्रुत-परिपाटी के प्रति अपनी आस्था को प्रकट किया, साथ ही अपने ग्रन्थो को उसी का अगभूत दर्शाया। 'पाहुड' प्राकृत शब्द है, उसका सस्कृतरूप 'प्राभृत' है।

---

[1] प्रवचनसार, तृतीयावृत्ति, श्रीमद् राजचद्र जैन ग्रन्थमाला का परिचय, पृष्ठ २१

[2] प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ २२५

[3] सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचद्र शास्त्री का 'जैन साहित्य का इतिहास', द्वितीय भाग, प्रकाशक · श्री गणेशवर्णी जैन ग्रथमाला, वाराणसी, वी० नि० सवत् २५०२, पृष्ठ ९४-९५

'कषायपाहुड' की जयधवला टीका के रचयिता वीरसेन स्वामी ने 'प्राभृत' शब्द की निरुक्ति इसप्रकार की है :-

"प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम् । प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृत धारित व्याख्यानमानीतमिति वा प्राभृतम् ।

तीर्थंकरो के द्वारा जो प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है । अथवा जिनका धन विद्या ही है – ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा से लाया गया है, वह प्राभृत है ।[1]"

'प्राभृत' शब्द की ये निरुक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे सुघटित होती हैं ।

अभी तक उपलब्ध आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शनप्राभृत आदि आठ प्राभृत, रयणसार, बारस अणुवेक्खा, नियमसार, दशभक्ति आदि ग्रन्थो मे अग्रलिखित तीन ग्रन्थ विषय और परिमाण – दोनो दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं .– समयसार, पचास्तिकाय एव प्रवचनसार ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो को किस क्रम मे रचा था – इसको जानने का कोई साधन हमारे पास नही है । सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचंद शास्त्री के अनुसार, उन्होने अपनी ग्रन्थत्रयी मे सर्वप्रथम 'पंचास्तिकाय' रचा था, क्योकि उसमें आधारभूतों का सक्षेप में कथन है । पश्चात् उन्ही के विशेष कथन के लिए प्रवचनसार और समयसार रचे होगे ।[2]

यद्यपि प्रवचनसार के अनेक संस्करण प्रकाशित हैं; किन्तु उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण, प्राकृत एव अपभ्रंश भाषा के अतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, कोल्हापुर के राजाराम कॉलेज के अर्धमागधी भाषा के प्रोफेसर स्वर्गीय डॉ० ए०एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित तथा 'श्रीमद् राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित प्रवचनसार का सर्वांग सुन्दर आलोचनात्मक सस्करण है ।

इसमे सस्कृत भाषा की दो टीकाएँ – श्रीमदमृतचन्द्रसूरि की 'तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति' तथा जयसेनाचार्य की 'तात्पर्यवृत्ति' – श्री पाण्डे हेमराज की हिन्दी-बालबोध भाषा टीका, डॉ० उपाध्ये की अग्रेजी भाषा मे लिखित १२६ पृष्ठीय विस्तृत विमर्शकारिणी प्रस्तावना, टिप्पणी तथा प्रवचनसार की गाथाओ का अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित है ।

प्रवचनसार की गाथाओ की सख्या उपर्युक्त टीकाओं में अलग-अलग है । आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार प्रवचनसार की गाथाओ की सख्या २७५ है तथा आचार्य जयसेन की टीका के अनुसार गाथाओं की संख्या ३११ है अर्थात् दोनों टीकाओं की गाथाओ की सख्या में ३६ गाथाओ का अन्तर है ।

इन गाथाओ मे निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए वस्त्र-पात्रादिक का तथा स्त्रियों के लिए मुक्ति का निषेध होने से, इनका विषय श्वेताम्बर आम्नाय के विरुद्ध पड़ता है, अतः आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा इन गाथाओ को छोड़े जाने के सम्बन्ध मे डॉ० ए० एन० उपाध्ये का कथन द्रष्टव्य है :-

---

[1] कसायपाहुड, भाग १, पृष्ठ ३२५

[2] जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २१०

"अमृतचन्द्र इतने आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि साम्प्रदायिक वाद-विवाद मे पडना नही चाहते थे । अतः इस बात की इच्छा रखते थे कि उनकी टीका सक्षिप्त हो एवं तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणो को न करती हुई कुन्दकुन्द के अति उदात्त उद्गारो के साथ सभी सम्प्रदायो को स्वीकृत हो ।[1]"

डॉ० उपाध्ये का उपर्युक्त मत सर्वथा समीचीन प्रतीत नही होता, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने 'तत्त्वार्थसार' के निम्नलिखित पद्य मे श्वेताम्बर मान्यता के केवली-कवलाहार तथा सचेल-मुक्ति का निषेध किया है । पद्य इसप्रकार है :-

"सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ।।६।।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार को तीन श्रुतस्कंधो मे विभक्त किया है, जबकि आचार्य जयसेन उसे तीन महाधिकारो मे विभक्त करते हैं । दोनो आचार्यों के अनुसार प्रवचनसार के तीनो विभागो के नाम समान हैं – ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व एव चरणतत्त्व । आचार्य जयसेन ने द्वितीय विभाग का मूल नाम 'सम्यग्दर्शनाधिकार' देकर उसका अपर नाम 'ज्ञेयाधिकार' भी दे दिया है ।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार के प्रारम्भ मे निश्चयचारित्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं :-

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।७।।

निश्चय से चारित्र धर्मरूप है, धर्म साम्यभावरूप है और साम्यभाव मोह-क्षोभ से विहीन आत्मा का परिणाम है ।"

यहाँ प्राकृत के 'सम' शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने 'साम्यम्' अर्थात् समभाव किया है । वे कहते है :-

' .. तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात् साम्यम् । साम्यम् तु दर्शनचारित्र-मोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावात् अत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ।'

आचार्य जयसेन 'सम' का अर्थ 'शम' अर्थात् शान्तभाव करते हुए कहते हैं :-

'धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः । यस्तु शमः सः मोहक्षोभविहीनः परिणामः ।'

इस प्रसग मे प्रवचनसार के हिन्दी टीकाकार पाडे हेमराज का कथन है कि :-

"चारित्र दो प्रकार का है – वीतराग तथा सराग । वीतराग चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है – इस कारण वीतराग चारित्र मोक्षरूप है और सराग चारित्र से इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती की विभूतिस्वरूप बध होता है – इस कारण वह बधरूप है, इसीलिए

[1] प्रवचनसार प्रस्तावना डॉ० एन एन उपाध्ये, पृष्ठ ५१-५२

ज्ञानी पुरुषों को सराग चारित्र त्यागने योग्य और वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य कहा गया है ।[1]"

आगे ९वी गाथा में जीव के भाव तीन प्रकार के बताये गये है :– शुभ, अशुभ और शुद्ध । धर्माचरण करनेवाला आत्मा यदि शुद्धभाव करता है तो उसे मोक्ष मिलता है, यदि शुभभाव करता है तो उसे स्वर्ग मिलता है तथा निम्नांकित ११वी एवं १२वीं गाथाओ में कहा है कि यदि अशुभ भाव करता है तो उसे कुनर, तिर्यंच या नारकी होकर हजारों दुःखो को भोगते हुए अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है । मूल गाथाएँ इसप्रकार है :–

"धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंत ॥१२॥"

आगे १३ से २१वी तक की गाथाओ मे कहा है कि शुद्धोपयोग का फल आत्मा से उत्पन्न, अनुपम, अनन्त और अविनाशी सुख की प्राप्ति है । शुद्धोपयोगी चार घातिया कर्मों का नाश करके सर्वदर्शी हो जाता है । अनन्तज्ञानादिरूप अपने गुप्त स्वभाव को प्राप्त वह सर्वज्ञ, स्वयभू, तीनो लोकों मे इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजित होता है । उस केवलज्ञानी के शारीरिक सुख-दु.ख नही होते । वह द्रव्यों की समस्त पर्यायो को प्रत्यक्ष जानता है, कोई भी वस्तु उससे अज्ञात नही है ।

आचार्य कुन्दकुन्द सर्वज्ञता की प्रस्थापना करते हुए २३, २६, २९, ३५, ३६, ३७वी गाथाओ में कहते है कि आत्मा ज्ञान के बराबर हैं और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है, ज्ञेय समस्त लोकालोक है, इसकारण ज्ञान (केवलज्ञान) सर्वव्यापक अर्थात् सब पदार्थों को जाननेवाला है । मूल गाथा इसप्रकार है :–

"आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥"

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनवृषभ को ज्ञानरूप से सर्वगत बताया है और जगत के सब पदार्थों को विषयरूप से जिनवृषभ के ज्ञानगत बताया है । ज्ञानी बिना इन्द्रियों की सहायता के अशेष जगत को जानता है । जो जानता है, वह ज्ञान है । ज्ञान के योग से आत्मा ज्ञायक नही है (जैसा वैशेषिक मानते हैं), अपितु आत्मा ही स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है, अतः जीव ही ज्ञानरूप है । और ज्ञेय भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के भेद से तीनप्रकार का है । जितनी भूत और भावि पर्यायें हैं, वे सब सर्वज्ञ के ज्ञान में वर्तमान की तरह प्रतिभासित होती हैं ।[2]

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ६ की टीका

[2] प्रवचनसार, गाथा २६, २९, ३५, ३६ और ३७

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञता का बडे विस्तार के साथ सयुक्तिक समर्थन किया है ।

वस्तुत: केवलज्ञान ही सुखरूप है, इन्द्रियजन्य सुख तो दु ख है — इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि "इन्द्रियों के विषय — स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द — पौद्गलिक है, इनको भी इन्द्रियाँ युगपत् नही, एक-एक करके जानती हैं। फिर वे इन्द्रियाँ पर हैं, उनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे कह सकते हैं ? जो पर की सहायता से ज्ञान होता है उसे परोक्ष कहते हैं, और जो केवल आत्मा के द्वारा जाना गया हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । ऐसा ज्ञान ही सुखरूप होता है ।[1]

जो सुख पर ही सहायता से प्राप्त होकर पुन: छूट जाता है, कर्मबन्ध का कारण है, घटता-बढता रहता है — ऐसा इन्द्रियो से प्राप्त होनेवाला सुख वस्तुत· दु ख ही है। कहा भी है .—

"सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
ज इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।७६।।"

ज्ञानाधिकार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो पुरुष वीतराग-प्रणीत आत्मधर्म के उपदेश को पाकर मोह, राग और द्वेष का नाश करता है वह थोड़े समय मे सम्पूर्ण दु खों के मोक्षस्वरूप निर्वाण को प्राप्त करता है तथा जो जीव, ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपने अचेतन शरीरादि से अभिन्न मानता है, वह निश्चय ही मोक्ष का नाश करता है ·—

"णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।।८६।।"

ज्ञेयाधिकार का प्रारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञेयपदार्थ द्रव्यमय है तथा द्रव्य, गुण और पर्याय स्वरूप है । जो अज्ञानी 'पर्यायमूढ' अर्थात् पर्यायो को ही द्रव्य समझते हैं वे 'परसमय' अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं[2] । इसके विपरीत, जो ज्ञानी जीव अपने ज्ञान-दर्शनस्वभाव मे स्थित हैं वे 'स्वसमय' अर्थात् सम्यग्दृष्टि हैं —

"जो पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते परसमया मुणेदव्वा ।।९४।।

द्रव्य का लक्षण समझाते हुए आचार्य लिखते है कि —

"जो अपने स्वभाव (अस्तित्व) को नही छोडते हुए उत्पाद-व्यय और ध्रुवत्व से सयुक्त है तथा अनन्त गुणो और पर्यायो से सहित है उसे द्रव्य कहते हैं । उत्पाद, व्यय रहित नही होता; व्यय, उत्पाद रहित नही होता तथा उत्पाद और व्यय ध्रौव्ययुक्त पदार्थ के बिना नही होते ।[3]"

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ५६, ५७, ५८ और ५९

[2] पज्जयमूढा हि परसमया ।।९३।।

[3] प्रवचनसार, गाथा ९५ और १००

इसी प्रकार द्रव्य की एक पर्याय उत्पन्न होती है तो दूसरी नष्ट होती है, किन्तु द्रव्य न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट, वह तो ध्रुव ही रहता है।

पश्चात्, सम्पूर्ण विरोधो का परिहार करनेवाली सप्तभंगी का वर्णन है :-

१. स्यादस्त्येव, २. स्यान्नास्त्येव, ३. स्यादवक्तव्यमेव, ४. स्यादस्तिनास्त्येव, ५. स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव, तथा ७. स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव।

अत्थि त्ति य णत्थित्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ।।११५।।

आगे आचार्य ने ज्ञान, कर्म और कर्मफलरूप तीन चेतनाओ का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एव काल रूप षड्द्रव्यों का नर, नारक, तिर्यंच एव देवरूप चार पर्यायों का तथा शुभोपयोग और अशुभोपयोग का वर्णन किया है।

ज्ञेयाधिकार के समापन में बन्ध-मोक्ष की प्रक्रिया को अत्यन्त सरलता से समझाते हुए आचार्य कहते है कि रागी जीव कर्म बाँधता है और विरागी कर्ममुक्त होता है – सक्षेप मे निश्चय से यही बन्ध-मोक्ष जानो :-

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।।१७९।।

चारित्राधिकार के प्रारम्भ मे, मुनिधर्म को अगीकार करने की प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि दु:खो से पूर्णत: मुक्त होने की अभिलाषा है तो श्रामण्य अर्थात् मुनिधर्म को ग्रहण करो[1]।

श्रमणो के आचार के वर्णन मे, श्रमण बनने के इच्छुक जन को क्या करना चाहिए और कैसे प्रव्रज्या लेनी चाहिए – इसका कथन है। श्रमणो के अट्ठाईस मूल गुण इसप्रकार बताए गये हैं :-

"वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ।।२०८।।
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ।।२०९।।

अर्थात् पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, केशो का लोच, छह आवश्यक कर्म, अचेल, अस्नान, पृथ्वी पर सोना, अदन्तधावन, खड़े होकर भोजन करना और दिन मे एक बार भोजन लेना – ये श्रमणो के अट्ठाईस मूलगुण जिनवर ने कहे हैं। इन मूलगुणों के पालन में प्रमाद करनेवाला श्रमण, छेदोपस्थापक (सयम के भंग का पुन: स्थापन करनेवाला) होता है।"

[1] पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।२०१।।

आगे श्रमण को कैसे अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए, संयम का छेद होने पर कैसे उसका संधारण करना चाहिए, श्रमण किसे कहते हैं, आदि श्रमण-चर्या की सभी आवश्यक एवं उपयोगी बातो का विस्तार के साथ कथन है।

चारित्राधिकार के अंत मे मोक्षतत्त्व का उद्घाटन करते हुए आचार्य कहते है :–

"अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

अर्थात् जो पुरुष मिथ्या-आचरण से रहित होकर यथावत् स्वरूपाचरण मे प्रवर्तते है, पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान करते हैं एव राग-द्वेष से रहित प्रशान्तात्मा हैं, वे सम्पूर्ण श्रामण्य से युक्त मुनिवर इस निष्फल संसार में चिरकाल तक नही रहते अर्थात् शीघ्र निर्वाण-लाभ करते हैं।

डॉ० ए एन. उपाध्ये ने अपने प्रवचनसार (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, तृतीय आवृत्ति, १९६४) की भूमिका में पृष्ठ ४६ मे देश-विदेश मे प्रवचनसार के अध्ययन की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि प्रसिद्ध जर्मन ओरियण्टलिस्ट प्रो० ब्युहलर (Buhler) प्रवचनसार को दिगम्बर जैन साहित्य के द्रव्यानुयोग की एक महत्त्वपूर्ण पवित्र कृति के रूप में जानते थे। श्री के. बी. पाठक ने भी इसे आचार्य कुन्दकुन्द की कृति के रूप मे निरूपित किया है।

स्व० डॉ० आर. जी. भण्डारकर ने १८८३-८४ की अपनी स्मरणीय रिपोर्ट मे प्रवचनसार की कुछ विशिष्ट गाथाओ के सानुवाद उद्धरण देते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला और उसमे निरूपित जैन सिद्धान्तो की साख्य, वेदान्त और बौद्धधर्म से तुलना करते हुए जैनधर्म का क्रमिक मूल्याकन प्रस्तुत किया। उनके कुछ निष्कर्ष इतने महत्त्वपूर्ण एव प्रभावक थे कि जर्मन जैनालाजिस्ट डॉ० याकोबी का ध्यान तत्काल उन पर आकृष्ट हुआ और उन्होने उनका परीक्षण कर अपने साहित्य मे उनकी आलोचना की। डॉ० याकोबी की आलोचना का डॉ० भण्डारकर ने कोई उत्तर नही दिया।

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्या केन्द्र स्ट्रासवर्ग के पुस्तकालय के दिगम्बर जैन पाण्डुलिपियो के सग्रह मे प्रवचनसार के सगृहीत होने से एक अन्य प्रसिद्ध जर्मन ओरियण्टलिस्ट विद्वान् डॉ० ल्यूमान (Dr. Leumann) का ध्यान उस पर आकृष्ट हुआ।

प्रो० पीशेल ने अपने 'प्राकृत भाषा का तुलनात्मक व्याकरण' (A Comparative Grammer of Prakrit Dialects) नामक ग्रन्थ मे डॉ० भण्डारकर के द्वारा उद्धृत प्रवचनसार की गाथाओ का व्याकरणात्मक परीक्षण एव विश्लेषण कर यह निष्कर्ष प्रतिपादित किया कि प्रवचनसार की भाषा 'जैन शौरसेनी प्राकृत' है।

आचार्य कुन्दकुन्द-प्रणीत प्रवचनसार मे जैसा कि उसके नाम से विदित है, सर्वदर्शी अर्हन्तो के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनो का सार सगृहीत किया गया है।

प्रवचनसार पर आचार्य अमृतचन्द्र एव जयसेन ने सस्कृत मे अतिविश्रुत विशद टीकाएँ लिखी हैं। श्री हेमराज पाण्डे व ब्र० शीतलप्रसाद ने हिन्दी मे तथा श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह ने गुजराती मे इन टीकाओ के अनुवाद और भावार्थ लिखे हैं।

स्वर्गीय आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने भी प्रवचनसार की मूलगाथाओ के भाव को अनुष्टुप् छन्द द्वारा सरल सस्कृत श्लोकों मे स्पष्ट किया है। साथ ही हिन्दी पद्यानुवाद एवं गद्य मे 'सारांश' की रचना की है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण अश इसका 'साराश' है। आचार्यश्री ने गद्य की सूत्र-शैली अपनाई है। विवेचन करने के अनन्तर अनुच्छेद के अन्त मे सम्पूर्ण विवेचन का सार सूत्रबद्ध कर दिया है। समझाने के लिए दृष्टात, उदाहरण, उपमा एव उत्प्रेक्षाएँ व्यावहारिक जीवन से चुनी हुई है। 'शका' और 'उत्तर' के रूप मे लिखित यह सरस गद्य ग्रन्थ की सफलता का द्योतक है।

प्रवचनसार की रचना अत्यन्त सार्थक एव प्रयोजनभूत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका प्रणयन आसन्नभव्य शिवकुमार महाराज आदि मध्यम रुचि वाले ससार के दु.खों से भयभीत किंचित् अभ्यासी शिष्यो के लिए किया था, जैसा कि आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति टीका के प्रारभिक निम्नलिखित उद्धरण से प्रतीत होता है :—

"अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा · · चतुर्गतिसंसारदुःखभयभीत·, समुत्पन्न-परमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः·· ।"

इसीलिए प्रवचनसार मे सर्वत्र सिद्धान्त और व्यवहार के सुन्दर समन्वय के साथ भव्य जीवो के लिए सबोध्यता दिखाई पडती है।

प्रवचनसार के ज्ञान, ज्ञेय एव चारित्राधिकार नामक तीनो श्रुतस्कन्धो मे जैनधर्म एवं दर्शन का सर्वांगीण विवेचन उपलब्ध होता है। इसमे चारित्र की महत्ता के साथ साधु जीवन, उनके आहार-विहार, आचार-विचार आदि से लेकर जेनदर्शन के प्राय. समस्त मौलिक सिद्धान्तो – सप्तभगी, षड्द्रव्य, गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, नय, कर्म, उपयोग आदि सभी – का सागोपाग विशद रूप से विवेचन है।

प्राकृत, भारत की एक अत्यन्त प्राचीन एव समृद्ध भाषा है। जनभाषा होने से भगवान महावीर एव बुद्ध ने इसी भाषा मे अपने उपदेश दिए। इसके प्रमुख तीन भेदो मे मागधी पूर्वदेश की, शौरसेनी पश्चिम देश की तथा महाराष्ट्री काव्य के लिए स्वीकृत एक परिनिष्ठित भाषा है। भगवान् महावीर के उपदेश की भाषा अर्धमागधी प्राकृत थी।

दिगम्बर जैन आगमो की भाषा शौरसेनी है। पाश्चात्य विद्वानो ने इसे 'जैन शौरसेनी' नाम दिया। प्रवचनसार की भाषा भी यही जैन शौरसेनी है। अत· शौरसेनी अथवा जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा का ऐतिहासिक, व्याकरणिक एव भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए प्रवचनसार एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। □

लेखक-परिचय :– उम्र : ६६ वर्ष। शिक्षा : एम० ए० (संस्कृत), पी एच. डी. (प्राकृत), साहित्य-शास्त्री, साहित्याचार्य, जैन सिद्धान्तशास्त्री, डिप्लोमा इन जर्मन लेंग्वेज। अभिरुचि : प्राकृत एवं जैनधर्म दर्शन। सम्प्रति · इनवेस्टीगेटर, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन; मानद निदेशक, अनेकान्त शोधपीठ। सम्पर्क-सूत्र : १५, एम० आई० जी० मुनिनगर, उज्जैन, मध्यप्रदेश।
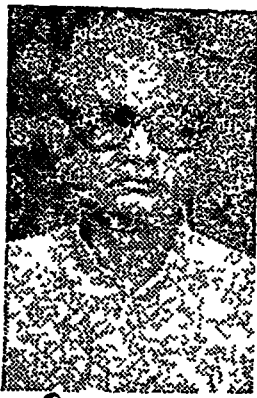
दो संस्कृत काव्य-रचनायें

— प्राचार्य विद्याधर उमाठे

□

१ शुद्धात्म-शतनामस्तोत्रम्

शुद्धात्मा दर्शको मुक्तो देवो वाचामगोचरः।
स्वभावनियतस्तृप्तो जगच्चक्षुरवाधित ॥ १ ॥

ज्ञाता ज्ञानघनो ज्ञान ज्ञानात्मा ज्ञायको विभु ।
ज्ञानवैराग्य संपन्नो परज्योतिर्विवेकरण· ॥ २ ॥

स्वानुभूति स्वसवेद्य स्वभाव शाश्वतोद्यत ।
स्वानुभूत्या चकासन् यो भाव स्वद्रव्यसयुत ॥ ३ ॥

व्यक्त चिन्मात्रशक्तिर्यो विज्ञानैकरसो यती।
शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति स्व. शुद्धज्ञानमय कृती ॥ ४ ॥

आत्मा समयो स्वामी सत्याशी सयतः सदा।
स्वयभुव स्वत.सिद्धो विवक्तो विभवो ध्रुवः ॥ ५ ॥

अरस परमानन्दोऽगन्धोऽन्तोऽत्यन्तनिर्भयः।
अरूपोहृक्तको द्रष्टा नित्यो नित्यमवस्थित· ॥ ६ ॥

निष्कर्मा भावको धर्मी असाधारणलक्षण.।
अनादिनिधनो व्यक्त सिद्धो विश्वप्रकाशक ॥ ७ ॥

ज्ञानवैराग्यशक्तिर्यो सप्तभय विवर्जित ।
मोक्षोपायो विविक्तात्मा स्वात्मारामो निरञ्जन· ॥ ८ ॥

ज्ञानसर्वस्वभागात्मा धीरोदात्त सदाशिव ।
आनन्दामृतभोजीर्योऽनौपम्यश्चेतको मुनि· ॥ ९ ॥

साधु शुद्धात्म-सेवीय स्वयशुद्ध शिवो मह ।
स्याद्वादकौशलो जीवो रागरदीना पकारक. ॥ १० ॥

समयसाररुपोऽय आत्मारामोऽपरिग्रह्.।
स्वरसनिर्भरो भाव· चिद्घन महोनिधि ॥ ११ ॥

अवद्धोऽमेथको भूतोऽवन्धकोऽथाऽति निश्चल.।
प्रतिबुद्धोऽक्षयोऽकर्ता ज्ञानपुजो निशास्रव. ॥ १२ ॥

दर्शनज्ञानवृत्तिर्यो परमात्मा विवेचक.।
स्वरसविकसत् ज्ञानी चित्-चिदेव निदन्वय ॥ १३ ॥

कर्माऽमावा उदासीन-श्चैतन्य. परमेश्वर.।
निष्कांक्षो निर्भयो भाव्य. सम्यग्बोधमहारथी ॥ १४ ॥

आत्मनः शुभनामानि नित्य स्मरति यो नरः।
चित्स्वभावं परिसाया रमते समये सदा. ॥ १५ ॥

२. वन्दे अध्यात्मयोगिनम्

कुंदकुन्द मुनिश्रेष्ठ वन्दे अध्यात्मयोगिनम् ।
मुमुक्षूणां प्रदीप तं प्राभृतानां विवेचकम् ।। १ ।।
दर्शनं जिनधर्मस्य स्वात्मोद्धारप्रकाशकम् ।
भापित सुलभं स्पष्ट लोककल्याणहेतुना ।। २ ।।
कुंदकुन्द. स्वरूपज्ञो भद्रबाहु स्मरन्सदा ।
कुमारनदि-सिद्धान्तदेव-शिष्यो विचक्षण: ।। ३ ।।
दंसणपाहुडाद्यष्ट-प्राभृताना निबोधक. ।
दर्शनमार्गविज्ञाता दृष्टिसम्पन्न तात्त्विक: ।। ४ ।।
मुक्ति-मार्गस्थ-जीवाना बध-मोक्षोपदेशक: ।
श्रमणाना गृहीणा च सयमाचारबोधक· ।। ५ ।।
नियमेन भवेन्मुक्ति. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तत: ।
नियमे प्राभृते तेन संक्षेपेण निरूपितम् ।। ६ ।।
श्रेयोमार्ग-प्रणेता यो दशभक्तिविबोधक ।
प्राकृताया सुभाषाया सिद्धाना गुणलब्धये ।। ७ ।।
(ष्टं) इष्ट: समयसारोऽय कुन्दकुन्देन भाषित: ।
तत्त्वार्थाना प्रदीपो य. समयस्य प्रकाशक. ।। ८ ।।
वंदितो येन तीर्थात्मा सीमधरो जिनेश्वर: ।
धन्यो लब्धजिनादेश: पद्मनदी गुरूत्तम: ।। ९ ।।
देवतासदृशो योगी कुन्दकुन्दश्चिदन्वय· ।
ज्ञानमेरु. स्वत सिद्धो विदेही चिद्घनोत्तम: ।। १० ।।
अध्यात्मज्ञानभानुर्यो भेदविज्ञानपारग: ।
अध्यात्मामृतकुम्भश्री: चिच्चिदानन्दरूपक· ।।११।।
ध्याता य: स्वात्मतत्त्वस्य क्षीणमोहो दिगम्बर: ।
स्वात्मलीनो हृता येन परकर्तृत्वभावना ।।१२।।
(स्न) प्रविद्यातिमिरं हतुं प्रज्ञा-क्रकच-साधनम् ।
प्रज्ञया ज्ञायते सत्य 'जीवोऽन्य. पुद्गल: पर' ।।१३।।
योगी रत्नत्रयाणां य: कर्ता सन्मार्गदर्शक. ।
पंचास्तिकायरूपस्य समयस्य निरूपक ।।१४।।
गिरा मृदुलया वाचा निश्चयात्मकमुक्तिन. ।
स्वरूपं वर्णितं तेन समये प्राभृते स्फुटम् ।।१५।।
नंदिता श्रमणा. सर्वे ज्ञान-पीयूष-धारया ।
स्वानुभूति-रसाढ्योऽयं कुन्दकुन्दो महागुरु· ।।१६।।

जयतु जयतु स्वामी कुन्दकुन्दो मुनीश: । जयतु जयतु योगी पद्मनदी चिदीश. ।।
जयतु जयतु कर्ता प्राभृतानां त्रयाणां । जयतु जयतु हर्ता वेदना दु.खभाजाम् ।।१७।।

लेखक-परिचय :-- उम्र : ६२ वर्ष । शिक्षा : एम०ए०, एम०एड० । अभिरुचि : संस्कृत और मराठी में काव्य-रचना । आपने अनेक धार्मिक सामाजिक संस्थाओं से जुड़कर महती समाजसेवा की है और कर रहे हैं । सम्पर्क-सूत्र : 'श्रेयस', सर्वेसेवा संघ कॉलोनी, नालवाड़ी, वर्धा – ४४२००१, महाराष्ट्र

हे कुन्दकुन्द !

— लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'

□

हे कुन्दकुन्द ! मुनिवर तुमने, सचमुच ही अद्भुत काम किया।
शुद्धोपयोग से शुभ मे आ, लिख समयसार सच नाम किया ।।
वह समयसार जो जीव मात्र की, समानता का सूचक जग मे।
कहे ज्ञान-आनन्द स्वभावी, मुनिवर तीर्थ मुक्ति के मग मे ।।

महावीर गौतम स्वामी के, बाद तुम्ही हो मगलकारी।
मन्दिर मे स्वाध्यायी कहते, पुलकित हो सुनकर नर-नारी ।।
दो सहस्र सवत्सर बीते, किन्तु प्रभाव तुम्हारा छाया।
महाश्रमण तुम मनोज्ञ मुनि हो, वहाव ज्ञानामृत का पाया ।।

तुम प्राणी-वाणी वाला रथ, देश-काल मे दौडाते हो।
जो चाहे आ जावे बैठे, मुदित-रुदित ना हो जाते हो ।।
स्व-पर भेदविज्ञानी होकर, आगम-अध्यातम-सेतु बने।
चारो अनुयोगो के ज्ञाता, भक्तो को शिव-हेतु बने ।।

प्राणिमात्र के बने हितैषी, कृपा अकारण सब पर करके।
कुन्दकुन्द तुम शुक्ल ध्यान प्रिय, शुभोपयोगी शास्ता बनके ।।
स्वद्रव्यलिगी स्वभावलिगी, दिये तिलाजलि सत्य साधना।
विपिन-विहारी ताड-पत्र पर, लिखित ज्ञान की तथ्य भावना ।।

हे कुन्दकुन्द ! तव कीर्तिकलश मे जो अद्भुत अनुपम अमृत।
जीवनदायी धर्म-मृतक को, जीवित करने सजीवन सत् ।।
हे कुन्दकुन्द ! तव यश-रवि जग मे, कुन्द न होगा क्षणभर को।
कुन्द पुष्प औ कमल पुष्प सा, नित्य खिलायेगा जग भर को ।।

□

लेखक-परिचय — उम्र : ६३ वर्ष । शिक्षा : एम० ए० (हिन्दी-सस्कृत), बी० एड०, शास्त्री, साहित्यरत्न । अभिरुचि : कविता, कहानी एवं उपन्यास लिखना । सम्प्रति : अध्यापन । सम्पर्क-सूत्र : २६, शास्त्री कॉलोनी, मु०पो० जावरा — ४५७ २२६, जिला रतलाम, मध्यप्रदेश ।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके ग्रन्थ

— बालब्रह्मचारिणी विमलाबेन जैन

□

दिगम्बर जैनाचार्यों मे श्री कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है । मूर्तिलेखो, शिलालेखो, ग्रन्थ-प्रशस्तियो एव परवर्ती आचार्यों के ग्रथो मे कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बडी श्रद्धा के साथ लिया मिलता है ।

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।

— इस मगल पद के द्वारा भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामी के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मगल कहा गया है । कविवर वृन्दावन का निम्नाकित सवैया भी अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमे बतलाया गया है कि विगत दो हजार वर्षों मे मुनीन्द्र कुन्दकुन्द-सा आचार्य न हुआ है, न है और न होगा :—

जासके मुखारविन्दतै प्रकाश भास वृन्द
स्यादवाद जैन वैन इंदु कुन्दकुन्द-से ।
तासके अभ्यासतें विकास भेदज्ञान होत,
मूढ़ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द-से ।।
देत हैं अशीस शीस नाय इन्द्र चंद जाहि,
मोह-मार-खंड मारतंड कुन्दकुन्द-से ।
शुद्धबुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध रिद्धि-सिद्धिदा,
हुए हैं न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द-से ।।[1]

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का, विशेषतया आत्मतत्त्व का विशद वर्णन । समयसार आदि ग्रन्थो मे उन्होने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुणपर्यायो से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है । उन्होने इन ग्रन्थो मे आत्मधारा रूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाह मे अवगाहन कर भवभ्रमण-श्रान्त प्राणी शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते है ।

---

[1] प्रवचनसार परमागम, पीठिका, छन्द ६६

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है, इसलिए श्रवण-बेलगोला के कितने ही शिलालेखो मे उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी वी देसाई ने 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' मे लिखा है कि गुण्टकल रेल्वे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख मे उसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँ के निवासी इसे आज भी 'कौण्डकोंडा' कहते हैं। कौण्डकौण्डा की प्रथम पहाडी पर चट्टान मे से प्रतिमा निकाल ली गई है, केवल आकार है, बाईं ओर नजदीक की एक चट्टान पर ढाईद्वीप का नक्शा खुदा हुआ है, वह बहुत कुछ मिट गया है, लेकिन फिर भी स्पष्ट दिखता है, दाईं ओर थोडी ऊँचाई पर तीन बाजू लगभग ५-५ फुट की सादी दीवार है। सामने और ऊपर खुला भाग है। यहाँ एक पत्थर पर दो खड्गासन प्रतिमाएँ बनी हुई है। प्रतिमा काफी मनोज्ञ और प्राचीन है, उन पर कोई चिह्न या प्रशस्ति नही है, वहाँ के लिंगी मतानुयायी प्रतिमा पर नाभि के पास और पैरो मे सिन्दूर की तीन-तीन लाइनें चार-चार अगुल की खीच देते है। प्रतिमा पूर्ण दिगम्बर है। दोनो ही पहाडियो पर जाने का कोई रास्ता नही है, फिर भी प्रथम पहाडी पर तो आसानी से पहुँचा जा सकता है, लेकिन द्वितीय पहाडी मे सघन वन के कारण जाना कठिन है। कहते हैं कि यहाँ दो हजार जैनियो की बस्ती थी, १५० जिनमदिर थे और लगभग २०० कुएँ थे; लेकिन अब वहाँ कुछ भी नही है।

इनके माता-पिता आदि से सबधित कोई इदमित्थ जानकारी नही मिलती है। हाँ, इनके गुरुओ के नाम किसी न किसी रूप मे उपलब्ध होते हैं। पचास्तिकाय की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका मे जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दी सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दीसघ की पट्टावली मे उन्हे जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया है[1], परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त मे अपने गुरु के रूप मे भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आप को भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की वे गाथाएँ इसप्रकार है :—

> सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
> सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
> बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
> सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

६१वी गाथा मे कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रो मे शब्दविकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दो मे ग्रथित किया गया है; भद्रबाहु के शिष्य ने उसे उसी रूप मे जाना है और कथन किया है। ६२वी गाथा मे कहा गया है कि बारह अगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु भगवान श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवंत हो।

[1] पचास्तिकाय की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका, प्रथम पृष्ठ, प्रथम पक्ति

कुन्दकुन्द स्वामी के समय-निर्धारण पर 'प्रवचनसार' की प्रस्तावना मे डॉ० ए एन उपाध्ये ने, 'समन्तभद्र' की प्रस्तावना मे स्व० श्री जुगलकिशोरजी मुख्त्यार ने, 'पचास्तिकाय' की प्रस्तावना मे डॉ० ए. चक्रवर्ती ने तथा 'कुन्दकुन्द-प्राभृत-सग्रह' की प्रस्तावना मे पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है।

यहाँ इन सबकी चर्चा तो सभव नही है, अतः यहाँ केवल दो प्रचलित मान्यताओ का उल्लेख करके ही सतोष करना होगा। प्रथम मान्यता प्रो० हॉर्नले द्वारा सपादित नन्दीसघ की पट्टावलियो के आधार पर है। वहाँ कहा गया है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान थे। वि० स० ४९ मे वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डॉ० चक्रवर्ती ने पचास्तिकाय की प्रस्तावना मे अपना यही अभिप्राय प्रगट किया है। दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध या तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे एक यह मान्यता भी प्रचलित है कि वे विदेहक्षेत्र गये थे और सीमधर स्वामी की दिव्यध्वनि से उनकी स्वरूपलब्धि प्रगाढता को प्राप्त हुई थी। विदेह-गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले आचार्य देवसेन विक्रम की दसवी सदी के है। उनके 'दर्शनसार' की इस गाथा से प्रकट है —

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ॥

इसमे कहा गया है कि हे पद्मनन्दीनाथ! यदि आप सीमन्धर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण (मुनिजन) सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

देवसेनाचार्य के बाद ईसा की बारहवी शताब्दी के विद्वान आचार्य जयसेन ने भी पचास्तिकाय की टीका के प्रारम्भ मे कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह-गमन की चर्चा की है :—

"जो कुमारनन्दी सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्वविदेह क्षेत्र जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्री सीमधर स्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थो से शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुन· वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्यरूप से और बहिस्तत्त्व की गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि सक्षेप रुचिवाले शिष्यो को समझाने लिये पचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।"

षट्प्राभृत के सस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने भी अपनी टीका के अन्त मे कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह-गमन का उल्लेख किया है :—

"पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य — इन पाँच नामो से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश-गमन की ऋद्धि जिन्हे प्राप्त थी, पूर्वविदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर मे जाकर श्री श्रीमन्धर अपर नाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होने भरतक्षेत्र के भव्य जीवो

को सबोधित किया था, जो जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे – ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट्प्राभृत ग्रथ मे ' ..."

उपर्युक्त उल्लेखो से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रस्थापित की गई है; किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रंथो में उनके स्वमुख से कही विदेह-गमन की चर्चा उपलब्ध नही होती। उन्होने समयप्राभृत के प्रारभ मे सिद्धो की वन्दनापूर्वक यह प्रतिज्ञा की है –

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

इसमे कहा गया है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूँगा। यद्यपि 'सुदकेवलीभणिय' – इस पद की टीका मे श्री अमृतचन्द्राचार्य ने सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करनेवाले केवली भगवान सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने की बात भी कही हैं।

नियमसार ग्रन्थ मे भी कहा गया है कि – "अनन्त और उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है – ऐसे जिनवीर को नमन करके केवली तथा श्रुतकेवलियो का कहा हुआ नियमसार मैं कहूँगा।[1]"

दिगम्बर जैन ग्रथो मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ अपना अलग प्रभाव रखते है। उनकी वर्णनशैली ही इसप्रकार की है कि पाठक उससे वस्तुस्वरूप का अनुगम बडी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित, नपे-तुले शब्दो मे किसी बात को कहना इन ग्रन्थो की विशेषता है। कुन्दकुन्द की वाणी सीधे हृदय पर असर करती है। निम्नाकित ग्रन्थ निर्विवाद रूप से कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माने जाते है तथा जैन समाज मे उनका सर्वोपरि मान है –

(१) प्रवचनसार, (२) समयसार, (३) नियमसार, (४) पचास्तिकायसग्रह, (५) अष्टपाहुड, (६) बारस अणुवेक्खा, और (७) भक्तिसगहो।

'रयणसार' नाम का ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है, परन्तु उसके अनेक पाठभेद देखकर विद्वानो का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नही है, क्योकि इसके अन्दर अन्य लोगो की गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं, तो कहीं कितनी ही गाथाएँ छूटी हुई हैं। मुद्रित प्रति मे अपभ्रश का एक दोहा भी शामिल हो गया है। तथा कुछ इस अभिप्राय की गाथाएँ है जिनका कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नही खाता है। यही कारण है कि मैने भी इस लेख मे उसका सकलन नही किया है।

इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के अनुसार 'षट्खण्डागम' के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित 'परिकर्म' नामक टीका का उल्लेख भी मिलता है। षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका मे इस ग्रथ (परिकर्म) का कई जगह उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा, परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है।

---

[1] नियमसार, गाथा १

मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है, क्योंकि उसकी अन्तिम पुस्तिका में "इति मूलाचार विवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्यविवृति. । कृतिरियं वसुनन्दिन· श्रमणस्य" – यह उल्लेख पाया जाता है।

प्रवचनसार मे प्रथम संस्कृत-टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि के मतानुसार २७५ गाथाएँ है और वे ज्ञानाधिकार, ज्ञेयाधिकार तथा चारित्राधिकार के भेद से तीन श्रुत स्कन्धों में विभाजित है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ९२, दूसरे श्रुतस्कन्ध मे १०८ और तीसरे श्रुतस्कन्ध मे ७५ गाथाएँ है। द्वितीय सस्कृत-टीकाकार श्री जयसेनाचार्य के मतानुसार प्रवचनसार में ३११ गाथाएँ हैं। जिनमे प्रथम श्रुतस्कन्ध मे १०१, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ११२ और तृतीय श्रुतस्कन्ध मे ९७ गाथाएँ है। प्रवचनसार मे प्रतिपादित विपयवस्तु सक्षिप्त जानकारी इसप्रकार है –

ज्ञानाधिकार मे चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, आत्मा का साम्यभाव धर्म है तथा मोह (मिथ्यात्व) एव क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम समभाव है। इस तरह का साम्यभाव जब जीव को प्राप्त होता है तभी वह निर्वाण को प्राप्त करता है। शुभोपयोग से देव, चक्रवर्ती आदि के उत्तम सुखो की प्राप्ति होती है और अशुभोपयोग से कुमनुष्य, तिर्यंच तथा नारकी के हजारो दु·ख प्राप्त होते है, इसलिए शुद्धोपयोग के धारक जीवों के सुख का आचार्यदेव ने बहुत ही हृदयहारी वर्णन किया है।

ज्ञेयाधिकार मे द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप दर्शाते हुए तथा सामान्य-विशेष गुणो का वर्णन करके भिन्नप्रदेशत्व 'पृथक्त्व' का तथा अभिन्नप्रदेशत्व 'अतद्भाव' का लक्षण दिखलाया है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता का परित्याग कभी नही करता। सब अपने-अपने स्वभाव से अनादि-अनन्त है।

ज्ञेयाधिकार की अन्तिम गाथा मे चारित्राधिकार की भूमिका के रूप मे कहा है कि 'मोक्ष का साक्षात्मार्ग चारित्र है' – यह जानकर सम्यक्चारित्र धारण करने का प्रयास करना चाहिए। अन्त मे ४७ नयो का वर्णन करते हुए यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

समयसार या समयप्राभृत ग्रन्थ निम्नलिखित दस अधिकारो मे विभाजित है :–

(१) पूर्वरग, (२) जीवाजीवाधिकार, (३) कर्त्ताकर्माधिकार,
(४) पुण्यपापाधिकार, (५) आस्रवाधिकार, (६) सवराधिकार,
(७) निर्जराधिकार, (८) बघाधिकार, (९) मोक्षाधिकार,
(१०) सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार।

नयों का सामजस्य बैठाने के लिए अमृतचन्द्र स्वामी ने ग्रंथ के अन्त मे टीका करते हुए स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाभावाधिकार नामक दो स्वतंत्र परिशिष्ट और जोड़े है। अमृतचन्द्रसूरि-कृत टीका के अनुसार यह समग्र ग्रथ ४१५ गाथाओ में समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्य-कृत टीका के अनुसार ४४२ गाथाओं मे।

अमृतचन्द्राचार्य ने ३८वी गाथा की समाप्ति पर पूर्वरंग की समाप्ति की सूचना दी है। इसमें प्रथम १२ गाथाएँ पीठिकारूप हैं; जिनमें ग्रंथकर्ता ने मंगलाचरण, ग्रंथ-

प्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमय का व्याख्यान तथा शुद्ध और अशुद्धनय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इस ग्रथ मे आत्मा को परपदार्थों से तथा उनके निमित्त से होनेवाले जीव के विकारी भावो से भिन्न तो दर्शाया ही है, अपनी निर्मल पर्यायो और गुणभेद से भी भिन्न एक अखण्ड अभेद बताया है।

पञ्चास्तिकायसंग्रह मे श्री अमृतचन्द्राचार्य-कृत टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ और श्री जयसेनाचार्य कृत टीका के अनुसार १८१ गाथाएँ है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश – ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय है, क्योकि ये प्रदेशो की अपेक्षा महान है, बहुप्रदेशी है। लोक के अन्दर समस्त द्रव्य परस्पर मे प्रविष्ट होकर स्थित है, फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नही छोडते हैं सत्ता का स्वरूप बतलाकर द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि जो विभिन्न पर्यायो को प्राप्त हो उसे द्रव्य कहते है। अथवा जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से सहित हो वह द्रव्य है। अथवा जो गुण और पर्यायो का आश्रय हो वह द्रव्य है। द्रव्य सत्ता से अभिन्न है और यह सत् ही द्रव्य का लक्षण है।

अनेकान्त जिनागम का प्राण है, इसलिए इस ग्रथ मे विवक्षावश द्रव्य मे अस्ति, नास्ति, अस्तिनास्ति, अवक्तव्य, अस्तिअवक्तव्य, नास्तिअवक्तव्य और अस्तिनास्ति-अवक्तव्य – इन सात भगो का भी निरूपण किया गया है।

यह पचास्तिकायसग्रह दो अधिकारो मे विभाजित है। प्रथम अधिकार १०४ गाथाओ मे पूर्ण हुआ है। नाम है षड्द्रव्यपचास्तिकाय-वर्णन अधिकार। द्वितीय अधिकार मे ६६ गाथाएँ है। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बतलाकर इन तीनो का स्पष्ट स्वरूप बतलाया है। इस द्वितीय अधिकार का नाम नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग प्रपच-वर्णन अधिकार है अर्थात् इसमे जीवादि नौ पदार्थों का भी वर्णन किया है। प्रत्येक पदार्थ का यद्यपि सक्षिप्त वर्णन है, तथापि इतना सारगर्भित है कि सारभूत समस्त प्रतिपाद्य विषयो का उसमे समावेश पाया जाता है। निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए निश्चय और व्यवहार का उत्तम सामजस्य बैठाया है। और भी अनेक गूढ-गूढतम सिद्धान्त इसमे भरे हुए हैं।

नियमसार ग्रथ मे १८७ गाथाएँ है और निम्नलिखित १२ अधिकार है –

(१) जीवाधिकार, (२) अजीवाधिकार,
(३) शुद्धभावाधिकार, (४) व्यवहारचारित्राधिकार,
(५) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, (६) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार,
(७) परमालोचनाधिकार, (८) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार,
(९) परमसमाध्यधिकार, (१०) परमभक्त्यधिकार,
(११) निश्चय परमावश्यकाधिकार, (१२) शुद्धोपयोगाधिकार।

'नियम' का अर्थ लिखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रथ की तीसरी गाथा मे कहते हैं कि जो नियम से करने योग्य हो उसे 'नियम' कहते है तथा नियम से करने लायक सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। 'नियम' शब्द के साथ 'सार' पद का प्रयोग विपरीत के परिहार के लिए है। इसतरह 'नियमसार' का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। सस्कृत-टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी यही कहा है।

इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें एक परमपारिणामिकभाव अर्थात् त्रिकाली एक ज्ञायकभाव जो कि दृष्टि का विषय है, की धूम मचाई गई है तथा कारण-समयसार और कार्य-समयसार का स्वरूप दर्शाया है। कारण-परमाणु और कार्य-परमाणु की भी चर्चा इसमे की है। विशेषता मे भी विशेषता ये है कि इसके अनुसार, पाँच भावो मे परम-पारिणामिक भाव के अतिरिक्त जो चार भाव हैं वे परद्रव्य है, परभाव हैं और इसकारण हेय है। यहाँ अन्त:तत्त्व और बहिर्तत्त्व की व्याख्या भी अजोड है। अनन्त ज्ञानियों का जो उपास्य है, वही त्रिकाली शुद्ध आत्मतत्त्व इस ग्रन्थ मे प्रधानरूप से दर्शाया गया है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य-रचित चौरासी पाहुडो मे से वर्तमान मे आठ ही पाहुड उपलब्ध है, जो 'अष्टपाहुड' नाम से सकलित होकर प्रकाशित हुये है। वे अष्ट पाहुड ये है :— दसणपाहुड, सुत्तपाहुड, चारित्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड और सीलपाहुड।

दसणपाहुड मे ३६ गाथाओ द्वारा सम्यग्दर्शन की महानता दर्शाते हुए सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल कारण कहा है और ऐसी बुलन्द देशना दी है कि हे सकर्णो! तुम सुनो कि दर्शन से रहित की वन्दना नही करनी चाहिए। सुत्तपाहुड मे २७ गाथाओं द्वारा यह कहा गया है कि जो मुनि तिल-तुषमात्र भी परिग्रह रखकर अपने को मुनि मानता है और मनवाता है वह निगोद का पात्र है। चारित्तपाहुड मे ४५ गाथाओ द्वारा मोक्षाराधना का साक्षात् कारण सम्यक्‌चारित्र ही है—ऐसा कहा है। बोधपाहुड मे ६२ गाथाओं द्वारा दर्शाया गया है कि सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त मुनि ही चैत्यगृह है, इत्यादि। भावपाहुड में १६५ गाथाओ द्वारा यह दर्शाया गया है कि भावलिग के विना मात्र द्रव्यलिंग से परमार्थ की सिद्धि नही होती। मोक्षपाहुड मे १०६ गाथाओ द्वारा निजात्म द्रव्य की अद्‌भुत महिमा जानने वाला योगी अव्यावाध अनन्तसुख को प्राप्त करता है—यह कहा है। लिंगपाहुड मे २२ गाथाओ द्वारा जैनदर्शन मे निर्ग्रन्थमुनि, आर्यिका और उत्कृष्ट श्राविका के तीन ही लिंग होते है—यह कहा है। शीलपाहुड मे ४० गाथाओ द्वारा शील ही जगत मे सर्वश्रेष्ठ है—यह समझाया है।

इसप्रकार इस ग्रन्थ में शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में आचार्य कुंदकुंद का प्रशासक रूप मुखरित होता है।

कुन्दकुन्द-साहित्य मे साहित्यिक सुषमा भी गजब की है। नियमसार ग्रन्थ रूपक अलंकार का अनूठा ग्रन्थ है। अष्टपाहुड मे कूटक पद्धति का अनुसरण भी किया है। जैसे :—

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई॥[1]

अर्थात् तीन (तीन गुप्तियो) के द्वारा तीन (मन-वचन-काय) को धारण कर, निरन्तर तीन (शल्यत्रय) से रहित, तीन (रत्नत्रय) से सहित और दो दोषो (राग-द्वेष) से मुक्त रहनेवाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।

[1] अष्टपाहुड : बोधपाहुड, गाथा ४४

कुन्दकुन्दाचार्य की नय-व्यवस्था अवलोकनीय है। वस्तुस्वरूप का अधिगम या ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ मे रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को युगपत् ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ मे रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों मे से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयो का निरूपण करनेवाले आचार्यों ने उनका आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। आगमिक विवेचना मे नय के द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा नैगमादि सात भेद निरूपित किये हैं और आध्यात्मिक विवेचना मे निश्चय तथा व्यवहारनय का निरूपण है।

आगमपद्धति मे सामान्य वस्तुस्वरूप का विवेचन मुख्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि मे नय-विवेचन द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का लक्ष्य मुख्य रहता है। जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते है। अध्यात्म-विचारणा मे एकमात्र शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार हैं, असत् हैं। इसीलिए आगमिक क्षेत्र मे जैसे वस्तुतत्त्व का विवेचन द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयो के द्वारा किया गया है, वैसे ही अध्यात्म मे निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया जाता है। और निश्चयदृष्टि को परमार्थ और व्यवहारदृष्टि को अपरमार्थ कहा जाना है। क्योंकि निश्चयदृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहारदृष्टि शुद्धाशुद्ध अवस्था विशेष को दिखलाती है। अध्यात्मी मुमुक्षु शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने मे समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चयदृष्टि है, अत मुमुक्षु के लिए वही दृष्टि भूतार्थ है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार और नियमसार मे आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है, अतः इसमे निश्चयनय और व्यवहारनय – ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। पचास्तिकायसग्रह और प्रवचनसार मे आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ आगमिकदृष्टि को भी प्रश्रय दिया है, इसलिए इन ग्रन्थो मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो का भी वर्णन प्राप्त होता है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द और उनके मुख्य ग्रथो की सक्षिप्त चर्चा करके अन्त मे मैं यही मगल भावना भाती हूँ कि इन पच परमागमो का सार रूप जो निज शुद्धात्मा है, जो कि दिव्यध्वनि मे उपादेय कहा गया है, उस उपादेय को उपादेय करके स्वानुभूति को पाऊँ।

चिन्मुद्रा से अकित निर्विभाग महिमा है जिसकी ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ, कारको, धर्मों अथवा गुणो के भेद हो तो भले हो, परन्तु शुद्ध चैतन्यभाव मे तो कोई भेद नही है। सभी उस चैतन्य विभु को शीघ्र प्राप्त करे – यही मगल भावना है। □

लेखिका-परिचय :– उम्र : ३८ वर्ष। अभिरुचि : आध्यात्मिक चिंतन, मनन, अध्ययन और प्रवचन। सम्पर्क-सूत्र : श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५, राजस्थान।

आचार्य कुन्दकुन्द का प्रिय छन्द गाहा : काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन

– डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

□

भारतीय विद्या-परम्परा मे श्रमण और ब्राह्मण परम्पराएँ सर्वाधिक प्राचीन है। श्रमण सस्कृति मे गुणो की वदना का विधान है। कल्याणकारी गुणो का समवाय पचपरमेष्ठियो मे विद्यमान है। अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु मिलकर पंचपरमेष्ठी के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं।

आचार्य सुधी साधक होता है। उसकी गरिमा तीर्थंकर के सदृश मानी गई है। तीर्थंकर के अभाव मे आचार्य द्वारा धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन हुआ करता है। जनवद्य पूजनीय श्री कुन्दकुन्द महाराज आत्मरस-सिद्ध आचार्य थे। जैनो की आचार्य-परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान शीर्षस्थ है। जिनधर्म तथा सस्कृति के समुन्नयन मे उनका उल्लेखनीय अवदान रहा है।

आत्मा की रसात्मक अनुभूति जब अभिव्यक्ति का रूप धारण करती है तभी उसे काव्य की सज्ञा प्राप्त होती है। आचार्य कुन्दकुन्द आध्यात्मिक कवि-मनीषी थे। काव्य के मुख्यत. दो अंग होते हैं :– पहला भाव और दूसरा कला। काव्यशास्त्रीय निकष पर किसी भी काव्य का मूल्याकन उसके इन्ही दोनो अगो की सामग्री के आधार पर किया जाता है। भाव अगान्तर्गत काव्य की भाव-सम्पदा काव्य-कथानक, प्रकृति का चित्रण तथा रस-निरूपण विषयक बातों का प्राधान्य रहता है; जबकि कलाग मे उन सभी उपकरणो का समवाय रहता है जिनके सहयोग से काव्य का प्रयोजन शब्दायित किया जाता है। इसमे भाषा, छन्द, अलंकार, गुण, रीति आदि मुख्य उपकरण है।

आचार्य कुन्दकुन्द-विरचित काव्य में आध्यात्मिक भावों की बडी सूक्ष्म और सम्पूर्ण व्याख्या हुई है। उसके स्वाध्याय से कोई भी मुमुक्षु साधक अपने को उत्तरोत्तर परिमार्जित करता हुआ प्रभुपरिणति मे बदल सकता है। पूरे काव्य मे राग-द्वेष रहित रसराज शान्तरस का प्रवर्तन हुआ है। काव्य मे प्रकृति आलम्बन, उद्दीपन और आलकारिक रूप में प्राय: प्रयोग मे आया करती है। विवेच्य काव्य मे अभिव्यजनात्मक प्रभावोत्पादन में पूर्णता लाने के लिए प्रकृति का यथास्थान उपयोग हुआ है।

जहाँ तक भाषा के प्रयोग का प्रश्न है, विवेच्य वाङ्मय की भाषा प्राकृत है। प्राकृत भाषा से तात्पर्य है प्रकृति या स्वभाव से सिद्ध भाषा। जिसमे मनुष्य अपनी छोटी-बडी

अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है उसे प्राकृत कहते हैं। क्षत्र-भेद की दृष्टि से प्राकृत के अनेक रूप प्रचलित हैं। भाषावैज्ञानिक उन्हे मागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, पाली, पैशाची परिगणित करते हैं। अर्द्धमागधी जैन आगमो की भाषा है। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा का रूप शौरसैनी प्राकृत है।

विवेच्य काव्य मे उपमा, रूपक, दृष्टान्त तथा अनुप्रास आदि अलकारो का प्रयोग द्रष्टव्य है। दृष्टान्त अलकार का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ पाडित्य-प्रदर्शन हेतु आलकारिक प्रयोग नही किया गया है। मूलोद्देश्य रहा है अभिव्यक्ति को सपुष्ट और स्पष्ट करना। इसी अभिप्राय से जहाँ-जहाँ और जिन-जिन अलकारो के प्रयोग हुए है, वे सर्वथा उत्कृष्ट प्रयोग है। माधुर्य और प्रसाद गुणो का प्रयोग काव्य मे अभिदर्शित है तथा वहाँ समादृत रीतियाँ है गौडी और पाचाली।

काव्याभिव्यक्ति मे छन्दोयोजना की भूमिका बडे महत्त्व की होती है। भावधारा के सम्प्रेषण हेतु छन्द-तत्र का चयन जितनी सावधानी के साथ किया जाएगा, अभिव्यक्ति उतनी ही समर्थ और सार्थक सिद्ध होगी। छन्दविज्ञान मे आचार्य कुन्दकुन्द पटु थे, पारखी थे। जितने भी छन्दो का प्रयोग उनके काव्य मे हुआ है, विषय के अनुरूप उनकी समीचीनता के साथ ही साथ है; अतिरिक्त विशेषता है छन्द-शुद्धि।

अक्षर, अक्षरो की सख्या एव क्रम, मात्रा, मात्रा-गणना तथा यति-गति आदि से सम्बन्धित विशिष्ट नियमो से नियोजित पद्य रचना छन्द कहलाती है[१]। छन्द वस्तुत. एक व्यवस्थित ध्वनि है। मात्राओ और वर्णों की विशेष व्यवस्था एव गणना जिस रूप मे व्यवस्थित होती है उसे छन्द कहा जाता है।

छन्द शब्द 'छद्' धातु से सगठित है जिसका अर्थ है आवृत्त करने या रक्षित करने के साथ-साथ प्रसन्न करना[२]। इसप्रकार छन्द वह आवरण है जिसमे ढक कर कोई वाणी अर्थात् भाव पद्य रूप मे युग-युगान्तर चिरजीवी रह सकता है[३]। छन्द और सगीत का अभिन्न सम्बन्ध है। छन्द और सगीत दोनो लय पर अवलम्बित हैं। सगीत का मुख्याधार है 'नाद और छन्द। लय के आधार पर टिका हुआ है नाद-विधान[४]। छन्दों का सगीत शास्त्र से अटूट सम्बन्ध है। सगीत के समान छन्द मे भी मात्राओ द्वारा उसकी गति का बोध होता है। वर्णिक छन्दों मे भी लघु-गुरु और गणो का क्रम एक निश्चित लय के अनुसार होता है[५]।

स्वर-योजना लय कहलाती है। लय सगीत का प्रधान अंग है। लय की अणिमा और महिमा ही वस्तुत छन्द है अर्थात् छन्द वास्तव मे स्वर की लयात्मक गति है। नाद

---

[१] हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ २९० सपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

[२] हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ २९० सम्पादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

[३] डॉ० आदित्य प्रचडिया, जैन हिन्दी काव्य मे छन्द योजना, पृष्ठ १

[४] उपा गुप्ता, हिन्दी के कृष्णभक्तिकालीन साहित्य मे सगीत, पृष्ठ ४५

[५] उमा मिश्र; काव्य और सगीत का पारस्परिक सम्बन्ध, पृष्ठ ४५

की गतियाँ जब लयमयी बनती हैं तभी छन्द जन्म लेता है। गीत यदि कविता है तो छन्द गीत की तान है और तान का स्वर लय वस्तुत: संगीत है।

संगीत का मुख्य अंग है नाद[1]। शब्द अथवा ध्वनि ही नाद कहलाती है। संगीत इसी नाद को जन्म देता है। नाद की गति, लय, अवरोह, संकोचन, विस्तार आदि स्वर को सस्वर बनाते है। स्वर को बाँधने का काम छन्द करता है। छन्द मे जब स्वर-सम्पदा व्यवस्थित होकर रूप ग्रहण करती है तभी छन्द-बद्ध काव्य बन जाता है।

संगीत अंतरग मे प्रसुप्त भावराशि को जगाने का उपाय करता है। जब संगीत के स्वर झंकृत होते हैं तभी हार्दिक हूकक्रूक बनकर प्रस्फुटित होते है। वैखारी की समुचित व्यवस्था का कार्य छन्द मे समाहित है। छन्द और संगीत किसी भी अभिव्यक्ति के दो प्रधान अंग है। अंतरग मे प्रसुप्त भाव-सम्पदा को जगाने का काम संगीत का है, जबकि जागृत भावाव्यक्ति को व्यवस्थित रूप देना छन्द का ही काम है।

मन के विकार को भाव कहा गया है। भाव अथवा मनोविकारो की व्यंजना मुख से नि:सृत वचनो द्वारा ही सम्पन्न होती है[2]। हमारी चित्तवृत्ति के अनुरूप ही वाणी का स्वरूप मुखर होता है। अश्रूपूरित अथवा विगलित वाणी अपनी भंगिमा मे मथर गति से चलती है, जबकि प्रेम-प्रमोद में वचनावली त्वरन्त नि सृत हुआ करती है। इसीप्रकार भय से हमारे अंग-प्रत्यग ही नहीं कम्पित होते, अपितु उस समय वाणी भी संकोच में थरथराती प्रकट होती है। विचार करें तो साधारण व्यक्ति की वाणी जब भिन्न-भिन्न भावो मे विशिष्ट भंगिमा के साथ प्रकट हुआ करती है, तब भला भावुक कविर्मनीषी की वाग्धारा मे नानाप्रकार से तरंगायित होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। वाणी की यही तरंग-भंगिमा अर्थात् उतार-चढ़ाव लय की सर्जना करता है और लय की यही व्यवस्था अर्थात् ताना-बाना वस्तुत: छन्द है। इसप्रकार छन्द का सीधा सम्बन्ध भाव से स्थिर हो जाता है। भाव रस की पूर्वावस्था है, अत: भावो के वातायन से रस भी छन्द से सम्बन्धित हो जाता है।

रस और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध से कवि भली-भाँति परिचित होता है। भाव और रस के अनुसार यदि छन्द का चयन न किया गया तो रसोद्रेक मे बाधा उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए विप्रलम्भ शृंगार-वर्णन में मन्दाक्रान्ता छन्द ही अनुकूल प्रमाणित हो सकता है, द्रुतविलम्बित नही। वियोग-व्यथा को धीरे-धीरे कहा-सुना जाता है, उसे द्रुतगति से व्यक्त नही किया जाता। छन्दशास्त्र और काव्यशास्त्र में रसों के अनुसार छन्दो के प्रयोग-उपयोग पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। काव्य मे छन्द के त्रुटिपूर्ण प्रयोग से अभिव्यक्ति-आभा निस्तेज हो जाती है।

विवेच्य कवि आचार्य कुन्दकुन्द-विरचित काव्य में कहीं छन्द-भंग प्रयोग नही मिलते। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा गाहा, सिहनी, गाहिनी, गहू, दोहा, विग्गाहा, उग्गाहा

---

[1] शालिग्रामप्रसाद, वृहद् हिन्दी कोश, पृष्ठ ७००

[2] आचार्य विश्वनाथ; साहित्य-दर्पण, पृष्ठ १६-३२

तथा चपला आदि छन्दो का प्रयोग परिलक्षित है। गाहा, गाहू, विग्गाहा और उग्गाहा एक ही जाति के विभिन्न मात्रिक छन्द है। इनके लक्षणो पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इनमें यत्किंचित् परस्पर मे अन्तर है। उग्गाहा के प्रथम व तृतीय चरणो मे क्रमश बारह-बारह मात्राएँ होती हैं और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणो मे अठारह-अठारह मात्राएँ होती हैं। विग्गाहा मे प्रथम और तृतीय चरणो मे बारह-बारह मात्राएँ होती हैं तथा द्वितीय चरण मे पन्द्रह और चतुर्थ चरण मे अठारह मात्राएँ होती हैं। गाहू छन्द मे प्रथम तथा तृतीय चरणो मे बारह-बारह मात्राएँ होती है जबकि द्वितीय-चतुर्थ चरणो मे पन्द्रह-पन्द्रह मात्राएँ होती है। गाहा मे प्रथम तथा तृतीय चरणो मे बारह-बारह तथा द्वितीय चरण मे अठारह और चतुर्थ चरण मे पन्द्रह मात्राएँ होती हैं।

कविवर की बहुविख्यात रचना है 'समयसार'। इसमे कुल चार सौ पन्द्रह गाथाएँ हैं, जिनमे चार सौ सात गाथाओ मे गाहा छन्द व्यवहृत है। प्राकृत का गाहा छन्द परवर्ती काव्य मे 'गाथा' के नाम से व्यवहृत हुआ है[1]। हिन्दी मे इसके रूप मे किंचित् परिवर्तन हुए हैं। डॉ० जानकीनाथ सिंह मनोज के अनुसार गाथा छन्द मे समपदो मे अठारह मात्राएँ तथा विषम पदो मे बारह मात्राएँ होती है[2]। हिन्दी मे आते-आते इस छन्द मे पन्द्रह के स्थान पर अठारह मात्राओ के साथ परिवर्तन हो गया है।

'प्राकृत पैंगलम्' मे गाहा छन्द को पढने की विधि पर भी विचार किया गया है। छन्द-बोध के अनुसार गाथा का प्रथम चरण हस जैसी मथर गति से पढने का विधान है। द्वितीय चरण सिंह की भाँति अर्थात् तीव्रगति से पढना चाहिए। तृतीय चरण गजगति से पढ़ने का निर्देश दिया गया है तथा चतुर्थ चरण को सर्पगति की भाँति पढने का स्पष्ट उल्लेख है।[3]

व्यवहार से आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है – इस अभिप्राय को व्यक्त करनेवाली समयसार की चौरासीवी गाथा मे कवि ने गाहा छन्द का सफल प्रयोग किया है –

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविह ॥८५॥

– इस गाथा के प्रथम और तृतीय चरण में बारह-बारह मात्राएँ हैं तथा द्वितीय चरण मे अठारह और चतुर्थ चरण मे पन्द्रह मात्राएँ व्यवहृत हैं।

इसीप्रकार 'रयणसार' मे मिथ्यात्व से ससार-परिभ्रमण प्रसग मे गाहा छन्द का प्रयोग किया गया है। यथा –

कालमणंतं जीवो, मिच्छत्तसरूवेण पंच संसारे।
हिंडदि ण लहदि सम्मं, संसारब्भमणपारंभो ॥१२५॥

---

[1] सपादक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ २५६

[2] डॉ० जानकीदाससिंह मनोज, हिन्दी कवियो का छन्दशास्त्र को योगदान, पृष्ठ ११८

[3] पढम वी हसप अवी ए सहिस्स विक्कप जाआ।
तीए गअवर तुलिअ अहिवर लुलिअन्वउत्थर गाहा॥ – प्राकृत पैंगलम्

यहाँ प्रथम तथा तृतीय चरणो मे बारह-बारह मात्राएँ तथा द्वितीय चरण में अठारह और चतुर्थ चरण मे पन्द्रह मात्राएँ प्रयुक्त है।

इसीप्रकार 'प्रवचनसार' मे आत्मा का ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतपना उद्योत करने के प्रसग मे कवि ने गाहा छन्द का प्रयोग किया है :-

> आदा णाणपमाण णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
> णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२३॥

यहाँ प्रथम तथा तृतीय चरण मे बारह-बारह मात्राएँ है तथा द्वितीय चरण मे अठारह मात्राएँ हैं और चतुर्थ चरण मे है पन्द्रह मात्राएँ।

कवि की अन्य कृतियों मे भी गाहा छन्द का सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है।

इसप्रकार विवेच्य काव्य मे रीति के समान गुण का भी सीधा सम्बन्ध छन्द से स्थिर नही हो पाता, तथापि रस के उत्कर्ष हेतु तथा नैत्यिक धर्म होने के कारण इसका सीधा सम्बन्ध छन्द से जुड जाता है। भावो की प्रेषणीयता और अनुकूल छन्दों का चमत्कार अनुकूल भावो पर निर्भर करता है। काव्याभिव्यक्ति मे समुत्कर्ष उपयुक्त छन्द की अन्वति पर निर्भर करता है। विवेच्य काव्य मे कवि द्वारा 'गाहा' छन्द के प्रयोग मे सर्वाधिक प्रियता मुखर हो उठी है। □

लेखक-परिचय :- उम्र : ५५ वर्ष। शिक्षा : एम ए., पी-एच डी., डी. लिट्, साहित्यालंकार, विद्यावारिधि। चिन्तक, मनीषी, लेखक, प्रवक्ता। निदेशक : जैन शोध अकादमी, अलीगढ। सम्पर्क-सूत्र : 'मंगल कलश', ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ - २०२००१, उत्तरप्रदेश।

आचार्य कुन्दकुन्द की साहित्यिक सुषमा

– सुजानमल जैन, अजमेर

दिगम्बर जैन समाज में कोई किसी भी विचारधारा का हो, लेकिन वह कविवर वृन्दावनजी के इस कथन को तो निर्विवाद स्वीकार करता ही है कि कुन्दकुन्द-जैसे जैनाचार्य न हुए है और न होंगे। तात्पर्य यह है कि कुन्दकुन्द अपने ढग के अद्वितीय हैं। कविवर वृन्दावनजी ने अपने सवैये मे निम्न उद्गार प्रकट किये हैं –

जास के मुखारविन्दतें प्रकाश भास वृन्द,
स्यादवाद जैन वैन इन्दु कुंदकुंद-से।
तासके अभ्यासतें विकास भेदज्ञान होत,
मूढ सो लखै नही कुबुद्धि कुंदकुंद-से॥
देत हैं अशीस शीस नाय इद्र चद्र जाहि,
मोह-मार-खड मारतड कुंदकुंद-से।
शुद्धबुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध रिद्धि-सिद्धिदा,
हुए हैं न होंहिंगे मुनिंद कुंदकुंद-से॥

कुन्दकुन्दाचार्य जैनागम मे परमागम के अर्थात् अध्यात्म के तो ज्ञाता थे ही, साथ ही उन्हे साहित्य मे छन्द-अलकार का भी विस्तृत ज्ञान था। उन्होने अपने प्रसिद्ध परमागमो – समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि – मे गाथा छन्द से हटकर अन्य छन्दो का तथा मूल अलकारो मे उपमा एव रूपक अलकारो का प्रयोग भी किया है। यही नही, आपने कही-कही अप्रस्तुत-प्रशसा तथा कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है।

अध्यात्म जैसे शुष्क विषय को इसतरह विविध छन्दो तथा अलकारो के माध्यम से रोचक बनाकर आपने उसके शुष्कपने को शुष्क कर दिया है। इसी कारण जिन्हे भी थोडा-सा अध्यात्म का रस आने लगता है, वे फिर इन परमागमो से ऊबते नही हैं। बार-बार अध्ययन-मनन-चिन्तन द्वारा आत्मसात् करना चाहते हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने इस नीरस विषय मे भी कैसा रस भरा है – यह छन्द-अलकार के ज्ञाता ही भलीभाँति समझ सकते है। आइये, अब उनके गाथा छन्द के अलावा कतिपय अन्य छन्दो का रसास्वाद करें।

भावपाहुड के निम्नलिखित छन्द अनुष्टुप् छन्द के अच्छे उदाहरण है –

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलबण च मे आदा अवसेसाइ वोसरे॥५७॥

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ।।५६।।

क्रमश. नियमसार और समयसार के निम्नलिखित छन्द भी इसी छन्द के उदाहरण है :—

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तो पिहिदिंदिम्रो ।
तस्स समाइग ठाइ इदि केवलिसासणे ।।१२५।।

चेदा दु पयडीअट्ठ उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठ उप्पज्जइ विणस्सइ ।।३१२।।

इसीप्रकार भावपाहुड की निम्नलिखित गाथाओ मे उपमालकार की छटा भी दर्शनीय है :—

जह तारयाण चंदो मयराम्रो मयउलाण सव्वाणं ।
अहिम्रो तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माण ।। १४४ ।।

जह फणिराहो सोहइ फणमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिम्रो ।
तह विमलदसणधरो जिणभत्तीपवयणे जीवो ।। १४५ ।।

जह तारायणसहिय ससहरबिब खमडले विमले ।
भाविय तववयविमल जिणलिग दसणविसुद्ध ।। १४६ ।।

भावपाहुड की ही निम्नलिखित गाथाएँ रूपक अलकार के श्रेष्ठ उदाहरण है —

जिणवर चरणंवुरुहं णमति जे परमभत्तिराएण ।
ते जम्मवेलिमूल खणति वरभावसत्थेण ।। १५३ ।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणति मुणि णाणसत्थेहिं ।। १५८ ।।

अप्रस्तुत-प्रशसा का चित्रण भी भावपाहुड में से ही देखिए :—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्म ।
गुडदुद्धट्ठ पि पिवता ण पण्णया णिव्विसा होंति ।। १३८ ।।

आचार्यश्री ने कही पर कूटक-पद्धति का भी अनुसरण किया है, मोक्षपाहुड की इस गाथा में उसका भी रसपान कीजिएगा :—

तिहि तिण्णि धरवि णिच्च तियरहिम्रो तह तिएण परियरिम्रो ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झाएय जोई ।। ४४ ।।

ऊपर के कुछ नमूनो से इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है कि आचार्यश्री का साहित्यिक क्षेत्र मे पूरा अधिकार था ।

[प्रस्तुत लेख प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर द्वारा लिखित अष्टपाहुड की प्रस्तावना के आधार पर लिखा गया है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ । —सुजानमल] □

आचार्य कुन्दकुन्द का तत्त्वार्थसूत्र पर प्रभाव

—डॉ० शीतलचन्द्र जैन

□

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म/जैनसमाज का महत्त्वपूर्ण एव प्रसिद्ध ग्रथ है जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो मे थोडे पाठभेद के साथ समानरूप से माना जाता है। इसके कर्त्ता उमास्वामी अपने समय के महान् विद्वान आचार्य हो गये है जिन्हे कुछ शिलालेखो मे 'तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी' और 'श्रुतकेवलिदेशीय'-तक लिखा है। ये 'उमास्वाति' और 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामो से भी प्रसिद्ध हैं। जीवस्थानकालानुगम अनुयोगद्वार मे नौआगम द्रव्यकाल के स्वरूप को प्रकट करते हुए धवलाकार ने 'वर्तना-परिणाम-क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' इस सूत्र को गृद्धपिच्छाचार्य-विरचित तत्त्वार्थसूत्र के नाम से उद्धृत किया है।

श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो मे 'उमास्वामी' नाम के साथ 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम का भी स्पष्ट उल्लेख है। उन शिलालेखो मे उमास्वामी को कुन्दकुन्दाचार्य का वशज बताया है और नन्दीसघ की पट्टावलि मे उन्हे कुन्दकुन्द का पट्टशिष्य लिखा है।

तत्त्वार्थसूत्र की रचना पर मूल प्रभाव किस आचार्य का रहा है—इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि आचार्य कुन्दकुन्द-प्रणीत ग्रथो का एव भूतबल्यादि आचार्य-प्रणीत षट्खण्डागम का प्रभाव स्पष्ट है। यह प्रभाव तत्त्वार्थसूत्र मे आगत सूत्रो पर कही शब्दशः और कही अर्थश दिखाई पडता है। प्रस्तुत शोध-निबन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रथो का ही विश्लेषण करेगे।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रथो मे पचास्तिकायसग्रह का प्रभाव सबसे ज्यादा दिखाई पडता है। इसके बाद क्रमश. प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, चारित्रपाहुड, दर्शनपाहुड एव भावपाहुड आदि का है।

आचार्य कुन्दकुन्द-प्रणीत ग्रथो के प्रारम्भ मे जो मगलाचरण किये गये है उनमे प्राय गुणो को नमस्कार किया गया है। जैसे—पचास्तिकायसग्रह के मगलाचरण मे पूजातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय, घातिकर्मापायातिशय विशेषणो से युक्त 'अतातीदगुणाण णमो' कहा है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी कुन्दकुन्द की परम्परा के प्रभाव से तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे 'तद् गुणलब्धये' के रूप मे मगलाचरण किया है। जिसको उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने अपनाया है।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.' पर ही पचास्तिकायसग्रह की १६४वी गाथा के इस अंश का प्रभाव है –

दसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो।

इसीप्रकार सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर विचार करते है तो आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जीवादीसद्दहण सम्मत्त' कहकर जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा है। आचार्य उमास्वामो ने भी तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् १/२। इसमे आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जीवादी' पद ग्रहण करके जीवाजीवास्रवादि सात तत्त्वो का भी ग्रहण कर उमास्वामी आचार्य से भी सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा, जबकि आचार्य उमा स्वामी को एक सूत्र सम्यग्दशन की परिभाषा का बनाना पडा तथा आगे तत्त्वो को स्पष्ट करने के लिए 'जोवाजीवास्रवबधसवर....' सूत्र की रचना पृथक् से की।

यह भी तथ्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द की ज्ञानचर्या का दोहन कर उमास्वामी ने विस्तार से ज्ञान के भेद, स्वरूप एव उनके विषय आदि विषयक अनेक सूत्रो की रचना की। और स्वतत्र जैन-दृष्टि से प्रमाण की चर्चा के साथ दसवे अध्याय मे तो हेतु, उदाहरण का प्रयोग करके न्याय के बीजो का भी रोपण किया। अत स्पष्ट है कि उमास्वामी ने प्रमाण-नय के साथ हेतु, उदाहरण आदि का प्रयोग करके उत्तरवर्ती आचार्यो के लिए न्याय का मार्ग प्रशस्त किया।

द्रव्य के लक्षण को आचार्य कुन्दकुन्द ने पचास्तिकायसग्रह मे जैसा कहा, वैसा ही तत्त्वार्थसूत्रकार ने शब्दत. लिया है –

दव्व सल्लक्खणिय/पचा० १०
सद द्रव्यलक्षणम्/त० ५/२९

उत्पादव्ययध्रुवत्तसजुत्त/पचा० १०
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्/त० ५/३०

गुणपज्जयासय/पचा० १०
गुणपर्ययवत् द्रव्यम्/त० ५/३८

आचार्य कुन्दकुन्द ने बन्ध के हेतुओं की चर्चा करते हुए चार ही बध के हेतु स्वीकार किये, जबकि उमास्वामी ने अन्तिम परम्परा जो बध के हेतुओ की पाँच की प्राप्त होती है उसको अपनाया है। सर्वप्रथम एक परम्परा बध के हेतुओ की कषाय-योग के रूप मे प्राप्त है। दूसरी परम्परा कषाय, योग, मिथ्यात्व, अविरति की मिलती है। उमास्वामो ने कुन्दकुन्द की परम्परा में विस्तार कर प्रमाद को जोडकर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँचो को बध का हेतु स्वीकार किया :–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णति बधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमण कसायजोगा य बोद्धव्वा॥ –समयसार, गाथा १०९
मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव·/त० ८/१

इसीप्रकार कुछ अन्य सूत्रो के उदाहरण गाथाओ की तुलना के साथ द्रष्टव्य हैं, जो कुन्दकुन्द के ग्रथो से सूत्रकार ने स्पष्टतया दोहनकर अक्षरश. लिए है –

फासो रसो य गन्धो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति । –प्रवचनसार, गाथा ५६
स्पर्शरसगधवर्णवन्त पुद्गल /त० ५/२३

जीवो उवओगलक्खणो – समयसार, गाथा २४
उपयोगो लक्षणम् । – तत्त्वार्थसूत्र २/८

देवा चउण्णिकाया । – पचा० ११८
देवाश्चतुर्णिकाया । – तत्त्वार्थसूत्र ४/१

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास । – नियमसार, गाथा १
अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला· । – तत्त्वार्थसूत्र ५/१

सखेज्जासखेज्जाणतपदेसा हवति मुत्तस्स । – नियमसार, गाथा ३५
सख्येयाऽसख्येयाश्च पुद्गलानाम् । – तत्त्वार्थसूत्र/५/१०

गमणणिमित्त धम्ममधम्म ठिदि जीवपुग्गलाण च । – नियमसार, गाथा ३०
गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरूपकार । – तत्त्वार्थसूत्र/५/१७

आगासस्सवगाहो – प्रवचनसार, गाथा १३३
आकाशस्यावगाह । – तत्त्वार्थसूत्र ५/१८

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास ज परोधं च ।
एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसविसवादो ।। – चारित्रपाहुड, गाथा ३३
शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माऽविसवादा पच ।
– त० ७/६

आसवणिरोहो (सवरो) । –समयसार, गाथा १६६
आस्रवनिरोध सवर । – तत्त्वार्थसूत्र ६/१

कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जत । – नियमसार, गाथा १८३
तदनतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् । – तत्त्वार्थसूत्र १०/५

धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छति । – नियमसार, गाथा १८४
धर्मास्तिकायाभावात् । – तत्त्वार्थसूत्र १०/८

उक्त आलेख से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द का उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर कही शब्दत, कही अर्थश स्पष्टरूप से प्रभाव है । इसीप्रकार षट्खण्डागम एव मूलाचार का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है, जिस पर कभी स्वतत्ररूप से विचार किया जायेगा । □

लेखक-परिचय – उम्र · ४० वर्ष । शिक्षा जैनदर्शनाचार्य, एम० ए० (सस्कृत), विद्यावारिधि । अभिरुचि : लेखन, पठन, मनन । सम्प्रति प्राचार्य, श्री दिगम्बर जैन आचार्य सस्कृत महाविद्यालय, जयपुर । सम्पर्क-सूत्र बिल्टी वाला हाउस, अजबघर के पीछे, किशनपोल बाजार, जयपुर, राजस्थान ।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य

—अध्यात्मप्रकाश जैन

☐

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के एक महान् आचार्य हैं। आप जैनदर्शन के ज्ञाता तथा चारणऋद्धि-धारी थे।

आचार्यदेव के प्रमुख पाँच ग्रन्थ उपलब्ध है, जिन्हे पचपरमागम के नाम से भी जाना जाता है। इनके नाम अग्रलिखित है —समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकायसग्रह और अष्टपाहुड।

समयसार परमागम मे निज शुद्ध भगवान आत्मा का तथा इसी से सबधित अन्य प्रासगिक वर्णन मिलते है। प्रवचनसार मे ज्ञान का महत्त्व, केवलज्ञान का स्वरूप तथा अन्य प्रासगिक वर्णन किये गये हैं। 'नियमसार' परमागम मे भगवान आत्मा की अनुभूति की वार्ता हुई है। पचास्तिकायसग्रह मे नौ पदार्थ, छ. द्रव्य तथा अन्य प्रासगिक चर्चा की गई है। अष्टपाहुड मे विकृतियों का निराकरण करते हुए मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप बताया गया है।

आचार्यप्रवर को कुछ विद्वान 'रयणसार' और 'बारस अणुवेक्खा' आदि ग्रन्थों का रचयिता भी मानते है तथा यह भी कहा जाता है कि इन्होने 'षट्खडागम' ग्रथ पर एक 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी जो अभी अनुपलब्ध है, इसमे आपने करणानुयोग का वर्णन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के कतिपय प्रमुख प्रतिपाद्यो को हम बालसुलभ शैली मे इसप्रकार समझ सकते हैं :—

(१) शुद्धात्मा :—आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रमुख रूप से जिन-अध्यात्म के प्रणेता है, अत उनके सम्पूर्ण साहित्य मे प्रमुख रूप से भगवान आत्मा या शुद्धात्मा का ही वर्णन मिलता है। शुद्धात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले प्रमुख ग्रथ समयसार और नियमसार है। समयसार के प्रारम्भ मे भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव लिखते हैं :—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।

अर्थात् भगवान आत्मा वस्तुतः न तो अप्रमत्त है और न ही प्रमत्त है, वह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूपी है। इसीप्रकार नियमसार ग्रन्थ मे भी शुद्धात्मा की साधना और

आराधना का निश्चय से प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रतिक्रमण आदि कहा है। सच तो यह है कि इन ग्रथो मे आचार्यदेव ने जगत् के जीवो को एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा की अश्रुतपूर्व बात बताकर परम उपकृत किया है।

(२) **ज्ञानी-अज्ञानी :–** ज्ञानी और अज्ञानी के सम्बन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द की धारणा जगत् से निराली ही है। जगत् मे जो कुछ भी जानता है उसे ज्ञानी माना जाता है और जो कुछ भी नही जानता है उसे अज्ञानी; किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञानी वही है जो निजात्मा को जानता है और जो निज शुद्धात्मा को नही जानता है, वह अज्ञानी ही है। जो जीव निज शुद्धात्मा को जानता है वह चाहे अन्य कुछ भी न जानता हो, अनपढ ही भले हो, किन्तु वह ज्ञानी है और जिसे लौकिक ज्ञान चाहे ढेर सारा हो, किन्तु यदि वह परद्रव्यो से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी निजात्मा को नही जानता है तो वह अज्ञानी ही है।

(३) **सर्वज्ञता :–** जैनधर्म का मूल सर्वज्ञ है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रथो मे सर्वज्ञता की भी भरपूर चर्चा की है। प्रवचनसार तो एक तरह से सर्वज्ञता की सिद्धि के लिए ही समर्पित लगता है। इसमे आचार्यश्री ने समस्त द्रव्य, गुण और उनकी तीनो काल की समस्त पर्यायो को एक साथ हस्तामलकवत् जानने वाले दिव्यज्ञान की चर्चा की है। आचार्यश्री के अनुसार पूर्णज्ञान वही है जो लोकालोक के समस्त ज्ञेयो को उनसे अप्रभावित रहकर जाने।

(४) **ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध :–** इस उपर्युक्त प्रसग मे ही आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध की मगलकारी चर्चा की है। पूर्ण ज्ञान ज्ञेयो को परिणमाता नही है, परन्तु उन्हे स्पष्टत जान अवश्य लेता है। ज्ञान पदार्थों को जानता है और सब पदार्थ ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, परन्तु कोई किसी को रचमात्र हस्तक्षेप नही करता। जिसप्रकार आग दर्पण मे घुसती नही है और न दर्पण आग से गरम ही होता है, परन्तु सहज ही आग दर्पण मे झलकती है। उसीप्रकार ज्ञान मे ज्ञेय नही घुसते, ज्ञेयो मे भी ज्ञान नहीं घुसता, ज्ञान और ज्ञेय कोई किसी से बिल्कुल प्रभावित नही होते है, परन्तु ज्ञान का यह सहज और दिव्य स्वभाव ही है कि वह उन्हे यथावत् भूत-भविष्य की पर्यायो सहित जानता है।

(५) **क्रमबद्धपर्याय :–** यद्यपि स्पष्ट रूप मे क्रमबद्धपर्याय की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य मे नही है, किन्तु वह बिल्कुल नही है – ऐसा नही कहा जा सकता। समयसार की ३०९,१० और ११वी गाथाओ की टीका करते हुए उनके समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो अजीव एव न जीवः।

अर्थात् जीव अपने क्रमबद्ध परिणामो से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नही; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं।"

यहाँ हमे स्पष्ट ही क्रमबद्धपर्याय के गहरे बीज उपलब्ध होते है। 'प्रवचनसार' मे आई हुई सर्वज्ञता की चर्चा भी क्रमबद्धपर्याय की सशक्त सस्तुति के अलावा और क्या है?

(६) अकर्त्तावाद :— आचार्यप्रवर ने अपने ग्रंथों में यह बताया है कि कोई भी द्रव्य किसी भी द्रव्य का कुछ भी नही कर सकता। दूसरे को परिणमित कराने का भाव ससार का कारणभूत अज्ञान ही है। आचार्यप्रवर ने इस सम्बन्ध मे तर्क प्रस्तुत किया है कि जो स्वय नही परिणमता, उसे कोई अन्य कैसे परिणमा सकता है ?

(७) भेदविज्ञान .— आचार्यश्री ने कहा है कि आत्मा सभी परद्रव्यो से भिन्न एकमात्र ज्ञायकस्वरूप ही है। यहाँ तक कि आत्मा, शरीर से भी जिसका कि उसके साथ एकक्षेत्रावगाही सम्वन्ध है, अत्यन्त पृथक् है। इसीप्रकार दासी, दास, मकान, स्त्री, परिवार आदि सभी इस आत्मा से भिन्न है; इसलिये हमे इन सबसे आत्मा का भेदज्ञान करना चाहिये।

(८) पुण्य-पाप :— आचार्यप्रवर श्री कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप का स्वरूप समयसार के पुण्य-पाप अधिकार मे लिखा है। उन्होने कहा है कि जिसप्रकार लोहे की जजीर भी पुरुष को बांधने का कार्य करती है तथा सोने की जंजीर भी मनुष्य को बाँधती ही है; उसी प्रकार पाप से तो जीव बँधता ही है, पुण्य से भो जीव बँधता ही है। दोनो बध के ही कारण है; अतः हेय है, उपादेय नही।

(९) निमित्त-उपादान :— निमित्त-उपादान कुन्दकुन्द-साहित्य का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इस सम्बन्ध मे आचार्यगुरु ने कहा है कि निमित्त कार्य होने पर उपस्थित तो रहता है, परन्तु वह उस कार्य का कर्त्ता नही होता। उस कार्यरूप परिणमन करने वाला तो स्वय उपादान ही होता है, अन्य नही। भले ही निमित्त के न होने पर कार्य नही होता, परन्तु निमित्त अकेला हो और उपादान न हो तो भी कार्य नही हो सकता; अतः निमित्त कार्य का कारण नही है, कार्य का मूल कारण तो उपादान होता है। इसलिए आत्मार्थी जीव को निमित्तो से दृष्टि हटाकर त्रिकाली उपदानरूप निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।

(१०) छह द्रव्य .— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल — ये छह द्रव्य हैं। आचार्यशिरोमणि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने पचास्तिकायसग्रह में इनका विशद वर्णन किया है। कहा है कि विश्व छह द्रव्यो से मिलकर बना है। प्रत्येक द्रव्य मे अपने गुण और अपनी पर्यायें रहती हैं। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है। हमे एक दिखते हुए भी सभी द्रव्य परस्पर भिन्न ही है। सभी द्रव्य स्वतंत्र है, अतः किसी को कोई भी बदल नही सकता।

(११) नौ पदार्थ :—सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप मिलकर नौ पदार्थ कहलाते है। इनका विशेष वर्णन समयसार एवं पचास्तिकायसग्रह मे किया गया है तथा बताया गया है कि उनमे जीवतत्त्व उपादेय है, अजीवतत्त्व ज्ञेय है, आस्रव, बघ, पुण्य और पाप हेय हैं, संवर-निर्जरा एकदेश उपादेय और मोक्ष सर्वदेश उपादेय है।

(१२) बारह भावना :— आचार्यप्रवर ने वैराग्यजननी बारह भावनाओ पर भी द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) नामक पुस्तक की रचना की है, जिसमे अनित्याशरणादि बारह भावनाओ का वर्णन है। अन्य जिन-शास्त्रो की भाँति उस पुस्तक मे भी बारह भावनाओं का विशेष चिन्तन किया गया है।

(१३) **मुनिधर्म :–** आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मुनिधर्म का सच्चा एव वास्तविक वर्णन अष्टपाहुड नामक परमागम मे किया है। उन्होने शिथिलता का पूर्ण रूप मे विरोध करते हुए कहा है कि यदि मुनि कपडे का एक तार भी अपने पास रखे तो वह अगले भव मे लगडे और लूले होगे तथा निगोद मे जावेगे। साथ ही साथ उन्होने मुनिधर्म की महानता भी बताई है। कहा है कि मुनिधर्म के विना मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। इसलिये हमे सच्चा मुनिधर्म अगीकार करना चाहिये।

प्रवचनसार की चरणानुयोग चूलिका मे भी आचार्यदेव ने मुनिधम का सच्चा और मार्मिक स्वरूप उद्घाटित किया है। मुनिराज यथाजातरूपधर (जन्म के समय जैसे बिल्कुल नग्नरूप वाले) होते है।

(१४) **अज्ञात करणानुयोग** –श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बारे मे ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होने करणानुयोग के षट्खडागम् नामक ग्रथ पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी, जो अभी अनुपलब्ध है। उसमे भी उन्होने अपने करणानुयोग सबधी विचार षट्खडागम के आधार से प्रगट किये होगे, जो कि हमे अनुपलब्ध होने से अज्ञात हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रथो मे जैनदर्शन की बुनियादी अवधारणा के अनुसार अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। निश्चय ही ये सिद्धान्त भव-भय-भीत आत्मार्थियो की अनुपम पौष्टिक खुराक है, अतः जो जीव अपने आत्मा को दु खसमुद्र मे नही डुवाना चाहते हैं और अतीन्द्रिय चिरसुख प्राप्त करना चाहते है, उन्हे चाहिये कि वे आचार्यश्री के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का गहन अध्ययन-मनन करें व उन्हे जीवन मे उतारे।

यदि हम उनके बताये हुये तत्त्वो को जानकर अपनी आत्मा को पहचान कर उसी मे लीन हो जावें तो हमारा मनुष्य जीवन सफल होगा तथा अवश्य इस भवसागर को पार कर जायेंगे।

व्यर्थ मे क्षण खो रहे हो, तुम अरे नादान।
कुन्दकुन्द आचार्य के, प्रतिपाद्यो को जान।।
प्रतिपाद्यो को जान, करो कल्याण आत्म का।
दुख होगा सब दूर, बनोगे परम आतमा।।
'अध्यातम' का सार ही, कुन्दकुन्द का अर्थ।
हे जन ! उसको जान-ले, समय नही खो व्यर्थ।।

☐

लेखक-परिचय :– उम्र १५ वर्ष। संप्रति श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की उपाध्याय कक्षा मे अध्ययनरत। सम्पर्क-सूत्र : श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५, राजस्थान।

आचार्य कुन्दकुन्द और वस्तुस्वरूप

— जयन्तिलाल जैन

□

आचार्य कुन्दकुन्द के समस्त ग्रथो का प्रयोजन एकमात्र अविनाशी आत्मिक सुख की प्राप्ति ही रहा है। इन ग्रन्थो मे यदि कोई लौकिक अथवा इन्द्रियसुख को खोजने का प्रयत्न करता है अथवा इन्द्रियसुख में ही जिसकी सुखबुद्धि है तो वह वास्तव मे आचार्य कुन्दकुन्द को मानता ही नही है। जो लोग लौकिक धनादि भोगसामग्री की प्राप्ति की आशा से तथा स्वर्गादि सम्पदा की प्राप्ति की आशा से पुण्य की क्रियाएँ करते है वे वास्तव मे इन्द्रियसुख की ही रुचिवाले होने से आचार्य कुन्दकुन्द को मानते ही नही हैं। चाहे वे अपने मुँह से रोजाना ही दिन मे सैकडो बार "मगल भगवान वीरो मगल गौतमो गणी। मगल कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगल।।" क्यो न बोला करें।

न तो वे आचार्य कुन्दकुन्द को मानते है और न ही भगवान महावीर को और न ही जैनधर्म को; क्योकि भगवान महावीर, आचार्य कुन्दकुन्द आदि आचार्य और जैनधर्म तो इन्द्रियसुख को सुख मानते ही नही है।

इन्द्रियसुख के सम्बन्ध मे आचार्य कुन्दकुन्द लिखते है :—

"सपरं बाधासहिदं विच्छिण्ण बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।।"[1]

अर्थ :— इन्द्रियो से भोगा जानेवाला सुख पराधीन है, बाधासहित है, विच्छिन्न है, बध का कारण है, विषम है, अतः उसे दु ख ही जानों।"

अभी तक हम इन्द्रियसुख को ही सुख मानते आ रहे है। आत्मिक सुख की प्राप्ति आत्मा को जाने बिना नही हो सकती, इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द अपने जगप्रसिद्ध ग्रन्थ 'समयसार' के प्रारम्भ मे ही अपने समस्त निज वैभव के द्वारा आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा करते है। वे कहते हैं :—

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं।।"[2]

[1] प्रवचनसार, गाथा ७६

[2] समयसार, गाथा ५

अर्थ :– उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं अपने समस्त निज वैभव से दिखाता हू । यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना और यदि कही चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नही करना ।"

आत्मिक सुख और वीतरागता मे चोली-दामन का साथ है । जहाँ वीतरागता है वही पर आत्मिक सुख है और जहाँ आत्मिक सुख है वही पर वीतरागता है । राग-द्वेष दु खरूप एव दु ख का कारण है । प्रशस्त राग-द्वेष (पुण्य) इन्द्रियसुख (जो कि वास्तव मे दु ख ही है) का कारण है तथा अप्रशस्त राग-द्वेष (पाप) इन्द्रियदु खो अर्थात् लौकिक दु खो का कारण है तथा वीतरागता आत्मिक सुख का कारण है । समस्त प्रकार के राग-द्वेष आत्मा के वास्तविक स्वरूप नही है, क्योकि वे परद्रव्यो के लक्ष्य से उत्पन्न होते है तथा वीतरागता आत्मा का वास्तविक स्वरूप है, क्योकि वह आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होती है । जो वस्तु का वास्तविक स्वभाव है वही उसका धर्म है । कहा भी है –'वत्थु सहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वरूप ही धर्म है । वीतरागता ही आत्मा का स्वरूप है, इसलिए वही धर्म है तथा उसका फल सुख है । राग तथा द्वेष के अभावरूप जो वीतरागता उत्पन्न होती है, उसी को समताभाव अथवा चारित्र कहा जाता है । कहा भी है :–

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।[1]

अर्थ :– मोह एव क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को साम्य (वीतरागता) कहते है । यह साम्यभाव ही धर्म है, चारित्र है । इसप्रकार चारित्र ही धर्म है ।"

चूंकि आचार्य कुन्दकुन्द वीतरागता को ही धर्म मानते है तथा वस्तु का स्वरूप भी ऐसा ही है, इसलिए इनके ग्रन्थो का प्रयोजन भी एक मात्र वीतरागता ही है ।

रागभाव कारण है तथा पुण्य-पाप कार्य है । वीतराग भगवान मे रागरूप कारण विद्यमान नही है, इसलिए पुण्य-पाप रूप कार्य भी नही हैं । पुण्य और पाप दोनो ही परद्रव्यो के परिणमन को लक्ष्य मे लेती हुई वृत्तियाँ है तथा परद्रव्यो के परिणमन को लक्ष्य करती हुई जितनी भी वृत्तियाँ है वे सब अधर्म ही हैं, क्योकि परद्रव्यो को अपने परिणमन मे किसी अन्य द्रव्य की वृत्तियो की रच मात्र भी अपेक्षा नही होती । तथा जो अधर्म है वही ससार का कारण है और जो धर्म है वही मोक्ष का कारण है ।

ससार भी दो प्रकार का है .– अनुकूल ससार और प्रतिकूल ससार । अनुकूल ससार का कारण पुण्य है और प्रतिकूल ससार का कारण पाप । अनुकूल ससार सभी चाहते हैं, पर प्रतिकूल ससार कोई नही चाहता । हमारा प्रयोजन न तो अनुकूल ससार का ही है, न ही प्रतिकूल ससार का । हमारा प्रयोजन तो एकमात्र मोक्षसुख का है । और उसका कारण तो वीतरागता है, इसलिये हमारा कर्त्तव्य तो अधिकाधिक वीतरागतारूप से प्रवर्तन करने का अथवा वीतरागता प्रगट करने का होना चाहिए; परन्तु वीतरागता रूप प्रवर्तन न हो सके अथवा जबतक वीतरागता प्रकट न हो सके तबतक क्या करना ? यदि पापकार्यो मे

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ७

प्रवर्तन करेंगे तो इसका फल तो नरकगतिरूप प्रतिकूल ससार है। ऐसी हालत मे हमारे पास एक ही उपाय रह जाता है कि जबतक वीतरागता की प्राप्ति न हो तबतक प्रशस्त पुण्यकार्यों मे प्रवर्तन करें। पुण्य का फल जो लौकिक अनुकूलताएँ एव इन्द्रियसुख है उसमे सुखबुद्धि होने पर ही उसके कारणरूप पुण्य मे उपादेयबुद्धि होती है। तथा ऐसे पुण्य का उदय आने पर, इन्द्रियसुख मे सुखबुद्धि होने के कारण प्राणी नियम से उसके भोग मे लिप्त होकर नवीन पाप का संचय करते है। अत. पुण्य के फल की वांछा से पुण्य मे लिप्त होना योग्य नही है।

तथापि कोई स्वच्छन्द न हो जाय – इस विचार से आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड मे यह गाथा लिखी है :–

"वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।[1]

व्रत और तप से स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है, परन्तु अव्रत और अतप से प्राणी को नरकगति मे दु ख होता है वह मत होवे, वह श्रेष्ठ नही है। छाया और आतप मे बैठनेवाले के प्रतिपालक कारणों मे बडा भेद है।"

इसप्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का साराश यही है कि न तो हम पुण्य को धर्म माने और न ही उपादेय तथा न ही स्वच्छन्द हो जाये।

आचार्य कुन्दकुन्द के मतानुसार द्रव्य कर्ता तथा पर्याय कर्म है। पर्यायरूप कर्म का कर्ता द्रव्य स्वय ही है। कोई अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्ता नही है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमनशील है। जो स्वय परिणमनशील हो, उसे पर की अपेक्षा कैसी? वस्तु की शक्तियो को पर की अपेक्षा नही होती। तथा द्रव्य को अपने परिणमन से अवकाश ही कहाँ है जो वह दूसरे मे कुछ कर सके। यदि द्रव्य स्वय परिणमनशील न हो तो क्या दूसरा कोई उसे परिणमा सकता है? स्वय अपरिणमते हुए को कोई दूसरा किसी भी तरह से परिणमन नही करा सकता। यदि द्रव्य स्वयं परिणमनशील है तो वहाँ दूसरे द्रव्य ने उसमे क्या किया? द्रव्य की इसी सहज परिणमनशक्ति को उपादान अथवा योग्यता कहा जाता है।

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य होने का वास्तविक कारण तत्समय की योग्यतारूप उपादान ही है। तथा उस समय कार्य के काल मे अन्य जो द्रव्य उस कार्य के अनुकूल अपनी स्वय की योग्यता से परिणमन करता है, उस द्रव्य के ऊपर निमित्त कारण का आरोप किया जाता है। यह निमित्त कारण वास्तविक कारण नही है, क्योकि द्रव्य की सहज परिणमनशक्ति को निमित्त की अपेक्षा नही होती। कार्य के काल मे निमित्त तो है ही; पर वह निमित्त उस कार्य का कर्ता नही है, क्योकि निमित्त उस कार्य मे अपना कुछ भी मिलाता नही है। न तो अपने द्रव्य को तथा न ही अपने किसी गुण को। तथा जो सामनेवाले द्रव्य में कार्य उत्पन्न होता है वह उस द्रव्यमय ही उत्पन्न होता है, निमित्तमय उत्पन्न नही होता। घटरूपी कार्य मिट्टीमय ही उत्पन्न होता है। उस कार्य में मिट्टी के

[1] अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा २५

ही द्रव्य एव गुण व्याप्त हैं। घडा कुम्हारमय नही है, तथा न ही उसमे कुम्हार का द्रव्य एव गुण व्याप्त हुआ है, इसलिए घडे का कर्ता मिट्टी ही है, कुम्हार नही, कुम्हार तो मात्र निमित्त है।

इसप्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार ग्रन्थ मे विशेषकर कर्ता-कर्म अधिकार मे विभिन्न तर्कों एव न्याय से यह सिद्ध किया है कि दो द्रव्यो का आपस मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होते हुए भी कर्ता-कर्म सम्बन्ध नही है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वय की परिणति का ही कर्ता है। प्रत्येक द्रव्य – चाहे चेतन हो अथवा जड – पूर्ण रूप से स्वतत्र है। कोई किसी के अधीन नही है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है – हम ऐसा यदि मानते है तो हमारा भला-बुरा दूसरा प्राणी कर सकता है तथा हम भी दूसरे का भला-बुरा कर सकते है, हमे ऐसा भी मानना होगा। ऐसी हालत मे जिन प्राणियो के निमित्त से हमारा बुरा होता है उन प्राणियो के प्रति हमे द्वेष होना भी स्वाभाविक ही है तथा जिन प्राणियो के निमित्त से हमारा भला होता है उन प्राणियो के प्रति राग का होना भी स्वाभाविक ही है। राग-द्वेष के होते हुए वीतरागता सभव नही है तथा वीतरागता के अभाव मे आत्मिक सुख सम्भव नही है।

जिसने 'हमारा भला दूसरे प्राणियो से होता है' – ऐसा माना है वह उन दूसरे प्राणियो को खुश करने मे ही लगा रहेगा। स्वय के परिणामो की सँभाल नही करेगा। स्वच्छन्द होकर दिन-रात कार्य तो पाप के करेगा और कुछ समय के लिए दूसरो की खुशामद करके सतुष्ट होकर अपना भला होना मान लेगा। परन्तु भला तो होता ही नही, भला होना तो स्वय के ही अच्छे परिणामो के अधीन है।

तथा जिसने ऐसा माना, कि मैं दूसरो का भला-बुरा कर सकता हूँ, तो वह दूसरो का ही भला-बुरा करने मे उलझा रहेगा। ऐसी हालत मे भी राग-द्वेष ही बढते रहेगे। स्वभाव-सन्मुख होने का अवकाश ही न रहेगा।

जिसने यह माना है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही कर सकता, उसने स्वय के सुख-दु ख का कारण स्वय को ही माना है। तथा जिसने स्वय के सुख-दु ख का कारण स्वय को ही माना है उसे किसी के प्रति राग-द्वेष नही होगा। ऐसी हालत मे उसके पास दूसरे मे कुछ करने को रह ही क्या जाता है ? उसका सारा उपयोग निश्चितरूप से स्वभावसन्मुख होना आरभ हो जाता है। और वह धीरे-धीरे निश्चितरूप से आत्मदर्शन, वीतरागता और आत्मिक सुख की ओर अग्रसर होने लगता है।

इस प्रकार हम देखते है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नही है – यह मान्यता ही आत्मिक सुख और वीतरागतारूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए कार्यकारी है। ☐

लेखक-परिचय :– उम्र : २५ वर्ष। शिक्षा - प्रथम वर्ष (वाणिज्य) तक। सम्प्रति : कोषाध्यक्ष, अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा नौगामा। प्रसिद्ध आधुनिक जैन कहानी-लेखक। अभिरुचि आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन, मनन-चिन्तन और लेखन। सम्पर्क-सूत्र : S/o श्री रतनलालजी जैन, मु० पो० नौगामा, जिला – बाँसवाडा, राजस्थान।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वातंत्र्य व्यवस्था

— पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी

यह तो सभी जानते है कि यह लोक (जगत्) अनेक द्रव्यो का समुदायरूप है। कहा भी है —'षड्द्रव्यमयो लोकः'। इतना सत्य स्वीकार करते हुए भी 'इस लोक (जगत्) का कोई सचेतन कर्त्ता होना चाहिए' — इस कार्यान्यथानुपत्ति प्रमाण के आधार पर कुछ दर्शन किसी सर्वशक्तिमान् सचेतन ईश्वर की कल्पना करते है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि सर्व पदार्थ अपने स्वभाव से स्वयं परिणमित होते हैं। परिणमन पदार्थ का स्वभाव है। स्वभाव पर की अपेक्षा नही करता है। एक द्रव्य अपने परिणमन मे अन्य की किंचित् अपेक्षा नही करता। समयसार गाथा ३७२ मे स्पष्ट बताया गया है कि —

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जन्ते सहावेण॥

कार्य की उत्पत्ति मे उपादान (मूलवस्तु) तथा निमित्त (परसहायक) दो कारण माने गये हैं। इसी को इसप्रकार भी कहा जाता है कि अन्तरग (उपादान) और वहिरग (निमित्त) कारणो से कार्य की सिद्धि होती है। यह जगत्प्रसिद्ध विषय है। जगत् एक-कार्यरूप नही है, अनन्त-कार्यरूप है और प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। उसमे (१) अनन्त जीव हैं, (२) अनन्तानन्त पुद्गल (अचेतन) द्रव्य है, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) असख्य काल द्रव्य हैं। ये सभी परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही कार्य है। जिस द्रव्य का जो परिवर्तन है वही द्रव्य उसका उपादान (आभ्यन्तर) कारण है। उसके परिणमन रूप कार्य मे अन्य द्रव्य जो अपनी पर्यायरूप परिवर्तित हो रहा है, यदि अनुकूल हुआ तो वह निमित्त (सहायकरूप) माना जाता है और यदि इच्छा पर्याय के अनुकूल न हुआ तो बाधक निमित्त माना जाता है। जो अनिच्छित पर्याय होती है वह भले ही आपकी इच्छा के विपरीत हो, पर वह उस द्रव्य की सुनिश्चित पर्याय है और जिसे बाधक कहा था वह द्रव्यपर्याय उसकी साधक ही है।

साधक/बाधक व्यक्ति उसे अपनी आवश्यकतानुसार मान लेता है। वस्तुतः पर्याय तो द्रव्य का परिणमन मात्र है। वह उपादान के ही अनुरूप होगा। अतः वह उस पर्याय का साधक ही है, बाधक नही है। इससे सिद्ध है कि अपने परिणमन का कर्त्ता स्वय द्रव्य है, अन्य नही। जब यह साधारण नियम है, तब ईश्वर या किसी अन्य के कर्तृत्व की बात मूल से ही नही है। फलत. सारा जगत अपने-अपने द्रव्यो की परिणतियाँ सदाकाल

अपने स्वभाव के अनुसार कर रहा है। जीव और पुद्गल मे स्वभाव के विपरीत अशुद्ध पर्याय भी होती है। और परापर के निमित्त से होती है; परन्तु उनमे ही होती है जिनके उपादान मे उसप्रकार की वैसी योग्यता है। यद्यपि कार्य में निमित्त भी पाया जाता है, पर वह कार्य का कर्त्ता नही है। यदि उमे कर्ता माने तो ईश्वर-कर्तृत्व और पर-कर्तृत्व मे दोनो समान होगे, यह अपसिद्धान्त है, जो अनार्हत है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि वस्तु-व्यवस्था किसी के अधीन नही है। सब कार्य स्वभावानुसार स्वत. चल रहे हैं। यद्यपि ससारी प्राणी कर्मोदय के निमित्त से सुखी-दुःखी है, अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है, तथापि यह कर्मोपार्जन उसने स्वय किया है, स्वय अपने को कर्म से बद्ध किया है, नोकर्म से बद्ध किया है। वह अपने पुरुषार्थ से इस परावलम्बन से छूट सकता है। उसकी यह मुक्ति भी स्वावलम्बन से होगी।

वस्तुत· कर्म (कार्य) जीव स्वय करता है और स्वय उसका फल भोगता है, अन्य न कोई बाँधता है, न अन्य उसका फल भोगता है। कहा है –

"स्वय करोति मूढात्मा स्वय तत्फलमश्नुते।

"मोही (अज्ञानी) जीव स्वय कर्म करता है और स्वय फल प्राप्त करता है।

यहाँ मोही को अज्ञानी कहा है। जिसे अपने आत्मस्वभाव का ज्ञान न हो वह अज्ञानी है। उसे स्वय का ज्ञान, पर मे मोहित होने के कारण ही नही है।

कार्य की उत्पत्ति मे दो कर्ता नही होते। निमित्त पर का कार्य नही करता। वह भी अपने कार्य (पर्याय) का स्वय उपादान है। वह पर का कार्य करे तो उसका कार्य भी पर के अधीन होगा। इसप्रकार निमित्ताधीन कार्य-व्यवस्था मानने से सभी कार्य सन्तान-परम्परा से पर के अधीन होते जायेगे और कभी कार्योत्पत्ति न हो सकेगी, स्वतन्त्रता से कोई कार्य न होगे, सब गडबडा जावेंगे। ईश्वरवादी तो एक ईश्वर को ही कर्त्ता मानते हैं और निमित्त कारणवादी सभी पदार्थों को पर का कर्त्ता मानने से अनेकेश्वरवादी बनेंगे। यह वस्तुव्यवस्था के विपरीत है, ऐसा है नही। आचार्य कुन्दकुन्द भगवान अरहत के उपदेशानुसार ऐसा कहते हैं कि सर्व कार्य अपनी-अपनी स्वतन्त्रता से ही होते है, चाहे स्वभावरूप हो, चाहे विभावरूप हो। दोनो रूप परिणमन की योग्यता पदार्थों की स्वय की है। पर-कृत योग्यता नही होती।

निश्चय और व्यवहार दो नयाश्रित पदार्थों का वर्णन है, न कि दो नयान्तर्गत कार्य-व्यवस्था। प्रत्येक पदार्थ अपना नग्न स्वरूप लिए है। पर-विहित निज सत्ता मे रहना ही नग्नता है। किसी भी पदार्थ की सत्ता पर के अधीन नही है। सब स्वाधीनता से ही अपने गुण-पर्यायो मे रहते है। जब पदार्थ की परविरहितता ही उसकी नग्नता है, तब यह नग्नता (दिगम्वरता) ही सत्य है। दिगम्बरता काल्पनिक नही है। केवल मनुष्य के स्वरूप मे ही नही है। प्रत्येक प्राणी मे है, प्रत्येक द्रव्य मे है। अन्य पदार्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है, बनावटी है, बनावट दूर होने पर पदार्थ स्वय मे नग्न हो जाता है, क्योकि वह स्वभाव से नग्न ही था। अत. सर्वत्र प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप मे दिगम्बरता सत्य है, सजावट कृत्रिम है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रारम्भ मे ही कहा है कि मैं ससारी अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) को एकत्व (निज सत्ता से अभिन्न)-विभक्त (पर सत्ताओं से सर्वथा भिन्न) आत्मा के स्वरूप का दर्शन कराऊँगा।

अनादि से अज्ञानी (स्वात्मज्ञान-रहित) प्राणी पर के साथ अपने को सबद्ध ही देखता आया है, मानता आया है। उसकी यह दृष्टि ही मिथ्या है। पदार्थों का एकत्व ही सत्य है, वही उनका यथार्थ रूप है। सख्या की दृष्टि से देखा जाय तो एक की संख्या ही सही है, वह पर-निरपेक्ष प्रत्येक द्रव्य मे पाई जाती है।

दो, तीन आदि सख्यात, असख्यात और अनन्त या अनन्तानत – ये संख्याये भी आगम में द्रव्यो का प्रतिपादन करती है; पर ये सख्याये वस्तुस्वभाव नही है, परसापेक्ष हैं। जब दूसरा व्यक्ति आपके सामने हो तो दोनो को मिलाकर ही दो बनेंगे। इसी तरह से अन्यान्य पदार्थो के योग से ही वे समस्त सख्याये बनेगी, पर १ (एक) संख्या न किसी के योग से बनती है, न गुणा से; बल्कि भाग या ऋण किसी सख्या से कर दिये जाय तो १ (एक) बचेगा। यदि वह अपने से ही भाजित कर दिया जाय तो शून्य ही रहेगा। शून्य रूप कोई वस्तु नही है। वस्तु यदि है तो वह अपने मे एक ही होगी।

उसका न पर मे प्रवेश हो सकता है, न पर का उसमे प्रवेश होगा। यदि हो जाय तो स्वय का अस्तित्व नष्ट हो जायगा। यदि परस्परानुप्रवेश से दोनों का मिश्रण दूध-पानी की तरह बन जायगा – ऐसा कहा जाय तो वह उपचार-कथन होगा। यथार्थ मे मिल जाने पर भी वे दो ही रहेगे और अपने-अपने स्वभाव में रहेगे। इससे सिद्ध है कि एकत्व ही सत्य है, परमार्थ है। द्वित्व आदि सख्याएँ पर-सापेक्ष होने से मात्र व्यवहार करने में सत्य है, वस्तुस्वभाव से अपरमार्थ है। मुक्ति भी इसी का नाम है। जब समस्त पर-सबंध-जनित विभाव मिट जाय और पदार्थ अपनी यथार्थता – नग्नता – एकता – दिगम्बरता पर आ जाय, यही मुक्ति है। इस सत्य का उद्घाटन भी आचार्यश्री ने किया है। वही है एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप, उसी का दर्शन सम्यग्दर्शन है।

जैसे निश्चय और व्यवहार पदार्थ की प्ररूपणा के दो साधन जैनागम मे है, इसीप्रकार भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग दो पद्धतियाँ हिन्दू धर्मशास्त्र मे भी है। भक्तिमार्गी ही ईश्वर को सृष्टि का कर्ता कहते है। जो जिसका भक्त होता है वह उसे आत्मसमर्पण करता है। उसकी ऐसी भाषा होती है कि आप मेरे सर्वस्व हो, आप ही मेरे उद्धार करनेवाले हो। यह भक्तिमार्ग जैनागम मे व्यवहारधर्म का मार्ग है। जैनग्रन्थो में भी भक्तिमार्ग में कहा जाता है कि हे भगवन्! मेरा उद्धार करो, ससार के दुःखो से बचाओ, मुझे आपकी शरण हो, इत्यादि। जैन यह कहते हुए भी जानता है कि भगवान वीतराग हैं, करने-धरने-बनाने-बिगाडने वाले नही है। व्यवहार परमार्थ नही है; परमार्थ को समझने व उसे प्राप्त करने का साधन बनाओ, तो बन भी जाता है और यदि उसे ही परमार्थ मानो तो विपरीत फल होता है।

भगवद्गीता हिन्दूधर्म का सर्वमान्य ग्रन्थ है। उसमें ईश्वर-कर्तृत्व की भी बहुत चर्चा है, पर अकर्तृत्व की भी चर्चा है। वह अध्याय ५ मे है, जहाँ श्रीकृष्ण बहुत स्पष्ट कहते है —

न कर्त्तृवं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।

प्रभु (ईश्वर) मे कर्तृत्व (लोक का) नही है और न लोक उसका कर्म है। न प्रभ किसी के कर्मफल का दाता है। यह सब स्वभाव से ही होता है।

यदि कहा जाय कि ऐसा होते हुए भी भगवान भक्ति से प्रसन्न होकर पुण्य देता है और पाप हर लेता है — ऐसा क्यो कहते हैं। अगले श्लोक मे इसका जवाब वे देते हैं .—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः ।।

प्रभु किसी का पाप हरण नही करता, न पुण्य देता है। यह ससारी प्राणी मोह से ऐसा कहता है, क्योकि उसका ज्ञान अज्ञानभाव से ढँका हुआ है। यह ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग है। इसका तात्पर्य यह है कि मोह छोडकर वह ज्ञानभाव से समझे तो ऐसा न न कहे। ज्ञान की महिमा है जो यथार्थ वस्तु को (सत्य को) सामने लाती है।

— गीता का यह कथन आचार्य कुन्दकुन्द देव के कथन के अनुरूप है। समयसार गाथा ८९-९० मे वे बता रहे है कि निश्चय से कोई आत्मा किसी का कुछ नही करता। वह अपनी ही पर्याय करता है और उसी का फल भोगता है। अन्य कोई उसका कर्ता-भोक्ता नही है। व्यवहार मे ही कहा जाता है कि आत्मा कत-भोक्ता है। परमार्थ मे वह पर का कर्ता-भोक्ता नही है, अज्ञानी ही कृति (शुभ या अशुभ) का कर्ता और उसका फल भोक्ता है।

परकर्तृत्व के निषेध पर एक पूरा कर्ताकर्माधिकार ही समयसार मे है, जिसमे प्रत्येक पदार्थ की स्वकर्तृता स्वतत्र कर्मत्व को ही स्वीकार किया गया है। पुण्य-पाप की स्वतत्र व्यवस्था मान करके भी हमारे कुछ जैनधर्मानुयायी भाई भी पुण्यबध को मोक्ष का कारण मानकर आगम-विरुद्ध मान्यता का प्रचार करते हैं। जानना यह चाहिए कि बध-मोक्ष परस्पर विरुद्ध हैं, अत. बध तो ससार का ही कारण होगा, मोक्ष का नही। हाँ, यह अवश्य है कि पुण्यकार्य करनेवाला पाप से तो विमुक्त होता है। पाप-पुण्य के फल (विषयादि) की वो वाछा न करे। उसके बाद पुण्य-पाप से भिन्न जो तीसरी भूमिका है उस पर आरोहण करे तो मोक्ष को प्राप्त अवश्य करेगा, पुण्यबध के करने से नही।

इस विषय की चर्चा जैन समाज मे आज जोरो से है। उसी का यथार्थ रूप दिखलानें को आचार्यदेव ने पुण्य-पापाधिकार नामक स्वतत्र अध्याय लिखा है। शुभ-अशुभ-शुद्ध (पुण्य, पाप, अनुभय, प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण, और दोनो से ऊपर तीसरी भूमिका) तथा पुण्य-कार्य, पुण्यबध और पुण्यबध का फल इनके ठीक-ठीक स्वरूप जानने पर ही जिनागम का रहस्य समझ मे आ सकता है, अन्यथा नही। इसमे (१) शुभ-अशुभ ससार के कारण है। शुद्ध भाव ही मोक्ष का कारण है (२) पुण्य-पाप ससार का कारण है और दोनो से

रहित पवित्र भाव मोक्ष का कारण है। (३) प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण पुण्य-पापरूप होने से संसार के कारण है और दोनो से ऊपर तीसरी भूमिका ही मोक्ष का कारण है। (४) पुण्य के कार्य कथचित् मोक्ष के कारणभूत सामग्री के सयोग में कारण पड़ जाते हैं; पर पुण्यबंध और उसका फलभोग ससार का ही कारण है। इसप्रकार से इनका भेद कर स्वरूप बोध हो तो विवाद मिटे।

पुण्य की महिमा गानेवालों की दृष्टि पुण्यकार्य – पवित्रकार्य की ओर हो तो उपादेय है; पर ऐसा न होकर दृष्टि उसके रूप मे स्वर्ग-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्रादि की प्राप्ति पर होती है, यह दृष्टि सम्यग्दृष्टि की नही है, क्योकि वह तो निष्कांक्षित अग वाला होता है, भोगसामग्री की इच्छा नही करता। पूजन करके यदि उसका फल चाहता है तो मात्र मोक्ष के साधनभूत संयोग की ही वांछा करता है, संसार के भोगों की नही।

'शास्त्रों का हो पठन सुखदा लाभ सत्सगति का' – इत्यादि पूरा पढिये और समझिये। यदि यह वांछा है तो उपादेय है, पुण्यबंध और उसका उक्त फल उसे ही प्राप्त होता है। पुण्य के फल से विषयभोग की सामग्री चाहनेवाले को तो यथार्थ पुण्य भी नहीं बँधता; अत· पुण्यकार्य गृहस्थ के लिए उपादेय है, वीतरागता की प्राप्ति के लिए अनुपादेय है।

कर्तृत्वदृष्टि से प्रत्येक जीव अपने परिणामानुसार पुण्यबध करता है, पापबध करता है और दोनों के फलस्वरूप ससारचक्र मे ही परिभ्रमण करता है। न कोई सुखदाता है, न दुःखदाता है। यदि आत्मस्वातंत्र्य को स्वीकार करे तो उसके दु ख दूर होगे; क्योंकि स्वयं दोनों से ऊपर तीसरी भूमिका का अवलवन करेगा।

स्पष्ट है कि कर्मबंध जीव स्वयं करता है और स्वय ही उनसे मुक्त हो सकता है। स्वावलम्बन ही मुक्ति-प्रदाता है, परावलम्बन पराधीनता को उत्पन्न करता है – इस मूल सिद्धान्त को हृदयगम करना चाहिए।

मोक्ष की बात तो सब करते है, पर उसे प्राप्त करने का जो स्वावलम्बन का मार्ग है उस ओर मुख नही करते। स्वावलम्बन ने ही भारत को पराधीनता से छुडाया है। सभवत स्वावलम्बन की (जैनधर्म की) बात गाँधीजी के ज्ञान में रही होगी। उसी के प्रयोग से उन्होंने हिंसा के मार्ग को छोड अहिंसा का – स्वावलम्बन का मार्ग अपनाया जिससे देश गुलामी से मुक्त हो सका।

यदि एक वस्तु स्वातंत्र्य को जो भगवान कुन्दकुन्द का उपदेश है, स्वीकार करे तो ससार बधन से अवश्य छूटेंगे। इसी बात पर चलकर ही आजतक ससारी जीव मुक्ति को प्राप्त हुआ है, हो रहा है और होगा – यह त्रिकाल सत्य है, अतः 'पर का भरोसा छोड़कर स्वावलम्बन का मार्ग अपनाओ' – यह आचार्य कुन्दकुन्द की बहुत बड़ी देन है। □

लेख परिचय : जैन शिक्षा संस्था कटनी के भूतपूर्व प्रधानाचार्य, जैन सदेश के पूर्व यशस्वी सम्पादक, जैन दर्शन के मर्मज्ञ वयोवृद्ध मूर्धन्य विद्वान, जैन साहित्य के साधक, आराधक तथा प्रभावी प्रवचनकार और शुद्धाम्नाय के संरक्षण मे समर्पित व्यक्तित्व।

आचार्य कुन्दकुन्द और निश्चय-व्यवहार

– पण्डित श्री नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर

□

आचार्य कुन्दकुन्द का अनुशासनकाल प्राय विक्रमादित्य के प्रथम शतक का प्रारभकाल अनुमानित किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अपने बोधपाहुड ग्रन्थ मे अपने गमक गुरु अतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु का मंगल स्मरण किया है[1]।

प्राचीन आचार्य-परपरा मे आचार्य कुन्दकुन्दाम्नाय सर्वलोक-प्रसिद्ध है। अनेक महर्षियो ने अपने को कुन्दकुन्दाम्नाय के अतर्गत मानने मे अपना भूषण माना है। आचार्य कुन्दकुन्द देव का अनेक नामो द्वारा स्मरण किया है –

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति नामभाक्॥

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने विदेहक्षेत्र मे जाकर भगवान सीमन्धर स्वामी की दिव्यध्वनि सुनकर द्रव्यानुयोग के निश्चयनयप्रधान अध्यात्मशास्त्रो की तथा व्यवहारनय प्रधान करणानुयोग-चरणानुयोग के सार की प्राण प्रतिष्ठा करने का मगल कार्य किया। यही आचार्य कुन्दकुन्द की दिगम्बर जैन साहित्यपरपरा को अनुपम देन है। इसकारण भगवान महावीर और गौतम गणधर के उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्ददेव का मगल नाम स्मरण किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्ट-पाहुड आदि ग्रन्थो की रचना की। पचास्तिकाय के अतर्गत मोक्षमार्ग-प्रपच अधिकार मे मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए उन्होने निश्चयसापेक्ष व्यवहार तथा व्यवहार-सापेक्ष निश्चय का कथन करके अनेकान्त स्वरूप समन्वय का मार्गदर्शन किया है।

सुवर्ण और सुवर्णपाषाण का दृष्टान्त देकर निश्चय तथा व्यवहार मे परस्पर साध्य-साधन भाव का समन्वय स्थापित कर जिनशासन मे वीतराग-सर्वज्ञ तीथकर की धर्मतीर्थ-प्रवर्तना अनेकान्तस्वरूप उभयनयाधीन है – यह सूचित किया है[2]।

---

[1] सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय।
सो तह कहिय णाय सिस्सेण य भद्दबाहुस्स॥ ६१॥
बारस अगवियाण चउदसपुव्वगविउलवित्थरण।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भवयओ जयओ॥ ६२॥

[2] उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरी तीर्थ प्रवर्तना।

यद्यपि रत्नत्रय का सद्भाव आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में, शरीर की बाह्य क्रियाकाण्ड मे सभव नही है, इसलिए रत्नत्रय-सम्पन्न आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है[1] तथापि भेदरत्नत्रयमय स्वरूप व्यवहार धर्म स्वरूप आप्त-आगम-तत्त्वोपदेशक निर्ग्रन्थ गुरु की भक्ति बिना अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की साधना नितात असंभव है। इसलिए आचार्य कहते है :–

"जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥[2]

जो अरिहत भगवान को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा जानता है, वही अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायो को जान सकता है। उसी का मोह – मिथ्यात्व विलय को प्राप्त होता है।"

बिना देवदर्शन के आत्मदर्शन – आत्मानुभूति होना असभव है। देवदर्शन मे आत्मदर्शन होना – यही देवदर्शन का सार है, मुख्य प्रयोजन है।

इसप्रकार व्यवहारधर्म की साधनापूर्वक ही निश्चयधर्म की – आत्मधर्म की साधना सिद्ध होती है।

यद्यपि भेदरत्नत्रयस्वरूप व्यवहारधर्म शुभोपयोगरूप प्रशस्तरागरूप होने के कारण साक्षात् पुण्यबध का ही कारण है, सवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण नही है, तथापि वह व्यवहारधर्म के साथ निश्चयधर्म की – आत्मधर्म की भावना जागृत रहती है, वह शुभोपयोग शुद्धोपयोग सहित मिश्रभाव होने के कारण भावनारूप शुद्धोपयोग का वीतरागभाव होने के कारण जो सवर-निर्जरा होती है उसके कारण उस शुभोपयोग को व्यवहारधर्म कहा जाता है। इस कारण व्यवहारधर्म को परपरा मोक्षमार्ग कहा है।

जो निश्चय एकातपक्षवादी व्यवहारधर्म को पुण्यबध का कारण समझकर व्रत-सयमरूप व्यवहारधर्म का अनादर – तिरस्कार करते है तथा प्रमादी – स्वच्छन्दी बनकर निरर्गल असयमरूप प्रवृत्ति करते है, उनको लक्ष्य मे लेकर आचार्य कहते है :–

"णिच्छयमालंबता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिर चरणालसा केई ॥

जो निश्चय एकातपक्ष का आलबन लेकर निश्चयधर्म को न जानते हुए तथा व्यवहारधर्म का भी आचरण न करते हुये प्रमादी-स्वच्छन्दी बनकर निरर्गल-असयम प्रवृत्ति करते हैं वे निश्चयभासी-अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि निश्चय व व्यवहार – दोनों ही धर्मों का नाश करते है।"

---

[1] रयणयत्त ण वट्टइ अप्पाण मुयत्तु अण्णदवियम्मि।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥

[2] प्रवचनसार, गाथा ८०

जिसप्रकार व्यवहारनय-प्रधान व्यवहारशास्त्रो मे व्यवहारधर्म का पालन करने का उपदेश दिया जाता है, उसीप्रकार निश्चयप्रधान अध्यात्मशास्त्रो मे व्यवहारधर्म के सस्कारपूर्वक निश्चयधर्म का आश्रय करने का उपदेश दिया जाता है। पूर्वाचार्य की अनुशासन पद्धति मे कही पर भी धर्मतीर्थ प्रवृत्ति को लोप करने का उपदेश नही है। जिसप्रकार ऊपर मजिल पर चढने का लक्ष्य रखनेवाले का नीचली सीढी पर रखा हुआ पाव स्वय उठ जाता है, तथा जिसप्रकार नीचली सीढी के आधार पर ही वह ऊपर की सीढियाँ चढ सकता है, उसीप्रकार निश्चयधर्म (आत्मधर्म) की भावना रखते हुए ऊपर के गुणस्थानो मे चढनेवाले की नीचली भूमिका मे होनेवाली व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति भी स्वय छूटती जाती है।

इसप्रकार निश्चयसापेक्ष व्यवहार को ही परम्परा मोक्षमार्ग कहा है। जो व्यवहार निश्चयधर्म का – आत्मधर्म का लक्ष्य न रखते हुए व्यवहारधर्म को ही परमार्थ मोक्षमार्ग मानते हैं अथवा केवल व्यवहारधर्म की साधना करते-करते निश्चयधर्म की प्राप्ति होगी – ऐसा समझते है, उनको लक्ष्य मे रखकर आचार्य कहते है –

"चरण करणप्पहाणा स्वसमय परमत्थ मुक्कवावारा।
चरण-करणस्स सार णिच्छय सुद्ध ण जाणंति॥

जो जीव व्यवहारनय प्रधान चरणानुयोग आगम के अनुसार केवल बाह्य क्रियाकाडरूप व्यवहारधर्म को ही मोक्षमार्ग समझते हैं, स्वसमय प्रवृतिरूप – आत्मानुभूतिस्वरूप परमार्थ मोक्षमार्ग का जिनको भान नही है, केवल बाह्य व्रत-तप अनुष्ठान-उपवासादि-शरीर दण्डरूप कायक्लेश करने मे ही जो परमार्थ धर्म समझते हैं, उनको व्यवहारमूढ-व्यवहाराभाषी-अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि कहा है।"

इसप्रकार दोनो एकातपक्ष का निषेध कर निश्चयसापेक्ष व्यवहार तथा व्यवहार सापेक्ष निश्चय का मार्गदर्शन करते हुये आचार्य कहते है –

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छये मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण उण तच्चं॥

यदि अनेकान्त स्वरूप जिनशासन के अनुसार प्रवृत्ति करना चाहते हो तो मुमुक्षु भव्य जीवो ने व्यवहार और निश्चय इनमे से एक का भी त्याग नही करना चाहिये। यदि व्यवहारधर्म का त्याग किया जावेगा तो तीर्थधर्म प्रवृत्ति का उच्छेद होगा और यदि निश्चय का लक्ष्य नही रखेगा तो परमार्थतत्व का लोप हो जावेगा। निश्चयधर्म विरहित केवल बाह्य व्यवहारधर्म प्रवृत्ति को निरर्थक कायक्लेश दु ख का ही कारण माना है।

इसप्रकार निश्चयसापेक्ष व्यवहार तथा व्यवहार सापेक्ष निश्चयस्वरूप अनेकातस्वरूप परमार्थ मोक्षमार्ग को ही शाश्वत सुख-शान्ति कारण कहा है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव के द्विसहस्राब्दी महोत्सव के मगल अवसर पर उनके अनेकान्तस्वरूप तत्वोपदेश का स्मरण करना ही उनका मगल गुणगान स्तवन है। □

अभिरुचि न्याय एव अध्यात्म का पठन-पाठन, सम्प्रति : जैन संस्कृति सरक्षक संघ के सचालक सम्पर्क सूत्र : जैन सस्कृति सरक्षक संघ, सतोष भवन, पलटन गली, सोलापुर (महा०)।

अष्टपाहुड में प्रतिपादित जिनशासन, धर्म तथा संस्कृति

– डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

आचार्य कुन्दकुन्द दो सहस्र वर्षों से अद्यावधि प्रखर भास्कर के प्रकाश की भाँति तिमिराच्छन्न धरा को आलोकित कर रहे है। अज्ञानता से ग्रस्त, रूढियों से त्रस्त तथा मानसिक विकल्पनाओ से ध्वस्त एव सुप्त, विषय-वासनाओं मे समोहित तथा पर के साथ एकत्वबुद्धि होने से सभ्रमित आत्मिक चेतना को सकल्प-विकल्प के जालो से मुक्त करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्मयुग के प्रवर्तक होने के साथ ही शुद्धाम्नाय के सस्थापक, मूलसघ के नायक तथा सम्प्रदाय-मुक्त धर्म की विशुद्ध परम्परा के प्रतिपालक के रूप मे चिरस्मरणीय रहेगे। जैनवाङ्मय मे आचार्य कुन्दकुन्द का नाम इसलिये भी अमर रहेगा कि उन्होने जिन-सिद्धान्तो के आधार पर मुनि तथा श्रावक के मौलिक आचार-विचारो का वस्तुवादी परम्परा के रूप मे विशुदीकरण कर शुद्धात्मस्वरूप की स्पष्ट व्याख्या की है। वे केवल वस्तु-विश्लेषण तक ही सीमित नही रहे, अपितु उन्होने अपने युग की मूलभूत समस्याओ को तथा प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर जिनशासन के मर्म को भी प्रकट किया है। प्रस्तुत संक्षिप्त निवन्ध में इसी दृष्टि से विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द की प्राय सभी रचनाओ मे जिनधर्म या जैनधर्म के स्थानापन्न, जिनदर्शन, जिनबिम्ब, जिनशासन, जिनदेव, जिनशास्त्र, जिनवचन, जिनमुद्रा, जिनमार्ग, जिनवर आदि शब्दों का प्रयोग ही प्रचुरता से परिलक्षित होता है।

दर्शनपाहुड मे वे लिखते हैं "जिसप्रकार वृक्ष के मूल से ही स्कन्ध, शाखा आदि का विस्तार देखा जाता है, उसीप्रकार गणधरदेव ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।[1]

'दर्शन' शब्द के कई अर्थ है.–मत या मान्यता, श्रद्धान, धर्म की व्यक्त मूर्ति, सामान्य प्रतिभास, आत्मावलोकन इत्यादि। 'दर्शन' का आध्यात्मिक अर्थ है :– जो मोक्षमार्ग को दिखावे सो दर्शन है।[2] परमार्थ मे सम्यग्दर्शन ही अतरग दर्शन है, इसलिये वही वास्तविक दर्शन है; किन्तु बाह्य मूर्ति के रूप मे एकदेश वीतरागता को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि के रूप को भी दर्शन कहा गया है। वास्तव मे जो धर्म की मूर्ति है, उसे ही 'दर्शन' कहा जाता है। मन्दिरजी मे धर्म की मूर्ति दिखलाई पडती है, इसलिये उसके

[1] जह मूलाओ खधो साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदसण मूलो णिदिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥ दसणपाहुड, गाथा ११

[2] दसेइ मोक्खमग्ग सम्मत्त सयम सुधम्म च।
णिग्गथ णाणमय जिणमग्गे दसण भणिय ॥ बोधपाहुड, गाथा १४

अवलोकन को भी दर्शन कहते है। परमार्थ और व्यवहार दोनो मे धर्ममूर्ति के देखने का दर्शन कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है:—धर्म का मूल दर्शन है, जो दर्शन से रहित है उसकी वन्दना नही करना चाहिए; क्योकि जिनवर ने गणधरादि को यही उपदेश दिया है कि दर्शन धर्म का मूल है। सर्वज्ञ-कथित उस दर्शन-रूप मूल धर्म को अपने कानो से सुनकर जो दर्शन से रहित है वे वन्दन योग्य नही हैं।[1] जो पुरुष दर्शन मे भ्रष्ट है उनके सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र नही है। वास्तव मे वे सयमी भी नही है। मोक्षमार्ग मे चलने मे भी वे लूले हैं। ऐसे पुरुष वन्दन-योग्य नही हैं। जो मिथ्यादृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियो मे नमस्कार चाहते है वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित है। ऐसे पूजाभिलाषी पुरुष आगामी भव मे लूले, मूक होते है अर्थात् एकेन्द्रिय होते है। प० जयचन्दजी छाबडा के शब्दो में उनके दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है। मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है। इस पचमकाल मे मिथ्या मत के आचार्य बनकर लोगो से विनयादिक पूजा चाहते है उनके लिये मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोद मे वास करेंगे — इसप्रकार जाना जाता है।[2]

इसप्रकार जिनागम मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है उनमे मूल से लेकर अर्थ-विस्तार तक सभी अर्थ विभिन्न सन्दर्भों मे परिलक्षित होते है, किन्तु उन सभी मे मूल भाव ज्यों का त्यो बना हुआ है। यदि शब्दो मे यह अर्थ-विस्तार न हो तो सम्पूर्ण परम्परा को समझना सम्भव नही हो सकता।

आचार्य कुन्दकुन्द जिनशासन की पूर्वपरम्परा से पूर्णतया सम्बद्ध हैं। वे 'बोधपाहुड' मे अपनी गुरु-परम्परा का उल्लघन करते हुए पचम श्रुतकेवली भद्रबाहु को गमक गुरु के रूप मे स्वीकार करते है। जो सूत्र के अर्थ को प्राप्त करे, वास्तव मे वह गमक है। आचार्य कुन्दकुन्द-रचित चौरासी पाहुडो का उल्लेख मिलता है, किन्तु आज दिन तक अष्ट पाहुड ही उपलब्ध है।

जिनशासन यथार्थ मे जिनमत का प्राण है। आचार्यवर्य ने सम्पूर्ण जिनशासन को पाहुडो मे निबद्ध कर सरल भाषा मे प्रकट किया है। 'अष्टपाहुड' मे आठ स्थलो पर 'जिनशासन' शब्द का उल्लेख मिलता है। निर्मल जिनशासन वीतराग है। जिनशासन का मूल आधार दर्शन है। जिस तरह पुष्प गन्धमय है, दुग्ध घृतमय है, वैसे ही दर्शन मे जीवन को सुरभित करने वाला सम्यक्त्व है। आचार्यप्रवर के शब्दो मे —

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्म णाणमयं होई रूवत्थ ॥[3]

---

[1] दसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साण।
त सोऊण सकण्णे दसणहीणो ण वदिव्वो ॥ दर्शनपाहुड, गाथा—२

[2] जे दसणेसु भट्टा पाए पाडति दसणधराण।
ते होति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥
दर्शनपाहुड, गाथा १२, पण्डित जयचंद छाबडा की वचनिका

[3] सूत्रपाहुड गाथा—७

बिना दर्शन के जिनसूत्र या श्रुत का निश्चय नही हो सकता है। जो निज शुद्धात्मा का अवलोकन करता है, वास्तव मे वही जिनश्रुत या जिनशासन को देखता है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते है कि जो सूत्र के अर्थ व पद से भ्रष्ट है वह मिथ्यादृष्टि है।[1] जिनसूत्र मे यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान से युक्त उत्कृष्ट श्रावक है वह इच्छाकार करने योग्य है।[2]

'बोधपाहुड' मे ग्यारह स्थल मुख्य हैं – आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहन्त तथा प्रव्रज्या। यथार्थ मे सयम सहित मुनि आयतन है। मुनियो में प्रधान केवलज्ञानी 'सिद्धायतन' है तथा धर्मात्मा पुरुष के आश्रय योग्य निज शुद्धात्मा 'धर्मायतन' है। ये सभी जिनशासन मे गर्भित है। आत्मज्ञान के बिना चारित्र मुक्ति के लिए कार्यकारी नही है, क्योकि आत्मज्ञान तथा दर्शन के समायोग से चारित्र होता है चारित्र दो प्रकार का कहा गया है :– सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण। सम्यक्त्वाचरण चारित्र की विशेषता एव उसका निर्वचन भी प्राचीन ग्रन्थो में 'अष्टपाहुड' मे ही परिलक्षित होता है। आचार्यप्रवर तो यहा तक कहते हैं कि जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट है और सयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढदृष्टि होते हुए निर्वाण को प्राप्त नही होते।[3] सागार (गृहस्थ) तथा अनगार (साधु) के भेद से सयमाचरण चारित्र दो प्रकार का कहा गया है।

उक्त ग्रन्थ मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से जिनशासन, धर्म एव सस्कृति का वर्णन किया गया है। जिनबिम्ब का निरूपण करते हुए आचार्य कहते है :– जिनबिम्ब कैसा है? ज्ञानमयी है, संयम से शुद्ध है, अतिशय वीतराग है तथा कर्म के क्षय का कारण है एवं शुद्ध है जो दीक्षा और शिक्षा देता है। इतना ही नही, बाह्य मुद्रा को भी आचार्य ने ज्ञान द्वारा शुद्ध कहा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक ही स्वर मुख्य है जो सस्कार-मूलक सस्कृति का परिचायक है; वह है :– पवित्रता, शुद्धता। शुद्धात्मा की भावना, भावशुद्धि, सम्यक्त्व की शुद्धता, वीतरागता तथा शुद्धोपयोग रूप चारित्र के वर्णन से आचार्य कुन्दकुन्द सम्पूर्ण भारतीय वाइङ्मय मे अपनी स्पष्ट पहचान अकित करते हैं। उनके ही शब्दो मे :–

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥[4]

अर्थात् धर्मसहित लिंग होता है, किन्तु लिंग मात्र से धर्म की प्राप्ति नही होती। इसलिये भाव रूपी धर्म को जान। क्या केवल लिंग से तेरा कार्य हो जाता है? यदि लिंग धारण करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन नही किया तो फिर आर्तध्यान ही होता है, जिससे अनन्त ससार में परिभ्रमण करना पड़ता है।

---

[1] वही, गाथा १३

[2] बोधपाहुड गाथा १५

[3] चारित्रपाहुड, गाथा ३

[4] अष्टपाहुड . लिंग, गाथा ५

पाहुड ग्रन्थो मे ही नही, आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी समस्त रचनाओ मे द्रव्य तथा भाव दोनो रूपो मे वस्तु का वर्णन किया है। इतना अवश्य है कि सर्वत्र भाव की मुख्यता है। इसलिये भाव ही प्रथम लिंग है। वस्तुत भाव वस्तु का स्वभाव परिणाम है। स्वभावगत परिणाम की दृष्टि से धर्म का मूल सम्यग्दर्शन या आत्मदर्शन है।

आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे –

जीवादि सद्दहरण, सम्मत्त जिरणवरेंहि पण्णत्त ।
ववहारा रिगच्छयदो, अप्पारणं हवइ सम्मत्त ।।[1]

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने जीवादि पदार्थो के श्रद्धान को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और निजात्मा के श्रद्धान को निश्चय सम्यक्त्व कहा है।

निश्चय चारित्र को धर्म प्रतिपादित करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द कहते है – द्रव्यलिंग को परमार्थरूप मत जानो। क्योकि जिनवरदेव का यह वचन है कि गुरण और दोषो का काररण भाव ही है। शुद्धभाव की परिरणति, या पारिरणामिक भाव की वृत्ति शुद्धोपयोग होने से धर्म का प्रारम्भ होता है। धर्म की क्रिया शुद्ध भाव मे प्रकट होती है। शुद्ध भाव के बिना कोई भी क्रिया धार्मिक प्रवृत्ति नही कहला सकती।

यथार्थ मे मोक्षमार्ग निर्ग्रंथ ही है। तिल-तुषमात्र भी परिग्रह रखने वाला महाव्रती सयमी नही है। वास्तव मे सयम के बिना कोई लिंग नही होता। जिनशासन मे तीन ही लिंग कहे गये है। प्रथम यथाजातरूप नग्न मुनिलिंग है। दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिग है। तीसरा लिंग आर्यिका का है। अन्य कोई चौथा लिंग नही है। ये तीनो ही मोक्षमार्ग के जीवन्त प्रतीक एव जिनदेव के सदेह प्रतिनिधि कहे जाते है। इनसे ही जिनतीर्थ की प्रवृत्ति मूर्तिमान देखी जाती है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने इनका वर्णन गुरु-गौरवशालिनी महिमा से मण्डित किया है।

जहाँ आचार्यश्री यह वर्णन करते है – 'भावेरण होई लिंगी' (भावपाहुड, गाथा ४८), 'भावेरण होइ रणग्गो' (भावपाहुड, गाथा ५५) वास्तविक नग्नता शुद्धभाव सहित होती है, कि वही यह भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं, वस्त्र को धाररण करने वाला मुक्ति को प्राप्त नही करता, भले ही तीर्थंकर क्यो न हो? निर्ग्रन्थ दिगम्बर नग्नपना ही मोक्षमार्ग है, शेष सभी लिंग उन्मार्ग है।[2]' इसी प्रकरण मे वे यह भी स्पष्ट करते है कि स्त्री की पर्याय से मुक्ति नही होती, क्योकि स्त्री के ध्यान की सिद्धि नही होती। उनके ही शब्दो मे :–

चित्तसोहि रण तेसिं दिल्ल भावं तहा सहावेरण ।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु रण संकया झारण ।।[3]

---

[1] अष्टपाहुड दर्शनपाहुड, गाथा २०

[2] सूत्रपाहुड, गाथा २३

[3] अष्टपाहुड सूत्रपाहुड, गाथा २६

अर्थात् स्त्रियों के चित्त की शुद्धता नही है; क्योकि स्वभाव से ही उनका भाव ढील पाया जाता है। उनके चित्त में मासिक धर्म की शंका बनी रहती है। इसलिए स्त्रियों के ध्यान (शुक्लध्यान) नही होता है। उनमें साधुता भी उत्कृष्ट नही होती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिंगपाहुड मे जो वर्णन किया है उसकी सार्थकता भावपाहुड मे प्रतिपादित शुद्धभाव मे स्पष्ट लक्षित होती है। क्योकि भावरहित द्रव्यलिंग को तो इस जीव ने अनेक बार प्राप्त किया, किन्तु एक बार भी कभी भावलिंग को परमार्थ से प्राप्त नही किया। तीन लोकप्रमाण इस समस्त लोकाकाश मे ऐसा परमाणु मात्र भी स्थान नही है जहाँ कि द्रव्यलिंगी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो। अनन्त ससार के मध्य इस जीव ने प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्‌गल, प्रत्येक आयु प्रत्येक रागादिभाव, प्रत्येक नामादि कर्म तथा उत्सर्पिणी आदि काल मे स्थित शरीरो को अनेक बार ग्रहण किया और छोडा। तीन सौ तैतालीस राज प्रमाण लोक क्षेत्र मे आठ मध्यप्रदेशो को छोड़कर ऐसा कोई प्रदेश नही है जहाँ इस जीव ने भ्रमण न किया हो।[1] वास्तव मे जिनलिंग (द्रव्यलिग) को धारण करके भी यह भावलिंग को कभी प्राप्त नही हुआ, इसलिये भव-भ्रमण बराबर बना रहा और आज भी बना हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मुख्य रूप से श्रमण सस्कृति का वर्णन किया है। सस्कृति का अर्थ सृजनशीलता है। शुद्धभाव के सृजन मे ही जैन सस्कृति प्रकाशित होती है। जैन सस्कृति के मूल उपादान श्रमण की साम्यभावमूलक प्रवृत्तियों मे परिलक्षित होते है। श्रावक तथा सदगृहस्थो मे भी साम्यभाव की ओर झुकाव एव आशिक प्रवृत्ति लक्षित होती है। यही उनकी सस्कृति है। दूसरे शब्दो मे जैन गृहस्थ की यही सस्कृति है कि— देव-गुरु में भक्ति होना, संसार-देह-भोगो से उदासीनता प्रकट होना, आत्मज्ञान तथा आत्मध्यान मे लीनता होना — यही मूल रचना है जिसे सस्कृति (दैहिक नही, आत्मिक या आन्तरिक) कहा जाता है।

यदि हम शास्त्रीय भाषा मे कहें तो जिन-सस्कृति गुणमूलक है। यह प्रत्येक व्यक्ति का विकास मूल गुणों से मानती है। मनुष्य का सार ज्ञान है। ज्ञान से पदार्थों को जानते है, इसलिये प्रथम ज्ञान सार है। किन्तु सम्यक्त्व के बिना ज्ञान सार नही है, क्योकि ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है; अतः सम्यक्त्व निश्चय से सार है। यथार्थ में सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है। इतना ही नही, आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि यदि साधु पद धारी सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट है, लेकिन सयम का आचरण करता है तो भी निर्वाण को प्राप्त नही करता।[3]

जैसे लोक मे बहुमूल्य वस्तुओ मे रत्न और रत्नो मे हीरा-माणिक्य उत्तम माने जाते हैं, वैसे ही धर्मों में जैनधर्म श्रेष्ठ है। आचार्यश्री के शब्दो मे—

---

[1] अष्टपाहुड: भावपाहुड, गाथा ३३, ३५, ३६

[2] अष्टपाहुड दर्शनपाहुड, गाथा ३१

[3] अष्टपाहुड चारित्रपाहुड, गाथा १०

जह णयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं।
तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं।।

किन्तु न तो यह क्रियाकाण्डमूलक सस्कृति है और न किसी सत्ता के परावलम्बन के आश्रित। स्वावलम्बन से विकसित होनेवाली यह ज्ञान-वैराग्यमूलक सस्कृति भोग परम्परा से सर्वथा दूर है। जिनशासन का माहात्म्य ही यह है कि यह सभी प्रकार से मिथ्यात्वभावो और कषायो से रहित है। वीतराग रूप जिनमत मे मिथ्यात्व और कषाय का स्वरूप यथार्थ, वास्तविक नही है। इसलिए अहकार तथा मिथ्यात्व के गलने पर ही जिनशासन मे जीव वोधि को प्राप्त करता है। कहा भी है –

पयलिमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो।
पाइव तिहुवणसारं बोही जिणसासणे जीवो।।

लौकिकजन तथा अन्यमती यह कहते है कि जिनपूजा आदिक शुभ क्रियाओ मे तथा व्रत क्रियाओ मे जैनधर्म है, किन्तु ऐसा नही है। जिनमत मे पूजा, भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य, व्रत आदि शुभ क्रियाओ से पुण्य होना कहा गया है। इनमे आत्मा के राग सहित शुभ परिणाम होने से पुण्यकर्म होता है, इसलिए इनको पुण्य कहते हैं। इसका फल स्वर्गादिक भोगो की प्राप्ति है। वस्तुतः आत्मा का स्वभावरूप प्रकाशित होना ही धर्म है। जैन सस्कृति मे यही धर्म शाश्वत, अविनाशी, अतीन्द्रिय परमानंद को प्रदान करनेवाला मुक्ति का पन्थ है। ◻

लेखक परिचय : शिक्षा साहित्याचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०। अभिरुचि : लेखन। सम्प्रति : आचार्य एवं अध्यक्ष, शासकीय स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, जावरा (रतलाम)। सम्पर्क सूत्र २४६, शिक्षक कॉलोनी, नीमच (म०प्र०) ४५८४४१।

[४] अष्टपाहुड भावपाहुड, गाथा ८२ [५] अष्टपाहुड भावपाहुड, गाथा ७५

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में "आत्मा"

– वि० धनकुमार जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य

बहिन :–भैया, सुनो ! आज मैंने वाचनालय में, जैनपथ प्रदर्शक, का नया अंक देखा था। उसमें छपा है कि वे इस वर्ष आचार्य कुन्दकुन्द का विशेषांक निकालेगे; क्योंकि इस वर्ष सम्पूर्ण भारतवर्ष मे आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह मनाया जा रहा है। क्या तुम भी कुन्दकुन्द पर कुछ लिखोगे ?

भाई :–हाँ, बहिन ! जिसप्रकार गत वर्ष कविवर बनारसीदास का चतुर्थ जन्मशताब्दी समारोह मनाया गया था, उसीप्रकार इसवर्ष आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह मनाया जावेगा, बल्कि मुझे तो विश्वास है कि इसवर्ष का यह समारोह पहले की अपेक्षा अधिक उत्साहपूर्वक मनाया जावेगा। इसके लिए अनेक विशेषाक निकलेगे, सेमिनार होगे, विद्वानो द्वारा नई पुस्तके लिखी जावेगी। उनके साहित्य को घर-घर तक पहुँचाया जायेगा। 'आचार्य कुन्दकुन्द विशेषाक' के लिए मैं भी एक लेख लिखने का प्रयत्न करूँगा।

बहिन :–किस विषय पर लिखोगे ?

भाई :–'आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में 'आत्मा' ही प्रमुख था, अतः मैं उसी शीर्षक से कुछ लिखना चाहता हूँ। आज के वैज्ञानिक युग मे आत्मा की सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है। इस दृष्टि से भी यह उपयोगी रहेगा। बड़े-बडे लोग तक यह कहते सुने जाते है कि क्या आत्मा-फात्मा लगा रखा है। किसने देखा है आत्मा ? खाओ-पिओ और मौज करो।

बहिन :–हाँ भैया ! मेरी एक सहेली भी कहती है कि यदि आत्मा नाम की कोई स्वतत्र चीज होती तो क्या इतने बडे वैज्ञानिक उसे सिद्ध कर न बताते, जबकि उन्होने कैसी-कैसी अनूठी खोजे कर ली हैं ?

भाई :–पर बहिन ! हम यह क्यो नही समझते कि आत्मा इन वैज्ञानिको के इन्द्रियज्ञान का विषय बन ही नही सकता है। वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय। एक अमूर्तिक और ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य पदार्थ है।

बहिन :–सुना है आचार्य कुन्दकुन्द विदेहक्षेत्र भी गये थे ?

भाई :–हाँ, उन्होने चारणऋद्धि के माध्यम से सदेह उसी भव में विदेहक्षेत्र मे विद्यमान सीमधर अरहत परमात्मा के दर्शन किये थे, वे उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात्

श्रवण करके आये थे। वहाँ से आकर दक्षिण भारत मे वन्देवासी के समीप स्थित पोन्नूर गिरि पर आत्मध्यान-तप करते रहे, साथ ही हम जैसे परम जीवो के लिए ग्रन्थाधिराज समयसार, प्रवचसार, वारस अणुवेक्खा, पचास्तिकायसग्रह, नियमसार, अष्टपाहुड आदि अमोल शास्त्रो को प्रदान किया है यही कारण, है कि हम उन्हे प्रतिदिन महावीर भगवान एव गौतम गणधर के समान मगल स्मरण करते हैं।

'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥'

तथा 'दर्शनसार' मे देवसेनाचार्य ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि सीमधर स्वामी (महाविदेह मे विराजमान तीर्थंकर देव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दी (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नही दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?

बहिन :—इसका अर्थ यह हुआ कि वे हमारे महान श्रद्धेय और आचार्य परम उपकारी हैं ?

भाई :—हाँ, बात तो ऐसी ही है। वे आचार्यचूडामणि कुन्दकुन्द विगत दो हजार वर्षों मे हुए आचार्य, सतो, आत्मार्थी विद्वानो एव आध्यात्मिक साधको के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक भी रहे हैं और आज तक कलि-काल सर्वज्ञ के रूप मे स्मरण किये जाते रहे है और किये जावेगे। इसी कारण कविवर वृन्दावनजी को कहना पडा :—

"हुए हैं, न होंहिगे, मुनिन्द कुन्दकुन्द से।"

बहिन :—हाँ, भाई ! बात तो उत्तम है अच्छा अब आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे आत्मा का स्वरूप क्या है, इसी मूल विषय पर थोडी चर्चा करे जिस पर तुम्हें लेख लिखना है।

भाई :—सुनो, अन्य मतानुयायी आत्मा के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न प्रकार से कथन करते हैं, जो तर्कसगत नही होता, परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तो ऐसा तर्कसगत, अनुभव से मुद्रित, आगम परम्परानुकूल शुद्धात्मा का स्वरूप बताया है कि यदि कोई रुचिपूर्वक सुने, पढे, समझे तो उसे वह सहज ही बुद्धिग्राह्य हो जाता है। सर्वप्रथम आचार्य आत्मा के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि—आत्मा एक है, शुद्ध है, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण है, ममतारहित है। जो अपने ऐसे निज स्वभाव मे स्थित होता है। वह समस्त कर्मों को दूर कर देता है। वह शुद्धात्मा दो प्रकार है :—एकस्वसमय रूप है, दूसरा परसमय रूप है। जो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि गुणो मे स्थित होता है वह स्वसमयरूप आत्मा कहलाता है, वही लोक मे सुन्दर है, शिवस्वरूप है और वही परमसुखी है। तथा जो अपने स्वरूप मे न रहकर परस्वरूप—मोह-राग-द्वेषादि विभाव भावो मे स्थित होता है वह परसमयरूप आत्मा कहलाता है। वह लोक मे असुन्दर नाम पाता है जो कि ससार रूप है।

बहिन :–ऐसे स्वसमयरूप शुद्ध आत्मा का कार्य क्या है ?

भाई :–मूलत. आत्मा का स्वरूप तो ज्ञायक (ज्ञाता) स्वभाव है। ज्ञान उसका गुण है, जानना उसका कार्य है। वह शुद्धात्मा निरन्तर जानने के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करता। न तो पुण्यरूप होता है न पापरूप। और वह न तो परवस्तु को ग्रहण करता है और न त्याग अर्थात् शरीर-मन-वाणी आदि का कर्ता नही है, कारयिता नही है और अनुमोदन करनेवाला भी नही है।

बहिन :–तो क्या हम अच्छे या बुरे कार्य करने का भाव भी नही कर सकते ?

भाई :–बात तो ऐसी ही है। वह भाव भी हमारे हाथ की बात नही है, क्योकि वह हमारा स्वभावभूत भाव नही है; विभावभाव है जो कि संसार का कारण है, जडस्वरूप है, चेतनागुण से विपरीत है, दु खस्वरूप है। इसलिए इसमे अच्छे-बुरे के भेद की बात ही नही है। आत्मा का स्वभाव तो वीतरागमय है, ज्ञानमय प्रकाशमय है और आनन्दस्वरूप है। वह वीतरागता ही रत्नत्रय है, वही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र है। वही मोक्षमार्ग है और मोक्षस्वरूप है।

बहिन :–इसका मतलब तो यह हुआ न कि आत्मा कुछ करता ही नही है ?

भाई :–हाँ, बहिन ! आचार्य कुन्दकुन्द ने तो आत्मा को अकर्ता सिद्ध करते हुए यहाँ तक कहा है कि वह परका तो कुछ कर नही सकता अपितु अपने अनन्त गुणो का कार्य भी नही करता। वह तो एकमात्र ज्ञाता ही है। जैसे नेत्र मात्र देखता है भोगता नही। वैसे ही आत्मा ज्ञान से जानता है, दर्शनगुण से देखता है, अन्य कुछ भी करता नही है। उसका यह जानना और देखना सहज ही हो रहा है। इसलिये वह तो तटस्थ स्वपर को जानने-देखनेवाला है, ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता-भोक्ता नही। इसीप्रकार शुद्धात्मा के स्वरूप पर आचार्य कुन्दकुन्द कहते है –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥

जीव को रसरहित, रूपरहित, गधरहित, अव्यक्त, चेतनागुणवाला, शब्दरहित, अलिंगग्रहण और अनियत आकारवाला जानो।

बहिन :–भैया, अलिंगग्रहण किसे कहते हैं ?

भाई :–अलिंगग्रहण अर्थात् भगवान आत्मा किसी लिंग या चिह्न विशेष द्वारा ग्राह्य नही है। लिंग शब्द के अनेको अर्थ है। स्वरूपगुप्त अमृताचन्द्राचार्य ने प्रवचनसार की तत्वप्रदीपिका टीका मे इसके बीसो अर्थ किये है तदनुसार आत्मा न तो इन्द्रियो द्वारा जानता है न अनुमान आदि से ही ग्राह्य है। बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला भी नही है। – इसतरह बीस अर्थ किये हैं।

बहिय :–भैया ! यह तो बताया नही – आत्मा और शरीर का किसप्रकार सम्बन्ध है ?

भाई .–वास्तव मे आत्मा और शरीर का कोई सम्बन्ध नही है। अत. एक नही है, अपितु जुदे-जुदे स्वभाववाले पदार्थ हैं, यह निश्चयनय का प्रतिपादन है। व्यवहारनय

का निरूपरण यह है कि आत्मा और शरीर एक है, कदापि जुदे नही है, क्योकि आत्मा और शरीर क्षीर-नीर की भाँति एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध देखकर उपचार से एक कहा जाता है, पर आत्मा शरीर स्वरूप नही है, अपितु ज्ञान-दर्शनमय चैतन्यतत्व है। इसी तरह आत्मा को व्यवहारनय से दर्शनवाला-ज्ञान-वाला-चारित्रवाला भी कहा जाता है लेकिन निश्चयनय से न तो आत्मा ज्ञान मात्र है न दर्शनमात्र है न चारित्रमात्र है। वस्तुतः वह एक शुद्ध अखण्ड अनन्त ज्ञायक पदार्थ है। निश्चय से जो आत्मा है वही परमार्थ है, सत्यार्थ है, भूतार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, ज्ञानी है, मुनि है, ऐसे परमार्थ स्वभाव मे स्थित मुनिजन ही निर्वाण को प्राप्त करते है। इसप्रकार आचार्यदेव समयसार की ४१२वी गाथा मे कहते हैं कि – हे भव्य! तू इस रत्नत्रयरूप निज आत्मा मे ही अपने को स्थापित कर, इसी का ध्यान कर, इसी मे ही नित्य विहार कर और अन्य पदार्थ मे विहार मत कर।

बहिन – भैया! बस, अब इतना और बताओ कि आत्मा को प्राप्त करने की विधि क्या है?

भाई – उसको प्राप्त करने की विधि की ही तो चर्चा चल रही है। सुनो, आत्मा अन्य वस्तु थोडे ही है जो उसे प्राप्त किया जाय। वह तो आप स्वयं हो। इसी के उत्तर मे कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने समयसार की १७-१८वी गाथा मे स्पष्ट किया है। जैसे – कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर, श्रद्धान करता है कि यही राजा है फिर उसकी सेवा करता है वैसे ही मोक्ष के इच्छुक आत्मार्थी जीवरूपी राजा को जाने और श्रद्धान करे कि वह आत्मा मैं स्वय ही हूँ।

बहिन – आत्मा मे ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि गुण एक साथ रहते है या जुदे-जुदे?

भाई – सुनो, आत्मा तो अनन्त गुणो का एक अखण्ड पिण्ड है, अभेद है, उसमे गुणभेद नही है, गुणों का लक्षण अलग-अलग होने पर भी एक साथ ही रहते हैं। जैसे नीबू में खट्टा गुण भी है, पीला वर्ण भी है और कुछ वजन भी है। ये सब लक्षण भेद से अलग-अलग होने पर भी एक साथ रहते है, उसीतरह आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि गुणो का एक अखण्ड पिण्ड सुखस्वरूप है – ऐसे अनन्त-गुणात्मक निज भगवान आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान आचरण ही उसकी प्राप्ति करने की विधि है। जैसा कि निम्न गाथा मे कहा गया है –

"एदम्हिरदो णिच्चं सुतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुम उत्तमं सोक्खं॥"

हे भव्य प्राणी! तू अपने आत्मा मे ही नित्य रत हो अपने मे ही सन्तुष्ट हो, तृप्त हो, तुझे उत्तम सुख होगा।

लेखक परिचय – उम्र – २१ वर्ष। शिक्षा – शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, एम० ए०। सम्प्रति – श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मे अध्ययन। मातृभाषा तमिल। सम्पर्कसूत्र – ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ (राज०)

कुन्दकुन्द के साहित्य में दृष्टान्तों का प्रयोग

– (श्रीमती) सौ० कमला भारिल्ल

□

कुन्दकुन्द-साहित्य मे सामान्य जनो को समझाने के लिये ऐसे-ऐसे लौकिक जीवन के अनुभूत उदाहरणो का प्रयोग किया गया है, जो वस्तुस्वरूप समझने में तो सहायक होते ही है, आचार्य कुन्दकुन्द के लोकजीवन सबधी ज्ञान को भी उजागर करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनवाणी को तो पढा ही था, किन्तु जनता के मनोविज्ञान से भी वे अपरिचित नही थे। इसी कारण उन्होने सरल दृष्टान्तो से आत्मा की बात को जन-जन के हृदय मे उतारने का प्रयत्न किया है।

वे समयसार की आठवी गाथा मे लिखते है कि जिसतरह अनार्य लोगो को अनार्य भाषा मे समझाये बिना समझ मे नही आता, उसीप्रकार व्यवहारी जनो को व्यवहार की भाषा मे और दृष्टान्तो के बिना वस्तुस्वरूप समझ मे नही आता, इसी कारण उन्होने स्थान-स्थान पर दृष्टान्तो का विपुल प्रयोग किया है। प्रस्तुत लेख मे उनके विभिन्न ग्रन्थो के आधार पर उन्ही मे से कतिपय महत्त्वपूर्ण उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

समयसार की १७ एव १८वी गाथा मे राजा के दृष्टान्त से जीव राजा को समझाते हुए कहा है कि – जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है; उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए तत्पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए।

प्रत्याख्यान का स्वरूप समझाते हुए समयसार की ३४वी गाथा मे आचार्य बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त देते है। वे लिखते है कि जैसे लोक मे कोई पुरुष जब परवस्तु को 'यह परवस्तु है' – ऐसा जान लेता है तो उस परवस्तु को सहज ही छोड़ देता है, उसी-प्रकार ज्ञानी पुरुष जब समस्त परद्रव्यों को एव परभावों को 'यह परद्रव्य है या परभाव है' – ऐसा जान लेता है तो वह भी उन्हे 'पर' जानकर छोड देता है।

व्यवहारनय को समझाते हुए समयसार की ४७वी एव ४८वी गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

जैसे कोई राजा सेना सहित निकला, वहाँ 'यह राजा निकला' – इसप्रकार जो यह सेना के समुदाय को कहा जाता है, सो वह व्यवहार से कहा जाता है। उस सेना मे

राजा तो एक ही निकला है। इसीप्रकार 'अध्यवसानादि अन्य भावो को यह जीव है'- इसीप्रकार परमागम मे कहा है, सो व्यवहार किया है। यदि निश्चय से विचार किया जाय जो उनमे जीव तो एक ही है।

आगे की ५८ से ६० तक की ३ गाथाओ मे इसी बात को और स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि –

जैसे मार्ग मे जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर 'यह मार्ग लुटता है' – इसप्रकार व्यवहारीजन कहते है, किन्तु परमार्थ से विचार किया जाय तो कोई मार्ग तो नही लुटता, मार्ग मे जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है। इसीप्रकार जीव के कर्मों का और नोकर्मों का वर्ण देखकर ऐसा कहा कि 'यह जीव का वर्ण है', सो इसप्रकार जिनेन्द्र देव ने व्यवहार से कहा है। इसीप्रकार गध, रस, स्पर्श, रूप, देह, सस्थान आदि हैं, वे सब व्यवहार से जीव के कहे गये है।

इसीतरह गाथा १०८ मे देखिये –

जैसे राजा को प्रजा के दोष और गुणो को उत्पन्न करनेवाला व्यवहार से कहा है, उसीप्रकार जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्यगुणो को उत्पन्न करनेवाला व्यवहार से कहा गया है। ये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव सिद्धान्त मे जीव के कहे हैं वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नही है, क्योकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।

कर्ता-कर्म का यथार्थ स्वरूप समझाते हुए आचार्यदेव ने समयसार की गाथा १३०, १३१ मे स्वर्ण का दृष्टान्त देकर कारण-कार्यभाव को कितनी सरलता से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि – जैसे स्वर्ण मे से स्वर्ण के कुण्डल आदि बनते है और लोहे मे से के ही कडा आदि बनते हैं, उसीप्रकार अज्ञानियो के अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानियो के सभी ज्ञानमय भाव होते हैं।

गाथा १४६, १४७ मे पुण्य-पाप की समानता को सोने की व लोहे की बेडी का दृष्टान्त देकर विषय को कितना सरल कर दिया है। जैसे सोने की बेडी भी पुरुष को बाँधती है और लोहे की भी बाँधती है, इसीप्रकार शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म जीव को बाँधता है। इसलिये इन दोनो कुशीलो के साथ राग मत करो, ससर्ग भी मत करो, क्योकि इनसे अपनी स्वाधीनता का नाश होता है।

समयसार की गाथा १५७ से लेकर १५९ तक मे मिथ्यादृष्टि के स्वभाव को सरल दृष्टान्त के द्वारा समझाया है :–

जैसे वस्त्र का श्वेतभाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से लिप्त हुआ सम्यक्त्व वास्तव मे लिप्त हो जाता है। आगे और भी खुलासा करते हुए कहते हैं कि जैसे वस्त्र का श्वेत भाव मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल से लिप्त होता हुआ ज्ञान तिरोभूत हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

आस्रव के स्वरूप को समझाने के लिए पके धान का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे पके हुए फल के गिरने पर फिर से वह फल उस डठल के साथ नही जुडता, उसीप्रकार

जीव के कर्म भाव खिर जाने पर वह फिर से उत्पन्न नही होता अर्थात् फिर जीव के साथ नही जुडता ।

इसी को आचार्य स्पष्ट करते हुए १७९ व १८०वी गाथा मे कहते है कि .–

जिसप्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार उदराग्नि से सयुक्त होता हुआ अनेक प्रकार मास, चर्बी, रूधिर आदि भावरूप से परिणमन करता है, उसीप्रकार ज्ञानियो के पूर्व मे बँधे हुए जो द्रव्यास्रव हैं वे अनेक प्रकार के कर्म बाँधते है, ऐसे जीव शुद्धनय से च्युत हैं। यदि ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो तो उसके भी कर्म बँधते है ।

समयसार के सवर अधिकार की १८४ व १८५वी गाथा मे आचार्य ज्ञानी और अज्ञानी की पहिचान कराते हुए कहते हैं कि – ज्ञानी अपने स्वभाव को नही छोडता चाहे बाह्य मे कितनी भी प्रतिकूलताएँ आएँ। वे इसे समझाने के लिए अग्नि और स्वर्ण का दृष्टान्त देते है । जैसे – स्वर्ण अग्नि से तप्त होता हुआ भी अपने सुवर्णत्व को नही छोडता, इसीप्रकार ज्ञानी भी कर्मों के उदय आने पर भी अपने ज्ञानित्व को नही छोडता और अज्ञानी ज्ञानाधकार से आच्छादित होने से आत्मा के स्वभाव को नही जानता है और राग को ही आत्मा मान लेता है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य निर्जरा अधिकार की १९५ व १९६वी गाथा मे कहते है कि – जिसप्रकार वैद्य पुरुष विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नही होता, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष पुदगलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नही होता, क्योकि जैसे – कोई पुरुष मदिरा को अप्रीति भाव से पीता हुआ मतवाला नही होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी रागादिभावो के अभाव से द्रव्यो के उपभोग के प्रति वैराग्यभाव वर्तता है, इसलिये विषयो को भोगता हुआ भी वन्ध को प्राप्त नही होता ।

इसी अधिकार की गाथा २२० से २२३ मे समझाया है कि – पर पदार्थ से भला-बुरा नही होता । भला-बुरा तो जीव जब स्वय ही उस रूप परिणमन करता है तभी होता है । उन्होने ज्ञानी के परिणमन को शख के उदाहरण से समझाया है कि – जैसे शख अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त व मिश्र पदार्थों को खाता है, फिर भी उसका श्वेतभाव काला नही होता, इसीप्रकार ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त-अचित्त व मिश्र द्रव्यो को भोगे तो भी उसके ज्ञान को (किसी के द्वारा) अज्ञानरूप नही किया जा सकता है ।

आचार्य बन्ध अधिकार की २४० व २४१वी गाथा मे समझाते है कि बन्ध शरीरिक क्रियाओ से नही होता, बन्ध तो अपने रागादि परिणामो से ही होता है, उसके लिए उन्होने धूल व तेल के उदाहरण से स्पष्ट किया है कि –

जैसे कोई पुरुष अपने शरीर मे तेल आदि चिकने पदार्थ लगाकर धूल वाले स्थान मे शस्त्रो के द्वारा व्यायाम करता है और ताड, तमाल, केल, बास आदि वृक्षो को छेदता है, भेदता है, यानि नानाप्रकार के कारणो के द्वारा उपघात करता है तो उस पुरुष के शरीर मे जो तेल आदि की चिकनाहट है उससे धूल चिपकती है। इसीप्रकार बहुत-सी चेष्टाओ मे वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि अपने उपयोग मे रागादिभावो को करता हुआ कर्म-रूपी रज से लिप्त होता है और ज्ञानी उपयोग मे रागादि नही करता, उपयोग का और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नही होता, इसलिये उसे बन्ध नही होता ।

मोक्ष अधिकार की गाथा २८८ से २९० तक की तीन गाथाओ मे आचार्यदेव ने समझाया है कि यदि कोई कर्म प्रकृति आदि का ज्ञान होने पर भी उससे मुक्त होने का उपाय नही करता तो वह बन्धन से नही छूटता; क्योकि अकेला जानना ही कार्यकारी नही है।

जिस प्रकार कोई पुरुष बहुत समय से बन्धन से बन्धा हुआ हो और उसे उसका ज्ञान भी हो कि मैं इतने समय से बधन मे हूँ, पर यदि वह बन्धन को काटने का प्रयत्न नही करे तो क्या वह पुरुष बन्धन से मुक्त हो सकता है ? नही, उसी प्रकार यह आत्मा अनादि-काल से कर्म के बन्धनो से बधा हुआ है तथा वह कर्म के प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग आदि कर्मबन्ध का ज्ञान भी कर लेता है, किन्तु यह कर्मों की अवस्था कैसे हुई ? इसके मूल कारणो को नही जानता, यानि कर्मबन्ध के कारण जो रागादि विकारी भाव हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न नही करता तो यह मोक्ष को प्राप्त नही होता, क्योकि जानने मात्र से ही बन्ध नही कट जाता, वह तो काटने से ही कटता है। कर्मो के ज्ञान करने से तो धर्मध्यानरूप शुभ परिणाम होता है, जो कि बन्ध का ही कारण है, अबन्ध दशा का कारण नही।

जिनदर्शन की महिमा बताने के लिये आचार्यदेव ने अष्टपाहुड मे दर्शन पाहुड की गाथा नबर ११ मे वृक्ष की जड का दृष्टान्त देकर कहा है कि –

जिसप्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध होते हैं, जिनसे शाखा आदि बनते हैं उसीप्रकार गणधरदेव ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है।

इसी ग्रन्थ की बोधपाहुड गाथा न २१ मे वे परमात्मा के स्वरूप को जानने पर बल देते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे धनुष-बाण चलाने के अभ्यास से रहित पुरुष निशाने को नही साध सकता है, वैसे ही ज्ञानाभ्यास से रहित अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग के निशाने-स्वरूप परमात्मा को न पहिचाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नही होती, इसलिये ज्ञान को जानना चाहिए। परमात्मा रूप निशाना ज्ञानरूप बाण द्वारा वेधना योग्य है।

भावपाहुड की गाथा न० ८२ मे आचार्यदेव ने जिनधर्म की महिमा बताते हुए दृष्टान्त दिया है कि जैसे – रत्नो मे प्रखर (श्रेष्ठ) उत्तम बज्र (हीरा) है और जैसे तारूण (बडे वृक्षो) मे उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है वैसे ही सब धर्मो मे उत्तम ससार का अभाव करनेवाला जिनधर्म है, इसीधर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मोक्षपाहुड की गाथा न ५१ मे आचार्य जीव के स्वच्छ भाव की विचित्रता बताते हुये दृष्टान्त देते हैं कि – जैसे स्फटिकमणि विशुद्ध है, निर्मल है, उज्जवल है पर वह परद्रव्य के सयोग से पीतादि वर्णमयी दिखता है, वैसे ही यह जीव विशुद्ध है, स्वच्छ स्वभाववाला है, परन्तु यह अपनी भूल द्वारा स्वरूप से च्युत होता है तो रागद्वेषादिक भावो से युक्त होने पर अन्य – अन्य प्रकार से दिखता है।

शीलपाहुड की गाथा न. ९ मे आचार्य जीव की विशुद्धता के लिए सुवर्ण और सुहागा का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि –

जैसे कचन सुहागा व नमक के लेप करने से विशुद्ध निर्मल कातियुक्त होता है। वैसे ही जीव विषय कषायो के मल से रहित निर्मल ज्ञानरूप जल से प्रलाक्षित होकर

कम रहित विशुद्ध होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा एकाग्र होकर अपना ध्यान करे तो कर्मो का नाश होकर अनन्त चतुष्टय रूप प्रगट हो जाता है।

आगे आचार्य इसी पाहुड की २१वी गाथा मे विषय विष को समझाते हुए कहते है कि जैसे – विषय सेवनरूपी विष विषयलुब्ध जीवो को विष देने वाला है वैसे ही घोर तीव्र स्थावर जगम सब ही विष प्राणियो का विनाश करते हैं तथापि इन सब विषो मे विषयो का विष दारूण है।

विषयो को छोडने से कोई हानि नही है यह इसी पाहुड की २४वीं गाथा मे कहते है – जैसे तुषों के उड़ने से मनुष्य का कुछ द्रव्य नही जाता है वैसे ही तपस्वी और शील-वान पुरुष विषयो को खल की तरह फेंक देते है; क्योकि ज्ञानियो ने तो अपने ज्ञान ही मे सुख माना है, इसलिए उनको विषयो के त्याग मे दु ख नही होता है।

आगे इसी क्रम मे २८वी गाथा मे शील की महिमा बताते हुए कहते है कि – जैसे समुद्र रत्नो से भरा है तो भी जलसहित शोभा पाता है; वैसे ही यह आत्मा तप, विनय, शील, दान आदि रत्नो मे शील सहित शोभा पाता है, क्योंकि जो शील सहित होता है वह निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

आत्मा की शक्ति की विचित्रता का ज्ञान कराने के लिए आचार्य प्रवचनसार की गाथा २९ व ३० मे चक्षु व इन्द्र नीलमणि के उदाहरण के द्वारा समझाते है – जैसे चक्षु रूप को ज्ञेयो मे अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती देखती है, उसीप्रकार आत्मा इन्द्रियातीत होता हुआ अशेष जगत को ज्ञेयो मे अप्रविष्ट रहकर तथा प्रविष्ट न रहकर निरन्तर जानता देखता है। तथा जैसे दूध मे पडा हुआ इन्द्रनील मणि अपनी प्रभा के द्वारा उस दूध मे व्याप्त होकर वर्तता है, उसीप्रकार ज्ञान भी पदार्थो में व्याप्त होकर वर्तता है।

सिद्धभगवान की स्वतन्त्रता का ज्ञान कराते हुए आचार्य प्रवचनसार गाथा ६६ मे कहते है – जैसे आकाश मे सूर्य अपने आप ही तेज, उष्ण और देव है उसीप्रकार लोक मे सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) ज्ञान सुख और देव है।

इसप्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव ने तो अपने पच परमागमो मे मूल विषयवस्तु को अत्यन्त सरल-सरल दृष्टान्तो से समझाने का प्रयत्न किया ही है। साथ ही उनके बाद टीकाकारो ने भी उनके द्वारा प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तो को और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

यदि हम उनके इन ग्रन्थो का गहराई से अध्ययन करेगे तो नियम से हमे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी वर्ष मे सब जीव अधिक से अधिक उनके साहित्य का अध्ययन-मनन-चिन्तन कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करें, इसी भावना के साथ मैं अपनी बात समाप्त करती हूँ। □

लेखिका-परिचय – उम्र : ५० वर्ष। शिक्षा : विशारद, एच. एस. सी., बी. टी., एस. टी., (प्रशिक्षित)। अभिरुचि : धार्मिक अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन। सम्पर्क-सूत्र · W/o पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज०) ३०२०१५

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में मुनिधर्म का स्वरूप

– (श्रीमती) डॉ० शुद्धात्मप्रभा जैन

दिगम्बर जिन परम्परा मे सर्वोपरि, द्वितीय श्रुतस्कध के आद्यरचनाकार, जिनागम के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रतिपादन मे उन सम्पूर्ण विषयो को समाहित कर लिया है, जो आत्महित के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं, मोक्षमार्ग के मूलाधार हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देव और शास्त्र के समान गुरु (मुनि) का स्वरूप समझना भी आवश्यक है।

गुरु के स्वरूप को समझने मे अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्गदर्शक होते है। यदि उनके स्वरूप को भलिभाति न समझा गया तो गलत गुरु के सयोग मे भटक जाने की सभावना अधिक बनी रहती है।

यही कारण है कि गुरु के स्वरूप प्रतिपादन मे आचार्य कुन्दकुन्द ने विशेष सतर्कता रखी है, क्योकि गुरुभेष मे रहनेवाले अगुरु धर्म और धर्मात्माओ के लिए सर्वाधिक खतरनाक सिद्ध हो सकते है। आचार्य कुन्दकुन्द अपने युग के गुरुओ के भी गुरु थे, परम्परा प्रवर्तक एव प्रशासक आचार्य थे, गुरुओ मे समागत शिथिलाचार को समाप्त करने का उनका सर्वाधिक उत्तरदायित्व था, जिसे उन्होने बखूबी से निभाया।

जैनदर्शन मे गुरुत्व की कल्पना कुलादिक की अपेक्षा से नही है, अपितु दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा जो महान् बन चुके है, उनको गुरु कहते हैं। आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते है।

उक्त तीनो को श्रमरण भी कहते है। जैसा कि आचार्य जयसेन कहते है –

श्रमरण शब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च।

आचार्य, उपाध्याय और साधु – ये तीनो श्रमरण शब्द के वाच्य है।"[1]

आचार्य, उपाध्याय और साधु – तीनो ही साधुपने की अपेक्षा समान हैं। अन्तर केवल सघकृत उपाधि के कारण हैं।

---

[1] प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा २ की टीका

साधुओ का आचार-व्यवहार आगमानुसार होता है। आगम रूपी नेत्रो द्वारा ही साधु सभी कुछ देखते है, अत उन्हे "आगमचक्षु" भी कहते है यदि साधु की दृष्टि आगमानुसार न हो तो वह साधु ही नही है।[1]

कुन्दकुन्दाचार्य कहते है कि – जैनदर्शन मे तीन ही वेष मान्य है, उनमे सर्वश्रेष्ठ लिग नग्न दिगम्बर मुनियो का है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावको का है और तीसरा आर्यिकाओ का है।[2]

पचेन्द्रियो के विषयो से विरक्त, आरम्भ और परिग्रह से रहित, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी निर्ग्रन्थ साधु ही गुरु है, मुनि है।

मुनि मे आत्मशुद्धि की प्रधानता होती है। जैसा कि कहा भी है –

"रत्नत्रयभावनया स्वात्मान साधयतीति साधु."

रत्नत्रय की भावना से जो स्वात्मा को साधता है वह साधु है।"[3]

साधुओ के बारे मे आचार्यदेव स्पष्टरूप से कहते है कि "साधु का रूप जैसा बालक जन्मता है, वैसा ही नग्न होता है। यदि वह तिलतुष मात्र परिग्रह भी रखे तो निगोद का ही पात्र है। वस्त्र धारण किए हुए तो तीर्थंकर भी मुक्ति प्राप्त नही कर सकते, अन्य की तो बात ही क्या कहे ? एक नग्नता ही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है।[4]

निर्ग्रन्थ दीक्षा छह सहनन वाले जीव ही ले सकते है। इसे धारण करने की विधि बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते है कि – "दीक्षा के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि परिवार जनो से अनुमति लेना चाहिए। तदनन्तर मुनियो मे श्रेष्ठ आचार्य के पास जाकर दीक्षा लेने की भावना प्रगट करना चाहिए।

दीक्षा लेते समय अन्तरग मूर्छा और बाह्य मे आरभ के त्यागपूर्वक योग और उपयोग की शुद्धि से युक्त होते हुए पर से भिन्न, स्व से अभिन्न आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। बाह्य मे समस्त शारीरिक श्रृगार व वस्त्रो का त्याग करना चाहिए व सिर, दाढी, मूछ के बालो का लौच करना चाहिए।

इसप्रकार जो व्यक्ति अन्तरग-बाह्य परिग्रह का त्याग करके उपशम, क्षय, क्षयोपशम से युक्त होकर आत्मा मे लीन होता है, उसके मिथ्यात्व आदि भाव नष्ट होकर सम्यक्त्व गुण प्रकट हो जाता है।

इसप्रकार जो व्यक्ति दोनो (भाव व द्रव्य) लिंगो को धारण करता है, वही वास्तविक मुनि है, साधु है, श्रमण है, गुरु है।

देहादिक परिग्रह व मानादिक कषायो से रहित होकर आत्मा मे लीन होना ही भावलिंग है।

---

[1] प्रवचनसार गाथा २३४

[2] अष्टपाहुड, दर्शनपाहुड, गाथा १८

[3] प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा २५२ की टीका

[4] सूत्रपाहुड, गाथा १८

बाह्य मे शारीरिक शृगार के त्यागपूर्वक नग्न दिगम्बर वेष धारण करना ही द्रव्यलिंग है।

बाह्य परिग्रह का त्याग अन्तरग भावो की शुद्धि के लिए किया जाता है, अत भावसहित बाह्य परिग्रह का त्याग ही उपयोगी है, ग्रहणयोग्य है।

भावरहित नग्नत्व अकार्यकारी है, क्योकि यदि नग्नत्व से ही कार्यसिद्धि हो तो नारकी, पशु आदि सभी जीवसमूह को नग्नत्व के कारण मुक्ति प्राप्त होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता, अपितु वे महादु खी ही है। अत स्पष्ट है कि भावरहित नग्नत्व से दु खो की ही प्राप्ति होती है, ससार मे ही भ्रमण होता है। एव भावसहित द्रव्यलिंग से कर्मो का नाश होता है।

द्रव्यलिगी उग्र तप करते हुए यद्यपि अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधादि के उत्पन्न होने के कारण उसकी वे ऋद्धियां स्व-पर के विनाश का ही कारण होती है।

बाह्य मे नग्न मुनि हास्य, माया मत्सर आदि कार्यो से मलिन होता हुआ स्वय तो अपयश को प्राप्त करता ही है, व्यवहारधर्म की भी हँसी कराता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्टरूप से कहते है कि धर्मात्मा के नग्न वेष तो होता है, पर नग्न वेष धारण कर लेने मात्र से कोई धर्मात्मा नही बन जाता। धर्मसहित लिंग धारण करने से ही सिद्धि होती है, मात्र लिंग धारण करने से नही।

जो व्यक्ति मुनिवेष तो धारण कर लेते है, पर मोहवश गाने-वजाने, नाचने आदि मे प्रवृत्त होते है, अब्रह्म का सेवन करते है, परिग्रह जोडते हैं, विवाहादि कार्य करवाते हैं, ईर्ष्या करते है, आहारादि के लिए दौडते है, भोजन मे आसक्त होते हैं, दान लेते है, निन्दा करते है, ईर्यासमिति पूर्वक नही चलते, स्त्रियो से अनुराग करते हैं, वे सभी भ्रष्ट हैं। जो मुनि व्यभिचारी स्त्री के यहाँ भोजन करते है, उसकी प्रशसा करते है वे मुनि तो क्या — मनुष्य भी नही हैं, पशुतुल्य हैं।

ऐसे वेषधारी मुनि यदि बहुत शास्त्रो के ज्ञाता भी हो, सच्चे भावलिंगी मुनियो के साथ भी रहे, तो भी भाव से नष्ट ही हैं, वास्तविक मुनि नही हे।[1]

भावरहित द्रव्यलिगी की निरर्थकता बताते हुए आचार्य कहते है कि — जिस मुनि मे धर्म का वास नही है, अपितु दोषो का आवास है, वह तो इक्षुफल के समान है, जिसमे न तो मुक्ति रूप फल लगते है, न ही रत्नत्रयरूप गधादिक गुण ही पाये जाते हैं। अधिक क्या कहे ? वे तो नग्न होकर नाचनेवाले भाँड के समान ही है।[2]

अत स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्यानुसार शुद्धात्मा की भावना से रहित मुनियो द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, गिरी-गुफादि का आवास, ज्ञान, अध्ययन आदि सभी क्रियाये निरर्थक है। इसलिए रागादिरूप अभ्यन्तर भाव-दोषो से शुद्ध होकर ही

---

[1] लिंगपाहुड, गाथा ४ से ६, ७, ९, १३, १४, २०

[2] अष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ७१

निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंग धारण करना चाहिए। इसप्रकार भावपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि ही दर्शन-ज्ञान पूर्वक चारित्र धारण करता हुआ भवभ्रमण रहित सिद्धत्व प्राप्त करता है।

श्रावकत्व व मुनित्व के कारणभूत भाव ही है।[1] भावरहित मुनिवेषधारी तो श्रावक के समान भी नही हैं। इस सदर्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द की निम्न गाथा द्रष्टव्य है :—

"ते विय भरणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहि।
बहुदोसाणावासो सु मलिण चित्तो ण सावयसमो सो॥

जो भावसहित सपूर्ण शील सयमादि गुणो से युक्त हैं उन्ही को हम मुनि कहते है। मिथ्यात्व से मलिन चित्तवाले बहुत दोषो के आवास मुनिवेषधारी जीव तो श्रावक के समान भी नही है।[2]

भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं परद्रव्य व परभावो से ममत्व को छोड़ता हूँ। मेरा स्वभाव ममत्वरहित है अत ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, सवर, योग — ये सभी भाव अनेक होने पर भी एक आत्मा मे ही हैं। सज्ञा सख्यादि के भेद से ही उन्हे भिन्न-भिन्न कहा जाता है। मैं तो ज्ञान-दर्शन स्वरूप शाश्वत आत्मा ही हूँ। शेष सब सयोगीभाव परद्रव्य है, मुझसे भिन्न है। अतः मैं सभी अवलम्बनो को छोडकर एक आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

बाह्य दीक्षा का स्वरूप बताते हुए आचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि मुनि उपसर्ग व परिषह को सहते हुए नित्य ही निर्जन प्रदेश, शिलातल, काष्ठ या भूमितल मे रहते है, अथवा सूने घर, वृक्षमूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशानभूमि, पर्वत की गुफा, पर्वतशिखर भयानक वन और वस्तिका मे भी रहते हैं।[3]

मुनि को कभी पशु, महिला, नपुसक और व्यभिचारी पुरुष के साथ नही रहना चाहिए। उनसे चर्चा-वार्ता नही करना चाहिए। वस्त्रो मे आसक्त नही होना चाहिए एव किसी से कुछ मागना भी नही चाहिए।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मुनि को अतरग व बहिरग परिग्रह का त्याग करना चाहिए, पाँच इन्द्रियो से विरक्त होना चाहिए, कषाओ को जीतना चाहिए पापारभ को छोड़ना चाहिए। बाईस परिग्रहो को सहते हुए पाँच समिति, तीन गुप्ती का पालन करना चाहिए। शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशसा, लाभ-अलाभ, तृण-काचन मे समभाव रखना चाहिए।

इसप्रकार मुनिधर्म अगीकार कर मुनि को आत्मस्थ होना चाहिए।

अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदतधावन, खडे-खडे भोजन, एक बार आहार मुनियों के मूलगुण हैं।

इन मूलगुणो मे प्रमत्त होनेवाला मुनि छेदोपस्थापक कहलाता है।

---

[1] अष्टपाहुड, भावपाहुड, गाथा ६६

[2] अष्टपाहुड भावपाहुड, गाथा १५५

[3] बोधपाहुड, गाथा ४२

संयम के छेद दो प्रकार के होते है – वहिरग छेद और अतरग छेद ।

कायचेष्टा सम्वन्धी छेद वहिरंग छेद है ।

उपयोग सम्वन्धी छेद अतरग छेद है ।

जव मुनि के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा मे कथचित् वहिरग छेद होता है, तव प्रायश्चितस्वरूप आलोचनापूर्वक[1] क्रिया करनी चाहिए ।

जव उपयोग सवधी छेद होता है तव वह मुनि व्यवहारज्ञ एव प्रायश्चित कुशल मुनि के पास जाकर अपने दोप का निवेदन करके जैसा वे उपदेश दें वैसा करना चाहिए।

सभी परद्रव्य मुनिधर्म के छेद के आयतन हैं । सयोग के निमित्तभूत आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि-निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियो का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्ता के प्रति भी रागादि करना उचित नही, क्योकि इनसे भी सयम का छेद होता है ।

मुनि के लिए अतरग छेद सर्वथा निपेघ्य है ।

अशुद्धोपयोग होने के कारण अप्रमत्त चर्या मे अतरग हिंसा होती है। वाह्य हिंसा हो या न हो, पर अतरग हिंसा तो होती ही है । जवकि प्रमत्त समितिवान के वाह्य हिंसा होने मात्र से वध नही होता । अत अतरग छेद सर्वथा निपेघ्य है ।

परिग्रह भी अतरग छेद है । इसके रहने पर भावो मे विशुद्धि नही होती तथा मूर्छा, आरभ और असयम का सद्भाव रहता है । अत परिग्रह के सद्भाव मे मुनि आत्मा को नही साध सकता है । इसलिए परिग्रह भी निपेघ्य है ।

यद्यपि मुनि को समस्त परिग्रह का त्याग करना चाहिए । यही सामान्य नियम है, तथापि विशिष्ट क्षेत्र-काल के वश मुनि अनिषिद्ध परिग्रह (उपाधि) ग्रहण कर सकता है, क्योकि उस परिग्रह से छेद नही होता । जैसे – आहार-विहारादि के लिए अनिषिद्ध आवश्यक परिग्रह का ग्रहण करना ।

यदि सामर्थ्य हो तो सर्व परिग्रह का ही त्याग करना चाहिए, क्योकि उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नही ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनिपिद्ध उपधि (परिग्रह) अपवाद है । यद्यपि अपवाद उपकरणभूत उपधि का निषेध नही है तथापि यह वस्तुधर्म न होने से उत्सर्ग मार्ग नही है ।

बाल, वृद्ध, परिश्रमी, रोगी को भी अपने योग्य अति कठोर आचरण ही करना चाहिए ।[2] यह उत्सर्ग मार्ग है एव अपवाद मार्ग मे बाल, वृद्ध, परिश्रमी, रोगी मुनि को सयम का छेद जैसे न हो, ऐसे अपने योग्य अति मृदु आचरण ही करना चाहिए ।

इसप्रकार जो श्रमण आहार-विहार, देश, काल, श्रम, क्षमता तथा परिग्रह (उपधि) को जानकर आचरण करता है, वह अल्पलेपी होता है ।

---

[1] सूक्ष्मता से विचारपूर्वक क्रिया आलोचना होती है ।

[2] प्रवचनसार तत्वप्रदीपिका २३० की टीका।

जबतक शुद्धोपयोग न होवे तबतक ही श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिए उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधनी चाहिए। उसे अपनी निर्बलता का लक्ष्य किये बिना मात्र उत्सर्ग का आग्रह – केवल अति कर्कश आचरण का हठ नही करना चाहिए तथा उत्सर्गरूप ध्येय को चूककर मात्र अपवाद के आश्रय से केवल मृदु आचरणरूप शिथिलता का सेवन भी नही करना चाहिए, किन्तु ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिसमे हठ भी न हो और शिथिलता का सेवन भी न हो।

इसप्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्दकुन्द जितने शिथिलाचार के विरोधी थे, उतने ही शक्ति के बाहर अति कठोर आचरण के भी। वे अपनी शक्ति के अनुसार पद की मर्यादा के भीतर यथासभव मृदु-कठोर आचरण के समर्थक थे। जिसप्रकार उन्होने मृदु आचरण के नाम पर आई हुई शिथिलता के विरुद्ध कठोर रुख अपनाया है, उसीप्रकार शक्ति के बाहर अति कठोर आचरण का भी खुलकर निषेध किया है।

मुनि के द्वारा किया गया आहार युक्ताहार कहलाता है, क्योकि आहार आत्मा का स्वभाव नही है – इसप्रकार के विचार आहार लेते समय मुनि के होने से वह मुनि योगी ही है, इसलिए उसके द्वारा किया गया आहार युक्ताहार (योगी का आहार) है।

मुनिदेह मे ममत्वपूर्वक अनुचित आहार ग्रहण नही करता, अत· वह युक्ताहारी है।

युक्ताहारी मुनि साक्षात् अनाहारी व अविहारी ही है, क्योकि वह शुद्धात्मतत्व की उपलब्धि के साधकभूत श्रामण्य पर्याय के पालन के लिए युक्ताहार विहारी होता है, न कि वर्तमान या भावी दिव्य शरीर के अनुराग से।

युक्ताहार भिक्षाचरण से, दिन मे एकबार, यथालब्ध, रस की अपेक्षा से रहित एव मधु-मास रहित होता है।

मुनि दो प्रकार के होते है – शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी।

शुद्धोपयोगी मुनि निरास्रव होते है और शुभोपयोगी आस्रवसहित होते है। यद्यपि वास्तविक मुनिधर्म तो शुद्धोपयोग ही है, तथापि मुनिराजो को शुभोपयोग भी होता है।

शुद्धात्मा मे लीनता शुद्धोपयोग है। इसके अतिरिक्त मुनियो के द्वारा की गई अरहन्तादि के प्रति भक्ति, प्रवचनरत जीवो के प्रति वात्सल्यभाव, शिष्यो का ग्रहण-पोषण, तत्वोपदेश, अपने से बड़े मुनियो के प्रति वदन, वैयावृत्यादि क्रियाय शुभोपयोग है। अतः आत्मा मे लीन मुनि शुद्धोपयोगी मुनि है एव अन्य क्रियायें करता हुआ मुनि शुभोपयोगी मुनि है।

रोगी, गुरु, वाल, वृद्ध मुनि को रोग, क्षुधा, तृषा और भय से त्रस्त देखकर मुनि को अपनी शक्तिअनुसार छहकाय के जीवो की पीडा रहित वैयावृत्यादि करना चाहिए। एव इस दृष्टि से गृहस्थो के साथ भी वह शुभोपयोग युक्त बातचीत कर सकता है, मुनि को गृहस्थ के साथ शादी इत्यादि विषय-कषाय से सबधित बातचीत कदापि नही करना चाहिए।

कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में –

"णिग्गथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।
सो लोगिगोत्ति भणिदो संजमतवसपजुत्तो वि ।।

निर्ग्रंथ रूप से दीक्षित हो, सयम-तप से युक्त हो, वह मुनि भी यदि ऐहिक कार्यो को करता हो तो "लौकिक" कहलाता है ।[1]

मुनि को लौकिक जनो का संपर्क नही करना चाहिए, क्योकि उनसे सपर्क करने से सयत भी असयत हो जाता है । मुनि को तो समस्त गुणवाले या अधिक गुणवाले मुनि के साथ रहना चाहिए, जिससे कि उसके गुणो मे सदा वृद्धि होती रहे ।

अपने से गुणो मे अधिक मुनियो का अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, विनय आदि क्रियाओ द्वारा सम्मान करना चाहिए । जो गुणो मे अधिक मुनियो का सम्मान नही करता, उन्हे देखकर द्वेष करता है, उनकी बुराई करता है, वह मुनित्व से भ्रष्ट होता है अथवा जो स्वय गुणो मे हीन है एव गुणाधिक मुनि से अपनी विनय करवाना चाहता है अथवा जो स्वय गुणो मे अधिक है, किन्तु हीन गुणवालो के प्रति वदनीय क्रिया करता है – ये दोनो ही चारित्र से भ्रष्ट है, मुनित्व के योग्य नही है ।

इसप्रकार हम देखते है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थो मे मुनिधर्म के स्वरूप व भेदो पर तो प्रकाश डाला ही है, पर साथ ही साथ मुनि के योग्य कार्य-अकार्य, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, आहार आदि को भी पोजेटिव-नेगेटिव दोनो रूपो मे स्पष्ट किया है । जहाँ-जहाँ विकृतियो की सभावना है, उनका भी स्पष्टीकरण उदाहरणो द्वारा किया है ।

मुनिवेष मे रहते हुए मुनित्व के योग्य कार्य न करने वाले को तो आप मनुष्य की सीमा से बाहर रखते है ।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जो परद्रव्य के प्रति ममत्व को छोडकर, पचेंद्रियो से विरक्त होकर, कषायो को जीतकर, छेदविहीन होकर, पाँच समिति, तीनगुप्ति का पालन करते हुए, ज्ञान-दर्शन और मूल गुणो में प्रयत्नपूर्वक विचरण करते हुए आत्मा मे लीन होता है, वही सच्चा मुनि है । □

लेखिका परिचय :– उम्र : ३० वर्ष । शिक्षा : एम०ए० W/o (स्वर्ण पदक प्राप्त), पी०एच०डी० अभिरुचि तात्विक पठन-पाठन एवं लेखन कार्य । सम्पर्क-सूत्र : अविनाश कुमार टड़ैया C/o जानकी निवास, जैन मन्दिर के पास रेलवे स्टेशन के सामने, दहीसर (W) बम्बई ।

[1] प्रवचनसार गाथा २६९

बताओ मैं कौन हूँ ?

– (श्रीमती) शुद्धात्मप्रभा जैन

घर मे न रमूँ, वन में रमता हूँ।
तन में न रमूँ, चेतन में रमता हूँ ॥ १ ॥

राग मे न रचूँ, वैराग मे रचता हूँ।
भोग मे न रचूँ, योग मे रचता हूँ ॥ २ ॥

रूप मे न बसूँ, स्वरूप में बसता हूँ।
अज्ञान में न बसूँ, ज्ञान मे बसता हूँ ॥ ३ ॥

मिथ्यात्व मे न रहूँ, सम्यक्त्व मे रहता हूँ।
जनता में न रहूँ, एकान्त मे रहता हूँ ॥ ४ ॥

उपदेश एकान्त का नही, अनेकान्त का देता हूँ।
ध्यान परमात्मा का नही, शुद्धात्मा का करता हूँ ॥ ५ ॥

मुक्ति पथ का पथिक हूँ, निर्ग्रन्थ हूँ।
बताओ मैं कौन हूँ ?

मुनिधर्म : आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में

— बाल ब्र० कल्पना बेन

□

प्रवचनसार की २७४वी गाथा मे कहा है कि —

"सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥

शुद्ध को श्रामण्य कहा है, शुद्ध को दर्शन तथा ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, वही सिद्ध होता है, उसे नमस्कार हो।"

इसप्रकार शुद्धोपयोगी मुनिराजो को नमस्कार करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने और भी अनेक स्थानो पर श्रामण्य को अगीकार करने की प्रेरणा दी है तथा मुनियो का स्वरूप दर्शाया है —

"पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।[1] यदि दु खों से मुक्त होना चाहते हो तो श्रामण्य को अगीकार करो।"

मुनिराज (जैन) दर्शन है,[2] मुनिराज धर्मायतन हैं, तथा परम मुनि केवलज्ञानी सिद्धायतन हैं[3], जिनमुद्रा सिद्धिसुख है[4], मुनिराज चैत्य[5], चैत्यगृह[6] है, वीतरागी मुनिराजो का चलता-फिरता शरीर जिनमार्ग मे प्रतिमा[7] है, मुनिराज प्रतिमा है[8], मुनिराज जिन-मार्ग मे दर्शन है[9], दीक्षा-शिक्षा लेनेवाले आचार्य मुनि जिनबिम्ब हैं[10] तता अरहत मुद्रा है[11], मुनिराज ही जिनमुद्रा हैं।[12]

मुनिराजो के सम्बन्ध मे उद्घोषित प्रस्तुत तथ्य आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे मुनिधर्म क्या था — इस बात पर विचार करने के लिए विवश कर देते हैं।

दर्शन धर्म का मूल है[13] तथा चारित्र वास्तविक धर्म है।[14] भावपाहुड गाथा ८३वी मे आचार्य कुन्दकुन्द धर्म को परिभाषित करते हुए लिखते है — "मोहक्खोह विहीणो, परिमाणो अप्पणो धम्मो। मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।"

---

[1] प्रवचनसार, गाथा २०१ उत्तरार्द्ध
[2] दर्शनपाहुड, गाथा १४
[3] बोधपाहुड, गाथा ५–६–७
[4] मोक्षपाहुड, गाथा ४७
[5] बोधपाहुड, गाथा–८
[6] बोधपाहुड, गाथा–९
[7] बोधपाहुड, गाथा १०
[8] वही, गाथा ११
[9] वही, गाथा १४
[10] वही, गाथा १६
[11] वही, गाथा १८
[12] वही, गाथा १९
[13] दर्शनपाहुड, गाथा २
[14] प्रवचनसार, गाथा ७

पुनश्च वही निम्नांकित ८५वी गाथा मे कहा है कि –

"अप्पा अप्पम्मि रओ, रायादिसु सयलदोस परिचित्तो ।
संसार तरणहेदू, धम्मोत्ति जिणेंहि णिद्दिट्ठं ।।

जिनेन्द्र भगवान् रागादिक सम्पूर्ण दोषो से रहित आत्मा में आत्मलीनता को ससार से तारने का कारणभूत धर्म कहते है ।"

उल्लिखित तथ्यों से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द रत्नत्रय को धर्म कहते है । अत: आत्मलीनता धर्म है और आत्मलीनता, आत्मश्रद्धान तथा आत्मपरिज्ञान के बिना सम्भव नही है, अत आत्मश्रद्धान तथा आत्मपरिज्ञान पूर्वक आत्मलीनता ही धर्म है, यही रत्नत्रय है ।

आचार्य कुन्दकुन्द इसे ही मोक्षपाहुड गाथा ३७ मे इसप्रकार निर्देशित करते है –

"जं जाणइ तं णाण, जं पिच्छइ त च दंसणं णेयं ।
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाण ।।

जो जानता है वह ज्ञान है, जो प्रतीति करता है वह दर्शन है, तथा जो पुण्य-पाप का परिहार है, वह चारित्र ऐसा जानना चाहिए ।"

पुनश्च लिखते है कि जिनेन्द्र भगवान ने तत्वरुचि सम्यग्दर्शन, तत्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान और परिहार चारित्र कहा है ।

तदनन्तर वही चारित्र को परिभाषित करते हुए ४२वी गाथा मे लिखते है कि –

"जं जाणिऊण जोई, परिहार कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं, अवियप्पं कम्मरहियेहिं ।।

योगी (पूर्व वर्णित जीवादि तत्वो को) जानकर पुण्य-पाप का परिहार करता है, उसे कर्मरहित सर्वज्ञदेव निर्विकल्प चारित्र कहते है ।"

एतत्सम्बन्धी विशिष्ट उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि वह चारित्र ही धर्म है और वह आत्मा का समभाव है, तथा राग-द्वेष से रहित जीव का अनन्यपरिणाम है ।[२]

ठीक ऐसा ही भाव प्रवचनसार की छठवी गाथा मे भी व्यक्त किया गया है ।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि आचार्य की दृष्टि मे चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञान सापेक्ष ही स्वीकृत है । जैसा कि उन्होने स्वयं "चारित्रपाहुड" की तीसरी गाथार्थ से व्यक्त किया है –

"णाणस्स पिच्छियस्स य, समवण्णा होइ चारित्तं ।।

ज्ञान और दर्शन के समायोग से चारित्र होता है ।" –

---

[१] मोक्षपाहुड, गाथा ३८

[२] मोक्षपाहुड, गाथा ५०

यही भाव पचास्तिकाय की १५४वी गाथा मे निर्दिष्ट करते हुए लिखते हैं –

"जीवसहाव णाणं अप्पडिहददंसण अणण्णामयं।
चरियं च तुसु णियदं अत्थित्तमणिंदिय भणियं॥

जीव का स्वभाव और ज्ञान अप्रतिहित दर्शन है जो कि अनन्यमय है, उन दोनो मे नियत अस्तित्व अनिंदित चारित्र कहा गया है।"

आचार्य कुन्दकुन्द मूलत. चारित्र के दो भेद करते हैं[1] –

दोनो भेदो के नाम और लक्षण स्पष्ट करते हुए आचार्य चारित्रपाहुड गाथा ५ मे लिखते है –

"जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढगं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि॥

जिनेन्द्र कथित ज्ञान-दर्शन से शुद्ध पहला सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है।"

जिन भगवान का श्रद्धान जब निशकितादि गुणो से विशुद्ध तथा यथार्थज्ञान से युक्त होता है, तब सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है और वह मोक्षस्थान के लिए होता है।[2] सम्यक्त्वाचरण चारित्र में शुद्ध ज्ञानी का सयमाचरण चारित्र ही निर्वाण का कारण है।[3]

सयमाचरण चारित्र के पुन. दो भेद हैं[4] – सागार और निरागार। श्रावक की ११ प्रतिमाएँ तथा बारह व्रत सागार सयमाचरणचारित्र है।[5] तथा पंचन्द्रियो का दमन, ५ व्रत, उनकी २५ भावनायें, ५ समिति, ३ गुप्ति इत्यादिक निरागार – सयमाचरण चारित्र है।[6]

आचार्य कुन्दकुन्द निरागार चारित्र[7], श्रामण्य[8], सयम[9], नैर्ग्रन्थ्य[10], श्रमण[11], शुद्धोपयोग[12], भिक्षु[13], साधु[14], यथाजातरूपधर[15], लिंग[16], मुनि[17] इत्यादि शब्दो को एकार्थ मे ही प्रयुक्त करते हुए यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान से सहित आत्मस्वरूप मे विशेषलीनतारूप चारित्र ही मुनिधर्म है। जैसा कि स्वय उन्होने सयत का लक्षण स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार २४०वी गाथा मे लिखा है –

"पंचसमिदो तिगुत्तो, पचेदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो॥

पाँच समिति युक्त, पाँच इन्द्रियो का सवृतवान, तीन गुप्ति सहित, कषायो का विजयी, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण – श्रमण सयत कहा गया है।"

---

[1] चारित्रपाहुड गाथा ४
[2] चारित्रपाहुड गाथा ८
[3] चारित्रपाहुड गाथा ९
[4] वही गाथा २१
[5] वही गाथा २२-२३
[6] वही गाथा २८
[7] वही गाथा २८,
[8] प्रवचनसार गाथा २०१
[9] प्रवचनसार गाथा २३९
[10] प्रवचनसार गाथा २६९
[11] वही गाथा २०३
[12] वही गाथा २७४
[13] वही गाथा २२०
[14] वही गाथा २३४
[15] वही गाथा २०४
[16] वही गाथा २०७
[17] भावपाहुड गाथा ७३

आचार्य कुन्दकुन्द ने मुनिधर्म का स्वरूप विविध आयामो से स्पष्ट किया है। यथा – भावलिंग (अतरगलिग) – द्रव्यलिंग (बहिरगलिग), सामायिक-छेदोपस्थापना, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, शुद्धोपयोगी (स्वचारित्र) – शुभोपयोगी (परचारित्र) इत्यादि।

द्रव्यलिंग-भावलिंग को प्रकाशित करते हुए आचार्य भावलिंग परक द्रव्यलिंग का औचित्य तथा सार्थक्य सिद्ध करते हुए भावपाहुड़ गाथा ४८ मे लिखते हैं :–

"भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण।।

भाव से ही लिंगी होता है, द्रव्यलिंग से लिगी नही होता, अतः भावलिंग को करो, (भावबिना) द्रव्यलिंग क्या करेगा ? कुछ नही।"

भावलिग पूर्वक द्रव्यलिग की व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए भावपाहुड गाथा ७३ मे लिखते है –

"भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताईं य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।।

पहले मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव से नग्न होता है, पश्चात् जिनाज्ञा-नुसार द्रव्य से मुनिलिग को प्रकट करता है।"

इसीप्रकार का भाव आगे १११वी गाथा मे भी व्यक्त करते हुए आदेश दिया है –

"सेवहि चउविहलिंगं[1] अब्भंतरलिंग सुद्धिभावण्णो।
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाण।।

अंतरग लिंग (भावलिग) की शुद्धि को प्राप्त कर चारप्रकार के बाह्यलिग का सेवन करो, क्योकि स्पष्टतया भावरहितो के बाह्यलिग अकार्य कारी होता है।"

इसीप्रकार लिंगपाहुड गाथा २ मे भावलिंग के प्रति प्रेरित करते हुए लिखते है –

"धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।।

धर्म सहित लिंग होता है, परन्तु लिंग मात्र से धर्म की सज्ञप्ति नही होती, अतः तू भावरूपधर्म को जान, मात्र बाह्यद्रव्य लिंग से क्या होगा ? कुछ भी नही।"

तदुपरान्त द्रव्यलिंग-भावलिग को लक्षित करते हुए प्रवचनसार गाथा २०५ एव २०६ मे लिखते है –

"जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।।
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।।

[1] केशलुन्च, वस्त्रत्याग, स्नानत्याग और पीछी कमण्डलु रखना, ये चार बाह्यलिंग हैं, कुन्दकुन्द भारती, पृ० २७१ की टिप्पणी।
अथवा
यथाजातरूप, केशलुन्च, हिंसादिरहित तथा अप्रतिकर्मवृत्ति, प्रवचनसार, गाथा २०५

जन्मसमय सदृश रूपवान् सिर और दाढी-मूछ के बालो का लोच किया हुआ शुद्ध (अकिंचन) हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित — (श्रमण का बहिरग-द्रव्य) लिंग होता है।

मूर्च्छा और आरभ से रहित, उपयोग और भोग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित — जिनेन्द्रदेव कथित मोक्ष का कारणभूत (श्रामण्य का अन्तरगभाव) लिंग होता है।"

सामायिक और छेदोपस्थापनरूप से मुनिधर्म को वर्णित करते हुए आचार्य प्रवचनसार गाथा २०७ मे लिखते हैं —

"आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिवो होदि सो समणो॥

परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनो लिंगो को ग्रहण करके, उन्हे नमस्कार करके, व्रत सहित क्रिया को सुनकर उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ वह श्रमण होता है।"

उपर्युक्त स्वरूपलीनतारूप सामायिकचारित्र मे स्थिति नही रह पाने पर, छेद की स्थिति मे पुनरुपस्थापन-छेदोपस्थापन चारित्र है। जिसे आचार्य प्रवचनसार २०८ और २०९ गाथा द्वारा निर्देशित करते हैं।

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक, अचेलपना, अस्नान, भूमिशयन, अदतधावन, खडे-खडे भोजन और एकबार आहार।

वास्तव मे श्रमणो के २८ मूलगुण जिनवरो ने कहे है, उनमे प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

इन मूलगुणादि शुभोपयोग को आचार्य व्यवहारचारित्र सज्ञा देते है।

चूंकि छेद होने पर ही उपस्थापन होता है, अत. आचार्य ने छेद, उसके भेद, कारण तथा उवस्थापन के उपाय बहुत विस्तार से वर्णित किये है। वे लिखते हैं —

श्रमण के शयन, आसन (बैठना) स्थान (खडे रहना) गमनादि मे जो अप्रयतचर्या है, वह सदा सतत हिंसा मानी गई है।[1] जीव मरे या जिये अप्रयत्तचर्यावान के (भाव) हिंसा निश्चित है। तथा प्रयत के, समितिवान के बाह्य हिंसा मात्र से बध नही होता[2]। अत. अप्रयत्तचर्यावान् श्रमण षट्कायघातक माना गया है।[3] कायचेष्टा से जीव-बध हो जाने पर बध न भी हो, परन्तु उपाधि से तो बध नियत ही है।[4] यत उपाधि के सद्भाव मे श्रमण के मूर्छा, आरम्भ और असयम होता ही है, यत परद्रव्य मे रत जीव आत्मा का साधन कैसे कर सकता है? नही कर सकता।[5] निरपेक्ष त्याग न होने पर भिक्षु के भावविशुद्धि नही होती है तथा भावविशुद्धि बिना कर्मक्षय सभव नही[6], अत· श्रमणो को सर्व परिग्रह का त्याग ही योग्य है।

[1] प्रवचनसार गाथा २१६, [2] वही गाथा २१७ [3] वही गाथा २१८
[4] वही गाथा २१९ [5] वही गाथा २२१ [6] वही गाथा २२०

परद्रव्य के साथ सबंध हिंसारूप है, अत मुनि आहार में, क्षपण (उपवास मे), आवास (निवासस्थान मे), बिहार मैं, उपधि मे, अन्यश्रमण में अथवा विकथादि मे प्रतिबध नही चाहते[1]। परद्रव्य प्रतिबधमात्र छेद है, अत. आचार्य आदेश देते है कि अधिवास में (आत्मवास या–गुरुसहवास में) अथवा विवास मे (गुरुवों में भिन्न वास मे) रहते हुए सदा (परद्रव्य सम्बन्धी) प्रतिबन्धो का परित्याग कर छेदविहीन होकर श्रामण्य मे विहार करो।[2]

स्वद्रव्यलीनता ही श्रामण्य है, इसको प्रदर्शित करते हुए लिखते है कि जो श्रमण सदा ज्ञानदर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूल गुणो मे प्रयतचर्यावान् है, वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।[3]

छेद स्थिति मे उपस्थान विधि बताते हुए वे लिखते है कि–यदि श्रमण के प्रयतचर्यारूप कायचेष्टा की स्थिति मे छेद हुआ है, तो उसका उपस्थापन आलोचनापूर्वक क्रिया द्वारा स्वय ही कर लेना चाहिए[4], किन्तु यदि श्रमण छेद में उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमत मे व्यवहारकुशल श्रमण के पास जाकर आलोचना करके, वे जैसा उपदेश दे वैसा करना चाहिए।[5]

ममत्व, आरभ तथा असंयम का उत्पादक होने से, भावविशुद्धि की विघातक उपधि का सर्वथा निषेध दर्शित करके आचार्य अशक्यानुष्ठान रूप कुछ उपधि को अनिषिद्ध बताते हुए लिखते हैं कि – अनिदित, असयतजनो से अप्रार्थनीय, मूर्च्छादिदोषजननरहित. अल्प[6] तथा (आहार-नीहारादि के) ग्रहण विसर्जन मे सेवन करते समय जिससे सेवन करने वाले के छेद न हो ऐसी उपधि से सहित, इस लोक मे क्षेत्र-काल को जानकर, इस लोक मे श्रमण भले वर्ते,[7] क्योकि वह अशक्यानुष्ठानरूप होने से अनिषिद्ध है।[8]

उत्सर्ग-अपवाद दृष्टि से मुनिधर्म निरूपित करते हुए आचार्य ने प्रयोगात्मक स्वरूप लक्षणगत कर दोनो की मैत्री स्थापित करते हुए भी उत्सर्ग को ही वस्तुधर्म बताया है। वह इसप्रकार –

यद्यपि जिनवरेन्द्रों ने मोक्षाभिलाषी के "देह परिग्रह है" ऐसा कहकर उसमे भी अप्रतिकर्मत्व (सस्कार रहितपना) कहा है, इससे उनका स्पष्ट आशय लक्षित होता है कि उसके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है? नही हो सकता।[9] तथापि यथानुरूप अपवादरूप मे यथाजातरूप लिंग, गुरु के वचन, सूत्रो का अध्ययन तथा विनयादि उपकरण कहे गये हैं।[10] अत: नि कषायप्रवृत्तश्रमण इहलोक निरपेक्ष तथा परलोक अप्रतिबद्ध होने से युक्ताहार विहारी होता है।[11]

यत: श्रमणों का आहार (युक्ताहार) एकबार, ऊनोदर, यथालब्ध, भिक्षाचरण-परक, दिन मे, रसनिरपेक्ष तथा मधुमांस रहित होता है।[12] तथा देहमात्र जिनके परिग्रह है ऐसे श्रमण ने देह में भी "मेरा नही है" ऐसा समझकर (सस्कारादि) परिकर्म का त्याग

---

[1] प्रवचनसार गाथा २२५ [2] वही गाथा २१३ [3] वही गाथा २१४ [4] वही गाथा २११
[5] वही गाथा २१२ [6] वही गाथा २२३ [7] वही गाथा २२२ [8] वही गाथा २२२
[9] प्रवचनसार गाथा २१४ [10] वही गाथा २२५ [11] वही गाथा २२६ [12] वही गाथा २२९

किया है तथा आत्मशक्ति छिपाये बिना उस शरीर को तपयुक्त किया है[1] उसीप्रकार (श्रद्धा मे) आत्मा एषणारहित है और तत्प्राप्त्यर्थ प्रमत्तचर्या होने से चर्या मे भी एषणा सबधी दोषो से रहित हैं, अत वह युक्ताहार विहार भी तप है और वे श्रमण तद्रूप प्रवर्तते हुए भी अनाहारविहारी ही हैं।[2]

उत्सर्ग-अपवाद मैत्री का औचित्य सिद्ध करते हुये आचार्य लिखते हैं कि यदि श्रमण आहारा-विहार मे देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि को जानकर प्रवर्तता है तो अल्पलेपी होता है,[3] अतः बाल, वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) और ग्लान (व्याधिग्रस्त) श्रमण मूल (भवलिंग शुद्धोपयोग) का छेद जैसे न हो, वैसा अपने योग्य आचरण आचचरो।[4]

शुद्धोपयोगी-शुभोपयोगापेक्षा भेद भी आचार्य ने अत्यन्त स्पष्टतया उल्लिखित किया है।[5]

शुद्धोपयोगी श्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

पदार्थों मे मोह, राग, द्वेषरूप प्रवर्तन से श्रमण बधता है[6] तथा एतत्विरुद्ध निर्मोह, नि राग, निर्द्वेषरूप प्रवर्तन से कर्मयुक्त होता हैं[7] अत. जो मुनि युगपत दर्शनज्ञान-चरित्र मे लीनतापूर्वक एकाग्र होता है, वह ही परिपूर्ण श्रामण्य है।[8]

उक्त मुनि के लिये अन्य की बात तो बहुत दूर, द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तन भी अन्यवश करता है।[9] सयम, तप, सयुक्त होने पर भी नवपदार्थो, तीर्थंकरो के प्रति बुद्धि का आकर्षण, सूत्रो के प्रति रुचिवान-जीव के निर्वाण दूरतर है।[10] परद्रव्य के प्रति चित्तवृत्ति से दुर्गति होती है,[11] ऐसा निश्चय कर मोक्षार्थी जीव सर्वत्र किंचित् भी राग न करता हुआ वीतरागी होकर भवसागर से तरता है[12] अत श्रमण पुण्य-पापाश्रावक परद्रव्य सम्बन्धी रागजन्य स्वचारित्रभ्रष्ट, परचारित्ररूप शुभाशुभभावो का परित्याग कर,[13] ज्ञान दर्शन स्वभाव द्वारा नियतवृत्ति से अपने आप को जानता-देखता हुआ, परद्रव्यात्मक भावो से रहित प्रर्वतित (निजस्वभावभूत) दर्शन-ज्ञान भेदो को अपने से अभेद आचरण करता हुआ स्वचारित्री शुद्धोपयोगी होता है।[14] यही निश्चय चारित्र है।

शुभोपयोगी श्रमणो का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आचार्य लिखते है – अरहन्तादिक मे भक्ति, प्रवचनरत जीवो के प्रति वात्सल्य,[15] श्रमणो के प्रति वन्दन सहित अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति, उनका श्रम दूर करना[16] दर्शन-ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण-पोषण, जिनेन्द्रपूजादि का उपदेश[17]काय-विराधन से रहित (अहिंसक वृत्ति से) चतुर्विधि श्रमणसध का उपकार[18], अल्पलेप स्थिति से साकारानाकारचर्यायुक्त जैनो का निरपेक्षतया अनुकम्पा से उपकार[20], राग, क्षुधा, तृषा, श्रमादि से आक्रान्त श्रमण की

---

[1] प्रवचनसार गाथा २२८ [2] वही गाथा २२७ [3] वही गाथा २३१ [4] वही गाथा २३०
[5] वही गाथा २४५ [6] वही गाथा २४३ [7] वही गाथा २४४ [8] वही गाथा २४२
[9] नियमसार गाथा १४५ [10] पचास्तिकाय गाथा १७० [11] मोक्षपाहुड गाथा १६
[12] पचास्तिकाय गाथा १७२ [13] पचास्तिकाय गाथा १५६-१५७ [14] पचास्तिकाय गाथा १५८-१५६
[15] प्रवचनसार गाथा २४६ [16] प्रवचनसार गाथा २४७ [17] प्रवचनसार गाथा २४८
[18] प्रवचनसार गाथा २४६ [19] प्रवचनसार गाथा २५१ [20] प्रवचनसार गाथा २५२

यथानुरूप यथाशक्ति वैयावृत्ति[1] तन्निमित्तक लौकिकजनो के साथ बातचीत[2] इत्यादि शुभ प्रवृत्तियाँ यद्यपि हीन स्वास्थ्य के कारण श्रमणों के बालादापतित होने से अनिवार है, तथापि वे विपरीत फलरूप[3] मोक्ष कारण न होकर सातात्मक भवप्रदायी[4] तथा आस्रवरूप ही है। वैयावृत्ति प्रवृत्ति के सम्बन्ध में आचार्यो का स्पष्ट मन्तव्य है कि यह श्रमणो के गौण तथा श्रावको के मुख्य रूप से होती है।[5] अत. वैयावृत्ति निमित्तक अनिवार लौकिकजन सम्भाषण के सिवाय (अन्य प्रसगों में) लौकिक जनसम्पर्क को जो नही छोडता है वह निश्चित सूत्रार्थपदवान् कषायशमक तथा तपस्वी होने पर भी संयत नही है।[6] लौकिक जन को परिभाषित करते हुए वे लिखते है –

णिग्गथ पव्वइदो, वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगोत्ति भणिदो, संजमतवसंपजुत्तो वि ।।

निर्ग्रन्थ-दीक्षित सयम तप सयुक्त होने पर भी यदि वह ऐहिक कार्यो सहित वर्तता है तो लौकिकजन कहा गया है। प्रवचनसार, गाथा २६९।

इसलिए सम्मतिपरक आदेश देते हुए आचार्य लिखते है – लौकिकजन के सम्पर्क से सयत भी असयत होता है। अत. हे श्रमण! यदि दु ख से परिमोक्ष चाहते हो तो सदा समगुणी अथवा अधिक गुणी श्रमणो के साथ निवास करो।[7]

श्रमण एकाग्रगत होते है और एकाग्रता पदार्थो के निश्चय से होती है, पदार्थो का निश्चय आगम से होता है, अत आगमचेष्टा ही श्रेष्ठ है – इसप्रकार प्रवचनसार २३२वी गाथा मे आगम-सेवन की अत्यावश्यकता को व्यक्त करते हुए आगे लिखते है–

साधु की तो आगम ही आँख है।[8] आगमनेत्र से शून्य (अध) सयमी कैसे हो सकता है? (सयम के बिना) असयत श्रमण कैसे हो सकता है?[9] आगमज्ञानी (आत्मज्ञानी) ससार मे जन्म-नाशक है, ससारस्थ होकर भी (स्व) ससार नष्ट कर देता है।[4] अत. आगमव्यापार ही श्रेष्ठ है।

इसप्रकार शत्रु-मित्र, सुख-दु ख, निन्दा-प्रशसा, लोष्ट-कचन, जीवन-मरण मे सम-वृत्ति श्रमण[10] यथार्थतया पदों का तथा अर्थों का निश्चय करनेवाले होने से प्रशान्तात्मा है।[11] अयथाचारवियुक्त सम्पूर्ण श्रामण्यवान् जीव, कर्मफल से रहित होकर इस ससार मे चिरकाल तक नही रहते।[10]

ऐसा मोक्ष कारणभूत, परनिरपेक्ष, एकाग्रतारूप श्रामण्यपद निम्नलिखित योग्य-तावान जीव ही प्राप्त कर सकता है –

---

[1] प्रवचनसार गाथा २५३
[2] प्रवचनसार गाथा २५५
[3] प्रवचनसार गाथा २५६
[4] प्रवचनसार गाथा २४५
[5] प्रवचनसार गाथा २५४
[6] प्रवचनसार गाथा २७०
[7] वही गाथा २७०
[8] वही गाथा २३६
[8] बोधपाहुड गाथा ३-४
[9] प्रवचनसार गाथा २४१
[10] प्रवचनसार गाथा २४१
[11] प्रवचनसार गाथा २७२

ज्ञानदर्शनस्वभावी, शाश्वत, एक आत्मा ही मेरा है, शेष सब सयोग लक्षणभाव मुझसे से बाह्य है[1] जीवादि बाह्य तत्व हेय है, कर्मोपाधिजन्य गुण-पर्यायो से व्यतिरिक्त आत्मा ही आत्मा को उपादेय है ।[2] मै शरीर, मन, वाणी नही हूँ,[3] मैं शुद्ध, निर्मम, ज्ञानदर्शन परिपूर्ण हूँ, उसमें लीनता से ही सम्पूर्ण आस्रवो का क्षय होता है,[4] अरूपी ज्ञानदर्शन स्वभाववान होने से, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा कुछ भी नही है ।[5]

इसप्रकार मैं दूसरो का नही हूँ, दूसरे मेरे नही है, इस लोक मे पर मेरा कुछ भी नही है, ऐसा नियत श्रद्धा-ज्ञानवान होकर[6] श्रामण्यार्थी बन्धुवर्ग से पूछकर, गुरुवर्ग तथा स्त्री-पुत्रो से मुक्त होता हुआ, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, और वीर्याचार को अगीकार करके, [7] गुणाढ्य, कुलरूपवय-विशिष्ट श्रमणो को अति इष्ट श्रमणगणी को "मुझे स्वीकार करो" कहकर प्रणत होता हुआ, अनुगृहीत होकर [8] यथाजातरूप श्रामण्य को प्रकट करता है ।

श्रामण्य प्रकट कर परिपूर्ण श्रामण्य प्राप्ति के लिए पूर्व वर्णित मुनिधर्मो रूप प्रवर्तन करता हुआ, सूनाघर, वृक्षमूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशानभूमि, पर्वतीय गुफा, पर्वतीय शिखर, भयानक वन, वस्तिका, सिद्धक्षेत्र, जिनमदिरादि मे [9] निरपेक्ष वृत्ति से रहता हुआ निरन्तर ध्यानाध्यान द्वारा परिपूर्ण स्वास्थ्यरूप एकाग्रता – "आत्मलीनता से शीघ्र ही शाश्वत सुख को प्रकट करता है ।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने पचपरमागमो मे शाश्वत सुख के कारणभूत मुनिधर्म को हस्तामलकवत् हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है । सिद्धसुख के कारणभूत परिपूर्ण पूर्ण श्रामण्य प्रगट करने की भावना व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते है कि –

"वदमि तवसावण्णा, सील च गुण च बंभचेरं च ।
सिद्धिगमणं च तेसिं, सम्मत्तेण सुद्ध भावेण ।।

मैं उन तपस्वी-साधुओ को, उनके शीतल, (मूलोत्तर) गुण, ब्रह्मचर्य और सिद्धिगमन को सम्यक्त्वसहित शुद्धभाव से वन्दना करता हूँ ।"

"दर्शनपाहुड" गाथा २८ के इस नमस्कारपरक स्वर मे स्वयोग्यतानुरूप स्वर मिलाकर एकाग्रगत श्रमणो के पाद-पकजो मे, अतीन्द्रियसुख की भावना से मैं कोटिश वन्दन करती हूँ । ☐

लेखिका-परिचय.–उम्र · ३६ वर्ष । शिक्षा एम. ए (सस्कृत) । अभिरुचि : आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक विषयों का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं न्याय व सिद्धान्त के शिक्षण कार्य में वैशिष्ट्य । सम्पर्क-सूत्र : ए-४, बापूनगर, जयपुर–३०२०१५

---

[1] नियमसार गाथा १०२ [2] नियमसार गाथा ३८ [3] प्रवचनसार गाथा १६०
[4] समयसार गाथा ७३ [5] समयसार गाथा ३८ [6] प्रवचनसार गाथा २०४
[7] प्रवचनसार गाथा २०२ [8] वही गाथा २३० [9] बोधपाहुड गाथा ४२-४३
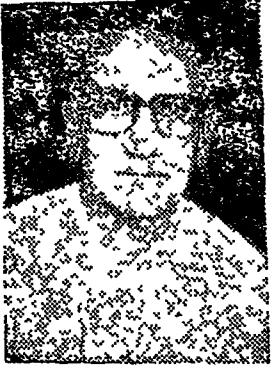
भगवान बनने का उपाय : आचार्य कुन्दकुन्द

— पण्डित श्री नेमीचन्दजी पाटनी

□

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रथ प्रवचनसार के ज्ञानतत्व प्रज्ञापन की गाथा ८२ मे कहा है कि :—

"सव्वे वि य अरहता तेरा विधारोरा खविदकम्मसा ।
किच्चा तधोवदेस रिगव्वादा ते रगमो तेसि ।।८२।।

सभी अरहत भगवान उसी विधि से कर्मांशो का क्षय करके तथा उसी प्रकार से उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए है, उन्हे नमस्कार हो ।"

उपर्युक्त गाथा मे "तेरा विधारोरा" के द्वारा जिस विधि की ओर सकेत किया गया है, उसी विधि से कर्मांशो का क्षय करके सभी अरहत बने है, मात्र इतना ही नही, उस विधि के ऊपर इतना जोर देकर कहा है कि सभी अरहतो ने तथा अपरवर्ती आचार्यो ने भी उसी विधि का उपदेश भी दिया है । साथ ही इस गाथा की टीका लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी उस विधि के ऊपर बहुत जोर दिया है । वे कहते है कि :—

"अतीत काल मे क्रमश: हुए समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तर का असभव होने से जिसमे द्वैत संभव नही है, ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशो का क्षय स्वय अनुभव करके………" ।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि "जिस विधि के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इस गाथा मे सकेत किया है, आचार्य अमृतचद्र ने भी अपनी टीका मे उसी विधि को महत्व दिया है, इससे सिद्ध होता है कि आचार्य श्री ने "जिस विधि की ओर सकेत किया है, वह विधि ही एक मात्र अरहत बनने का उपाय है । अत जिस पात्र जीव को अरहत बनने की जिज्ञासा जागृत हुई है उसको तो "वह विधि" पूर्णरूप से समझकर, निर्णय मे लाकर, श्रद्धा मे दृढ़ता के साथ बैठाकर सब तरफ से अपने आपको समेटकर, मात्र एक उस ही मार्ग पर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ एकमेक हो जाना चाहिए, यही एक मात्र ससार का अभाव करके भगवान बनने का उपाय है ।

---

[1] "यत: खल्वतीतकालानुभूत क्रमप्रवृत्तय: समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकरा प्रकारान्तरस्य सभावासभावितद्वैतनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपण कर्मांशाना स्वयमनुभूय ।".

आचार्य अमृतचद्र इसी गाथा की टीका मे आगे कहते हैं कि "इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नही है ऐसा निश्चित होता है। अधिक प्रलाप से बस होओ। मेरी मति व्यवस्थित हो गई है।"

उपर्युक्त कथन के माध्यम से सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि "वह विधि क्या है?

पूर्वोक्त गाथा ८२ मे जिस विधि की ओर आचार्यदेव ने सकेत किया है वह विधि निम्नलिखित गाथाओ मे बताई है –

जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खुल जादि तस्स लयं ॥८०॥
जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमण्णो सम्भ।
जहदि जदि रागदोसे सो अण्णाण लहदि सुद्ध ॥८१॥ प्रवचनसार

उपर्युक्त गाथा ८० मे तो दर्शनमोह अर्थात् मिथ्यात्व को नाश कर सम्यक्त्व प्राप्त करने का उपाय बताया है एव गाथा ८१ मे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर चारित्र मोह का नाश कर साक्षात् भगवान बनने का उपाय बताया है।

इसप्रकार उपर्युक्त दोनो गाथाओ के द्वारा जो भगवान बनने के लिए पूर्ण पुरुषार्थपूर्वक उद्यत हुआ है, उस के लिए पूरी विधि वर्णन कर दी है। गाथा ८१ मे कहा है कि "जीवो ववगदमोहा" अर्थात् जिस जीव ने गाथा न ८० के मर्म को समझकर, अवधारण कर, उस रूप परिणमन करके दर्शन मोह का नाश कर लिया है, वह जीव ही गाथा न ८१ के अनुसार परिणमन करके भगवान बन सकेगा। तात्पर्य यह है कि जिसको भगवान बनना है उसको सर्वप्रथम गाथा ८० मे बताई विधि के अनुसार अपनी सम्यक् श्रद्धा द्वारा दर्शन मोह का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना गाथा ८१ में बताया गया मार्ग कार्यकारी नही हो सकता।

उपर्युक्त मर्म को समझकर अपनी मति (मान्यता) को व्यवस्थित करके पूर्ण कटिबद्ध होकर गाथा ८० मे बताई गई विधि को रुचिपूर्वक गभीरता से समझना चाहिए।

गाथा ८० मे कहा गया है कि – "जो अरहत को द्रव्यपने, गुणपने, पर्यायपने जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह (मिथ्यात्व) अवश्य लय (नाश) को प्राप्त होता है।"

इस कथन के द्वारा आचार्यदेव ने स्पष्ट रूप से उस उपाय को तीन भागो मे विभक्त कर दिया है – (१) अरहत को द्रव्य, गुण, पर्यायपने जानना (२) उसके द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप को जानना, (३) उसके फलस्वरूप मोह अर्थात् दर्शनमोह का नाश मात्र ही नही बल्कि अवश्य ही नाश को प्राप्त हो जाना। अत हमको भी तीन भागो मे बाँटकर इस उपाय को समझना चाहिए।

भगवान अमृतचंद्राचार्य ने भी इस गाथा की टीका द्वारा स्पष्ट घोषणा की है कि "जो वास्तव मे अरहत को द्रव्य गुण और पर्याय पने से जानता हैं, वह वास्तव मे अपने आत्मा को जानता है।" साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि – अरहत के जानने से अपनी आत्मा को जान लिया जाता है, क्योकि दोनो मे निश्चय से अन्तर नही है।

यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे अरहत परमात्मा के स्वरूप को पहचानने की विधि क्याहै ?

उत्तर मे आचार्य कहते है अरहत का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति, परिस्पष्ट सर्वप्रकार से स्पष्ट है, इसलिए उस का ज्ञान होने पर (सपूर्ण) आत्मा का ज्ञान होता है। एतदर्थ सर्वप्रथम अरहत को द्रव्य, गुण, पर्यायपने से जानना जरूरी है।

अरहंत का स्वरूप जानने का उपाय

भगवान अरहत का स्वरूप समझने के लिए आचार्य महाराज ने "अन्तिम ताव को प्राप्त सोने का दृष्टान्त दिया है।" यहाँ विचारणीय यह है कि – अन्तिम ताव को प्राप्त सोने का दृष्टान्त क्यो दिया ? इसका कारण यह है कि जिसने कभी सोना देखा ही न हो और वह सोना परखने की पहिचान सीखना चाहता हो, तो ऐसे व्यक्ति को असली अन्तिम ताव को प्राप्त सोना ही सोने के रूप मे समझाया जावेगा। सोने मे इसप्रकार का पीलापन, चिकनापन, भारीपन, नरमपना आदि अनेक विशेपताएँ (गुण, क्वालिटी) होती हैं। ताबा, लोहा, चादी, पीतल आदि अन्य धातुओ मे वे विशेषताए नही पाई जाती जो सोने में होती है। इस प्रकार अनेक-अनेक धातुओ मे से सोने को भिन्न रूप से पहचान लिया जाता है।

यहाँ पुन· प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वे धातुएँ उस सोने के साथ मिश्रित होकर एक डली के रूप मे प्रस्तुत होती है, तब सोने की पहचान कैसे की जावे ?

इस प्रश्न का उत्तर भी उक्त गाथा में ही दे चुके है "जिसने असली सोने की डली मे प्रकट रूप से सोने मे मौजूद उन अनेक गुणो (पीलापन, चिकनापन, भारीपन, कड़ापन आदि) या विशेषताओ को समक्ष रखा होगा, उसे असली सोने के गुणो की प्रगटता और मिश्रित सोने के गुणो की प्रगटता मे अन्तर ख्याल मे आ जाता है। ऐसी स्थिति मे भी अर्थात् उस मिश्रित सोने की प्रगट पर्याय मे भी जो व्यक्ति असली सोने की पर्याय को ही सोने के रूप मे अपने ज्ञान में ढूंढ निकलता है, वह व्यक्ति सोने को पहचानने वाला माना जाता है तथा उस मिश्रित सोने की डली में भी असली सोना कितना है यह जानने-पहिचानने से वह ठगाता नहीं है। इसी दृष्टान्त के माध्यम से हमे आत्मा को समझना चाहिए। जिसप्रकार शुद्ध सोने की डली, जिसमे किंचित् मात्र भी मिश्रण न हो, वह ही असली सोना है, उसकी पहचान से ही सोना किसी भी दशा, हालत, पर्याय मे हो, सहज ही पहचान लिया जाता है। उसी प्रकार आत्मा को समझने के लिए भी हमको शुद्ध स्वर्ण के स्थान पर शुद्ध आत्मा को जिसमे, किंचित्मात्र भी किसी भी प्रकार का मिश्रण (अशुद्धि) हो उस आत्मा के स्वरूप को उपर्युक्त सोने के दृष्टान्त के माध्यम से समझना पड़ेगा।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा शुद्धात्मा कौन है ? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप आचार्यश्री ने इस गाथा मे कहा है, कि जो अरहंत भगवान को द्रव्य गुण

पर्याय से जानता है, वही वास्तव मे अपनी आत्मा को जनता है, क्योकि दोनो मे निश्चिय से अतर नही है ?

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अरहत का आत्मा ही एक मात्र शुद्ध आत्मा है, अत' भगवान अरहत को ही द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से समझना पड़ेगा।

अब भगवान अरहत का स्वरूप समझने के लिए हमको एक मात्र आगम ही शरण है, अतः आगम के कथन को मुख्य वनाकर उसे युक्ति एव अनुमान के द्वारा समझकर, यथार्थ दृढ श्रद्धा प्रगट करना चाहिए। इससे स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रगट होकर, उस श्रद्धा की सम्यक्ता प्रगट होती है, उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। अतः आगमानुसार अरहत का स्वरूप क्या है – सर्वप्रथभ यह समझना है :–

आचार्य अकलकदेव ने अकलक स्तोत्र के मगलाचरण मे कहा है कि –

त्रैलोक्य सकल त्रिकाल विषय सालोकमालोकित,
साक्षाद्येनयथा स्वय करतले, रेखा त्रभसागुलीम्।
रागद्वेषमयाभयान्तकदशा, लोलत्व लोभादयो,
नालयत्पद लघनाय स, महादेवो मयावन्दते ॥

आचार्य समन्तभद्र ने भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार के मगलाचरण मे कहा है

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने,
सालोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायते ॥

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ के मगलाचरण मे कहा है –

तज्जयति परज्योति सम समस्तैरनतपर्यायै,
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिकायत्र ॥

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि दौलतरामजी ने भी स्तुति के प्रारम्भ मे कहा है कि –

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवत नित, अरि-रज-रहस विहीन ॥

इसके अतिरिक्त भी अनेक आचार्यो एव विद्वानो ने भगवान अरहत के स्वरूप को उपर्युक्त प्रकार से वर्णन करते हुए मूलत अस्ति-नास्ति के रूप मे दो प्रकार से कथन किया है, अर्थात् अरहत मे किन-किन विभावो या विकारो का अभाव होकर क्या-क्या गुण प्रगट हुए हैं :–

भगवान अरहत तीन लोक के समस्त प्रत्यक्ष परोक्ष द्रव्यो को उनकी त्रिकालवर्ती भूत, वर्तमान एव भविष्य काल की सकल पर्यायो को (हालतो, अवस्थाओ को) दर्पण के समान एक साथ जानते हैं। फलत. कुछ जानने को बाकी ही नही रहा। जब कुछ जानने को रहा ही नही तो उपयोग बाहर की ओर जाता ही नही अत. उपयोग की दौडधूप सबधी आकुलता समाप्त हो जाने से वे परम सुखी है। तथा दूसरी बात यह कही है कि

उनको किसी प्रकार की अशुद्धि, जो हम संसारी जीवो के प्रत्यक्ष अनुभव मे आती है, नही होती। उपर्युक्त आगम कथन को हमे सर्वप्रथम युक्ति के माध्यम से अनुमान प्रमाण द्वारा हृदयगम करना चाहिए।

सर्वज्ञता

सर्वज्ञ सिद्धि के विषय मे एक बात तो निश्चय रूप से सबके ज्ञान मे स्पष्ट ज्ञात होती ही है कि ज्ञान गुण आत्मा का ही है, आत्मा में ही रहता है, कभी कही भी ऐसी दशा नही मिलेगी जहाँ पर आत्मा हो और उस आत्मा मे ज्ञान न हो तथा ऐसी भी कोई स्थिति नही मिलेगी जब ज्ञान तो हो और उसका स्वामी कोई आत्मा न हो अर्थात् जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा और जहाँ-जहाँ आत्मा वहाँ-वहाँ ज्ञान होगा ही होगा। अत· तर्क एवं युक्ति से सिद्ध हुआ कि अरहतरूप तो आत्मद्रव्य है और उसमे ज्ञानगुण है, जो द्रव्य से कभी अलग नही हो सकता। और उस गुण के माध्यम से ही आत्मद्रव्य को पहिचाना जा सकता है। अत. ज्ञानगुण ही आत्मा का लक्षण है। इसके द्वारा आत्मा अन्य द्रव्यो से भिन्न स्पष्ट समझ मे आता है।

अब प्रश्न होता है कि सभी आत्माओ मे ज्ञानगुण होने पर भी त्रिलोक और त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थो को जाने, ऐसा क्यो है ? इस विषय को अपन एक दृष्टान्त के माध्यम से समझेगे। जैसे कि एक अध्यापक के पास चार विद्यार्थी पढ़ते है, वह अध्यापक उन चारों को बिना भेदभाव रखे एकसा पढाता है, उन चारो मे एक विद्यार्थी ऐसा है कि अध्यापक द्वारा दिया गया एक पाठ चार दिन मे याद करके सुनाता है, दूसरा एक दिन मे ही सुना देता है, तीसरा एक घण्टे मे तथा चौथा पाँच मिनट मे ही उसी पाठ को सुना देता है। इस पर विचार करना चाहिए कि ऐसा क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है कि ज्ञान के क्षयोपशम की तारतम्यता का अतर ही एकमात्र कारण है। इस दृष्टान्त द्वारा एक महान् सिद्धान्त प्रस्फुटित होता है कि ज्ञान तो चारो विद्यार्थियो के पास है लेकिन जो उस एक ही पाठ को मात्र पाँच मिनट मे ही तैयार करके सुना देता है वह ज्यादा बुद्धिशाली है, उसके विशेष ज्ञान का क्षयोपशम है, क्योकि उसने उतने ही कार्य को अन्य की अपेक्षा कम समय मे सम्पन्न कर लिया और जिसने उस ही पाठ को चार दिन मे याद किया वह कम बुद्धिवाला, कम क्षयोपशम वाला है, क्योकि उसने उतने ही कार्य को पूर्ण करने मे ज्यादा समय लगाया।

जब यह ज्ञानगुण की हीनाधिकता की तारतम्यता प्रत्यक्ष देखने में आती है, तब कोई व्यक्ति ऐसा भी हो सकता है, जो मात्र पाँच ही मिनट मे दो पाठ को याद कर लेवे, इस ही प्रकार उससे भी ज्यादा पाठो को भी उतने ही काल मे याद कर लेवे आदि-आदि। इस दृष्टान्त के माध्यम से यह बात स्पष्टतया अनुमान द्वारा सिद्ध होती है कि "यही धारा बढते-बढते कोई ऐसा भी व्यक्ति निश्चित रूप से होना ही चाहिए, जिसको जानने योग्य जितने जो कुछ भी पदार्थ हो, उन सबको भी समय के छोटे से छोटे भाग में ही पूरा-पूरा जान लेवे" मात्र ऐसे महान् आत्मा के ज्ञान को ही पूर्ण कहा जा सकता है।"

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि काल का छोटे से छोटा भाग जिसका फिर कोई भाग नही हो सके, ऐसे काल के भाग को शास्त्रो मे समय कहा गया है। ऐसे एक समय मात्र मे हो जितने भी स्व सहित जानने योग्य पदार्थ हैं, उन सबको जान लेवे, उस ज्ञान को पर्याय को ही सर्वज्ञ कहा जा सकता है। क्योकि एक ओर तो स्व-सहित त्रिलोकवर्ती एव त्रिकालवर्ती समस्त जानने योग्य पदार्थ-ज्ञेय उस ज्ञान मे आ गये तथा दूसरी ओर वह पूर्ण ज्ञान, जो एक समय मे ही स्व-सहित सब ज्ञेयो को जान लेवे, ऐसी ज्ञान की पर्याय को पूर्ण क्यो नही कहा जावेगा ? कहा ही जावेगा। अत सिद्ध हुआ कि आत्मा जो कोई कैसी भी दशा मे हो सबका स्वभाव तो सर्वज्ञ स्वरूप ही है। आत्मा मे ही ज्ञान है और प्रत्यक्ष अनुभव मे भी आता है कि आत्मा मे ही जानने की प्रक्रिया हो रही है और जानने की तारतम्यता है तो उसकी पराकाष्ठा न हो, अत तर्क युक्ति, अनुमान, आगम एव स्वानुभव से सिद्ध होता है कि आत्मा का स्वभाव अर्थात् ज्ञान का स्वभाव तो "सर्वज्ञता" ही है और वह सर्वज्ञता जिनमे हो वही भगवान है। भगवान अरहत का आत्मा पूर्ण होने से उनके ज्ञानगुण मे ही पूर्णता है, अतः सिद्ध हुआ कि भगवान अरहत को गुणपने से जानने का अर्थ हुआ कि कोई भी आत्मा हो, सबका स्वभाव तो अरहत जैसा सर्वज्ञ स्वभावी है।

इस पर पुन आशका होती है कि प्राणीमात्र को तो एकमात्र सुख ही चाहिए। कहा भी है —"जे त्रिभुवन मे जीव अनन्त, सुख चाहे दु.खतै भयवत"

अत. सुखी होने का क्या उपाय है ? आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञता रूप है, यह जानने पर भी "सर्वज्ञ पूर्ण सुखी है" ऐसा कैसे माना जा सकता है ? इसलिये सुख क्या है, सुख का उपाय क्या है और अरहंत भगवान पूर्ण सुखी कैसे हैं, यह बात भी समझना आवश्यक है।

सुख का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प. दौलतरामजी कहते है— "आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।" अर्थात् आत्मा का सुख निराकुलता ही है। जगत पाँच इन्द्रियो के विषयसामग्री की प्राप्ति को सुख मानता है। यदि इसका गम्भीरता से विश्लेषण करे तो यही सिद्ध होता है कि आकुलता दु ख स्वरूप है और आकुलता की कमी ही सुख है। अज्ञानी प्राणो भी ऐसा स्वीकार करते हैं। अज्ञानी प्राणी की ऐसी मान्यता है कि मेरा सुख अन्य वस्तुओ मे से आवेगा, अत उसे जब-जब पाँचो इन्द्रियो के विषयो की सामग्री को प्राप्त करने की एव उनको भोगने की तीव्र इच्छा रूप आकुलता होती है, और पुण्योदय से किसी सामग्री की प्राप्ति हो जाती है तव-तव उसे वह इच्छारूप आकुलता शान्त होती हुई दिखाई देती है, तो वह उस समय आकुलता की कमी को ही सुख मान लेता है। इसी प्रकार उसको भोगने सवधी इच्छा रूपी आकुलता उत्पन्न हुई और वह सयोग वन गया तो वह आकुलता भी कम हुई, अत' उससे भी अपने को सुखी मानता हैं। इसी प्रकार दूसरी—तीसरी आदि अनेक इच्छाओ के उत्पन्न होते रहने से एव उनकी पूर्ति होने से अपने को वारम्वार सुखी होना मानता रहता है, यही क्रम निरन्तर

चलते रहने से वह आकुलित हो-हो होकर दु:खी बना रहता है। साथ ही यह भी अनुभव में आता है कि संयोग नही मिलने की स्थिति में भी किसी भी कारणवश अगर इच्छा ही समाप्त हो जावे तो तत्संबंधी जो आकुलता थी, वह भी समाप्त हो जाती है और वह अपने आप को सुखी अनुभव करने लगता है।

निष्कर्ष यह निकला कि आकुलता की उत्पत्ति ही दु:ख है और आकुलता का अभाव ही सुख है। अत: पूर्ण सुखी आत्मा वह ही हो सकता है, जिसमे किंचितमात्र भी आकुलता का अंश न हो। यहाँ समझना है कि अरहत भगवान अनन्त सुखी (पूर्णसुखी) कैसे है ? अत: इस विषय को आगम से जानकर, तर्क, युक्ति, एव अनुमान द्वारा दृढ करके स्वानुभव के द्वारा निश्चय करके पक्का श्रद्धान करना चाहिये।

हम अगर गहराई से विचार करें तो हमको अपने आप मे ही इस आकुलता की कमी-अधिकता की तारतम्यता अनुभव मे आती है और वह आकुलता ज्यादा तव होती है जव हमारी इच्छाओं मे भी तीव्रता अर्थात् उतावलापन ज्यादा बढ जाता है, तथा उस समय गभीरता से विचार करें तो हम अपने आप को उस समय तीव्र दु ख अनुभव भी करते हैं। इसके विपरीत यह भी अनुभव मे आता है कि जव इच्छाओं की उग्रता नही होती तव हम अपने आप को ज्यादा आकुलित नही होने से सुखी भी अनुभव करने लगते है। इसमे दो बाते सिद्ध होती हैं कि इच्छाओं का उत्पन्न नही होना ही सुख है तथा वर्तमान मे ससारी प्राणी की आकुलता की तारतम्यता ही इस बात को सिद्ध करती है कि इस तारतम्यता की पराकाष्ठा भी होना ही चाहिए। अत: कोई व्यक्ति निश्चित रूप से ऐसा होना चाहिए, जिसको किंचित्मात्र भी इच्छा नही होने कारण किंचित्मात्र भी आकुलता नही हो अर्थात् पूर्ण सुखी हो, ऐसा आत्मा एक अरहत परआत्मा ही है। अत: अरहत भगवान पूर्ण सुखी हैं यह आगम, युक्ति, अनुमान एव अनुभव मे भी सिद्ध है।

उपर्युक्त कथन के बाद एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा रह जाता है कि यद्यपि अरहत परमात्मा इच्छाओं के अभाव के कारण पूर्ण सुखी है, लेकिन अरहंत को इच्छा होती ही नही ऐसा कैसे माना जावे ?

इसके लिए हमको इस बात पर विचार करना चाहिए कि इच्छाओ के उत्पन्न होने के कारण क्या हैं ? तथा ये कारण अरहत में संभव है या नहीं ? इस विषय का विश्लेषण करने पर स्पष्ट ज्ञान में आता है कि इच्छा उत्पन्न होने के तीन कारण है। (१) जिसको नही जाना हो उसको जानने की इच्छा, (२) अन्य वस्तु को करने या प्राप्त करने की (कर्तापने की) इच्छा, (३) प्राप्त वस्तु को भोगने की (भोक्तापने की) इच्छा। यदि हम अपनी इच्छाओं का वर्गीकरण करें तो हमको अपने स्वयं के अनुभव के द्वारा यह बात स्पष्ट समझ मे आ जावेगी। अब विचारणीय यह है कि ये इच्छाये अरहत मे क्यो नही हैं ?

भगवान् अरहत सर्वज्ञ होने से एक ही समय में स्वसहित सब कुछ (जो भी जानने योग्य है) उसे जान लेते हैं, जानने को कुछ बाकी ही नही रहा, इस कारण अरहंत को

जानने सम्बन्धी इच्छा उत्पन्न हो ही नही सकती। अत' तत्सबधी आकुलता के अभाव के कारण भी अरहत पूर्ण सुखी है।

जगत के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्" होने से सभी अपनी-अपनी गुण-पर्यायो मे ही सत् रूप से निरन्तर विराजमान हैं। स्वय अपने आप मे सत् है, अत कोई भी जगत का पदार्थ जो अपने आप मे सत् है, वह अपने स्वयं के प्रदेशो को छोडकर दूसरे के प्रदेशों मे कैसे जावे ? जा ही नही सकता। अन्य द्रव्य, चाहे वह अन्य पदार्थ को प्राप्त करने का या उसमे कुछ भी करने-धरने का, विकल्प (भाव) करता रहे, लेकिन उस द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य मे कुछ भी कर सकने की ताकत ही नही है, परन्तु जगत के अज्ञानी प्राणी को ऐसा विश्वास नही होने के कारण निरन्तर पर पदार्थो को प्राप्त करने अथवा उनमे कुछ भी हेर-फेर करने सबधी आकुलता उत्पन्न होती रहती है। भगवान अरहत को इस प्रकार के झूठे विश्वास का अभाव होने के कारण तत्सबधी इच्छा उत्पन्न नही होती, और इच्छा का अभाव होने के कारण तत्सबधी आकुलता उत्पन्न नही होती, अत' उनके इच्छा एव इच्छा जन्य आकुलता का अभाव होने के कारण अरहत भगवान पूर्ण सुखी हैं।

जगत के सभी पदार्थ "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" हैं, स्वय अपने आप मे परिणमनशील है, क्षेत्र से क्षेत्रान्तर भी अपने आपके स्वतन्त्र परिणमन से करते हैं, इस कारण द्रव्य स्वतत्र परिणमन करता हुआ आत्मा के पास पहुँच जाता है और वह आत्मा भी अपने स्वतत्र परिणमन से उस वस्तु को अपने आप मे प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ पूर्व पुण्योदय से उसे प्राप्त कर लेता है। ऐसा दोनो का सहज योग बन जाता है। ऐसी स्थिति मे जगत का अज्ञानी प्राणी ऐसा मानने लगता है कि मेरी इच्छा के कारण ये पदार्थ मैंने प्राप्त किये है, अत तीव्र गृद्धता के कारण उसके भोगने को झपट्टे मारता है और कदाचित् पापोदय से नही भोग पाता तो दु खरूप आकुलता का वेदन करता है और कदाचित् पुण्योदय से भोग भी लेता है तो सातारूप आकुलता एव अन्य प्रकार से भोगने के लिए दु खरूप आकुलता ही का वेदन करता है। इसप्रकार सारा मनुष्य जीवन ही इस प्रकार की आकुलताएँ करते-करते खो देता है। भगवान अरहत मे तो अब सभी द्रव्यो को प्राप्त करने सबधी आकुलता का ही अभाव है। परद्रव्य के भोगने सबधी मिथ्या मान्यता का अभाव तो है ही, इस कारण तत्सबधी आकुलता का भी अभाव है।

अत भगवान अरहत को किसी भी प्रकार की आकुलता उत्पन्न होना ही असभव होने के कारण वे परम सुखी हैं। उनको जानने योग्य कुछ बाकी नही रह जाने के कारण जानने सबधी इच्छा का भी अभाव है तथा परपदार्थ सब स्वय सत् होने के कारण तथा स्वय भी अपने आपमे सत् होने के कारण, साथ ही अपने आप मे अनत गुणो रूपी सपदा से भरपूर होने से कुछ भी प्राप्त करने को रहा ही नही, जिसको प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो, अपने आप मे परिपूर्ण होने से परमसुखी हैं। जानने योग्य भी सब कुछ जान लेने के कारण किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न ही नही होती। अत. उन्हे सब प्रकार से करने अथवा भोगने सबधी आकुलता उत्पन्न ही नही होती। अत वे सब प्रकार से पूर्ण सुखी हैं। ऐसा आगम, तर्क, युक्ति, अनुमान एव अनुभव के द्वारा सिद्ध होता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अरहंत मे ज्ञान की पूर्णता, सुख की पराकाष्ठा (पूर्णता) एवं इसीप्रकार अन्य अनत गुण, और शक्तियाँ, परिपूर्णता को प्राप्त होकर प्रगटरूप से विद्यमान है। यहाँ उनमें से उदाहरण स्वरूप जिस तरह ज्ञान और सुख दो गुणों के माध्यम से आत्मस्वरूप को समझाया गया है, उसी तरह सभी गुणो के माध्यम से समझना चाहिए।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्रवचनसारग्रन्थ मे ज्ञान और सुख को मुख्य करके आत्मा के स्वरूप को ज्ञानाधिकार मे समझाया है एव श्री समयसार ग्रन्थ के अन्त मे परिशिष्ट रूप से अमृतचद्राचार्य ने भी ४७ शक्तियो के माध्यम से समझाया है। इस विषय को उक्त ग्रन्थो के माध्यम से विस्तार से समझना चाहिए। तथा यह दृढ श्रद्धा उत्पन्न करना चाहिए कि मेरी आत्मा भी भगवान अरहंत जैसी ही है और इसी श्रद्धा के आधार पर वर्तमान की कमी का अभाव करके यथार्थ मार्ग अवधारण करके भगवान् बनने का यथार्थ पुरुषार्थ करना चाहिये। यही भगवान् बनने का प्रारम्भिक उपाय है। □

लेखक परिचय :– उम्र : ७५ वर्ष। अभिरुचि : आध्यात्मिक ग्रन्थो का अध्ययन-मनन-चिंतन सम्प्रति : अनेक धार्मिक संस्थाओ के उच्च पदों पर आसीन रहते हुए तत्वप्रचार-प्रसार में निस्पृह भाव से कल्पनातीत सक्रियता एवं इस वयोवृद्ध अवस्था मे भी अदम्य उत्साह। साथ ही मर्मज्ञ प्रवचनकार और विद्वान भी। सम्पर्क-सूत्र : मगनमल नेमीचंद पाटनी, बेलनगंज आगरा (यू० पी०)

आचार्य कुन्दकुन्द व अमृतचंद्र का सजीव शब्द ब्रह्म

– (ब्र०) माणिकचन्दजी चँवरे, कारंजा

पुण्यश्लोक "समयःप्राभृत" आचार्य शिरोमणी प्रात.स्मरणीय कुन्दकुन्द भगवान् के ग्रथरत्नो मे प्रभापुज मेरुमणी है। जिसमे स्वरूप-सुन्दर चिद्घन-रूप आत्मतत्त्व की लोकोत्तम प्रभा का पूर्णरूप से साक्षात्कार होता है। दृष्टि सम्पन्न मुमुक्षुओ को आत्मकला से परिपूर्ण यथावत् आत्मदर्शन होता है। १००८ भगवान् वीरप्रभु का परपरा से प्राप्त उपदेश स्वयपूर्ण मणिरूप गाथा-गाथा मे यथावत् अकित है। इसी कारण जो विपय-प्रमाण्य के शुद्धरस से स्वय अत्यंत समृद्ध है। ग्रथातर्गत विषय जीवन के लिए अत्यावश्यक श्वासोश्वास से भी अधिक मात्रा मे अपनी महत्ता रखता है। इस कलिकाल मे मोक्षमार्ग के प्रामाणिक साधको का यह परमभाग्य है कि उनके लिए यह दुर्लभ चितामणि रत्न का प्रकाश आज भी उपलब्ध है।

आचार्यप्रवर अमृतचन्द्रजी के समयप्राभृत का स्वनामधन्य "आत्मख्याति" भाष्य भी गाथारत्नो के लिए रत्नखचित सुवर्ण का कुन्दन बन गया है ग्रथ का गूढ विषय सर्वत्र स्पष्ट प्रतिभासित होता है। आचार्य का जैसा भावो के ऊपर निर्वाध अधिकार है उसी-प्रकार आर्चायश्री की स्वभाव सुन्दर सालकार भाषा भी सर्वत्र भावपूजा के लिए सावधान समर्पित है। विषय के साथ आदि से अन्त तक एकरस एकनिष्ठ है। मानो चिदानन्द प्रभु की अमृतरस से पूर्ण अमृतकुभी के द्वारा अभिषेक करती है। उसे कही किंचित् भी थकान नही है। पद-पद पर भाषा-देवता ने शब्दोरत्नो के द्वारा भावरत्नो की जो अलौकिक पूजा की, गद्य-पद्य मे आत्मप्रभु का जो लोकोत्तम गुणगान किया, वह भी तालबद्ध नृत्य के साथ सुमधुर होने से अतीव मनोहारी हो गया है। अधिक कहा तक कहे, सक्षेप मे यही कह सकते है कि यहाँ शब्दब्रह्म का परब्रह्म के साथ अटूट गाढ आलिंगन है। मानो समर्पित शब्दब्रह्म सजीव हो गया है। और निराकार परब्रह्म साकार हो गया है। अमूर्तिक मूर्तिमान् हो गया है।

ऋद्धि प्राप्त सहस्राक्ष इन्द्र तीर्थंकर भगवान् के दर्शन के लिए हजार नेत्र बनाता है तब सतोष को प्राप्त होता है। परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र की विलक्षण प्रतिभा शब्द-सागर का मथन करके स्वात्म-दर्शन कराती हुई अघाती नही।

आचार्य कुन्दकुन्द और जैन श्रमण

— डॉ० योगेशचन्द जैन

☐

भगवान महावीर स्वामी के सिद्ध होने के ५०० वर्ष वाद के अल्पकाल मे ही 'चारित्र' एक ऐसे सिथलाचार के चौराहे पर आ खड़ा हुआ था कि जहाँ मुनिजनो को यथार्थ मोक्षमार्ग एवं मुनिचर्या के मार्गदर्शन की महती आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। ऐसे समय मे 'चारित्र खलुधम्मो' का उद्घोष करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द जैसे कठोर प्रशासक की ही आवश्यकता थी, जो अपने उपयुक्त समय मे अवतरित हुए और उन्होंने चारित्र की पुनस्र्थापना की। उन्ही के कारण चारित्र एक वार पुनर्जीवित हुआ। आज भी हमे ऐसे ही कुन्दकुन्द की आवश्यकता अनुभव हो रही है। काश ! वे होते भले ही वे नही है, पर उनका अष्टपाहुड जैसा पथ प्रदर्शक ग्रन्थ आज भी विद्यमान है। यदि आज के मुनिराज उसे पढ़े और पढकर उसका अनुसरण करें तो कोई कारण नही कि वे भी कुन्दकुन्द जैसी गरिमा प्राप्त न कर सकें। पर आज मुनिमार्ग जितना मलिन हो रहा है, शायद उतना कभी नही रहा होगा। कुन्दकुन्द अपनी अद्वितीयता के कारण ही आज मोक्षमार्गोपदेष्टा के रूप मे भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के वाद तीसरे स्थान पर प्रतिष्ठित है।

मगलं भगवान वीरो मंगल गौतमो गणी।
मगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोस्तु मगल ॥

इस मंगलाचरण मे कही-कही कुन्दकुन्दार्यो पाठ भी मिलता है, परन्तु उसकी अपेक्षा "कुन्दकुन्दाद्यो" ही ज्यादा तर्क संगत लगता है। कुन्दकुन्दार्यो मे केवल कुन्दकुन्द का ही वोध होता है, परन्तु कुन्दकुन्दाद्यो में आदि शब्द से कुन्दकुन्द की परम्परा मे जितने भी आचार्य हुए है उन सबका गहरण हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व धरसेनाचार्य हुए थे, उन्होंने प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना की थी। परन्तु कुन्दकुन्द को स्मरण करने का और उनको नेतृत्व प्रदान करने का कारण यह रहा है कि प्रथम तो उन्होने महावीर के द्वारा उपदिष्ट अचेलक धर्म को डूबने से बचाया और लुप्त-सा होते अध्यात्म को उजागर किया। कोई भी विश्व का धर्म स्थायित्व जब ही ले सकता है जबकि उसमे अध्यात्म का उपदेश हो। हिन्दू धर्म भी वेदों के कारण नही, अपितु वेदान्त के कारण प्रसिद्ध है, क्योकि उसमे अध्यात्म का उपदेश है। अतः किसी भी धर्म के प्रचार का सशक्त माध्यम उसमे प्रतिपादित अध्यात्म ही हो सकता है, क्रिया काण्ड नहीं। और आचार्य कुन्दकुन्द ने इन दोनों

ही कार्यों को बखूबी से निभाया है। इसी कारण उन्हे महावीर स्वामी व गौतम गणधर के बाद तीसरा स्थान प्राप्त है।

कुन्दकुन्द के समय अध्यात्म तो लुप्त-सा था ही, परन्तु क्रिया-काण्ड भी खतरे मे था। घर के लोग ही घर मे छेद करने का प्रयत्न कर रहे थे। ऐसे दृश्य को देखकर कुन्दकुन्द ने 'चारित्त खलुधम्मो"[1] की बात की अर्थात् कहा कि चारित्र ही धर्म है, और इस चारित्र मे सम्यक् चारित्र ही विवेच्य था, न कि कोरा शुष्क-क्रिया काण्ड, इसको तो उन्होने ससार का कारण और लोक रजन का ही कारण कहा था।

जैन-धर्म मे चारित्र की चर्चा मे "मुनिधर्म" ही अभिप्रेत है, न कि श्रावक धर्म। मुनिधर्म को ही साक्षात् मोक्ष का कारण कहा है और यही चारित्र है। कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की "चरणानुयोग चूलिका" को जब प्रारम्भ करते हैं, तो प्रथम ही यह कहते हैं कि यदि दुख से छुटकारा पाना चाहते हो, तो तुम श्रामण्य को स्वीकार करो।[2] इस अनुयोग द्वार मे गा० २०१ से २७५ तक ७५ गाथाओ मे मुनि धर्म का अस्ति परक ही विवेचन किया गया है और ऐसा विवेचन समस्त जैन साहित्य मे कही भी प्राप्त नही होता है। यदि कुन्दकुन्द इस चरणानुयोग चूलिका को नही लिखते तो शायद मुनिधर्म के वास्तविक स्वरूप की कल्पना भी नही की जा सकती थी, तथा यदि अष्टपाहुड मे मुनि के बाह्य वेष और उसमे आगत भ्रष्टाचार पर नही लिखा गया होता तो जैन-धर्म का मूल चारित्रिक पक्ष ही समाप्त हो गया होता।

प्रवचनसार गा० २०१ की टीका करते हुए अमृतचन्द्र देव भी अत्यन्त गौरव के साथ कह उठते हैं कि "यदि तुम मोक्षमार्ग देखना चाहते हो, तो उसके प्रणेता रूप मे हम यह खडे हुए है "तथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मन. प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम।" इस मार्ग मे प्रविष्ट होने की नियामकता रूप मे बताया कि वह घर वालो द्वारा मुक्त किया हुआ हो, अर्थात् वह घर वालो से आज्ञा लेकर ही मुनि दीक्षा ले।[3] आचार्य कुन्दकुन्द के गाथा २०२ की टीका मे अमृतचन्द्रदेव भाव व्यक्त करता है। प्रवचनसार मे कुन्दकुन्द का यह प्रकरण थोडा तो अटपटा-सा लगता है, क्योकि जब जैन पुराणो और मानवीय मनोवैज्ञानिकता पर दृष्टिपात करते हैं, तो देखते है, कि आज तक हजारो वर्षों के इतिहास मे ऐसी कोई भी घटना नही, जहाँ दीक्षार्थी को सहज आज्ञा दे दी गयी हो। अत आज्ञा लेकर दीक्षा लेना नितान्त असगत प्रतीत होता है। परन्तु जब इस गाथार्थ पर गहराई से विचार करते है तो यह देखते है कि इन गाथाओ मे वैराग्य रस की मूर्ति बन कर घरवालो से ससार की असारता की दुहाई देकर आज्ञा मागता है, तो घर मे कोई और भव्य भी इसके साथ खिंचा चला आता है, और अन्य आशिक व्रतादिक लेकर अथवा उनकी अनुमोदना करके हृदय मे श्रद्धा भाव धारण कर दीक्षार्थी के पक्ष की अनुमोदना कर देते हैं। और फिर तो दीक्षार्थी के साथ भी बहुत से लोग दीक्षित हो जाते हैं। इस लोकोपकार की

[1] प्रवचनसार, गाथा ७

[2] प्रवचनसार, गाथा २०१

[3] प्रवचनसार, गाथा २०२

भावना के कारण कुन्दकुन्द ने घर वालों से अनुमति का विधान किया है। दूसरा कारण यह भी है कि यदि कोई अल्प वैरागी होगा, तो घर वालो के द्वारा राग की ओर आकर्षित करने पर आकर्षित हो जाएगा, इस तरह अल्प वैरागी और अस्थिर मति वालो के दीक्षा न लेने से शिथिलाचार मे आशिक अंकुश लगा रहेगा। इसलिए कुटुम्बीजनो से अनुमति का विधान किया गया है।

तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि ऐसा करने से लोक व्यवस्था भग नही होगी, अन्यथा ढूढते फिरेंगे, पुलिस की सहायता लेगे। संभव है उसे पागल करार कर दिया जाय। अतः अनुमति लेना अनिवार्य है।

दीक्षा काल के प्रसग मे आचार्य कुन्दकुन्द सर्वज्ञदेव के साक्षी की ही बात करते है। चूकि सर्वज्ञ देव ने ही इस लिग का उपदेश दिया है। अतः द्रव्यलिग और भावलिंग को लेते सनय सर्वज्ञ के प्रदत्त होने के कारण उनको साक्षी वनाने को कहा गया है।[1] इस गाथा मे यह तथ्य वुद्धि पूर्वक डालने का कारण यह रहा होगा कि उस समय श्वेताम्वर मत के लोग द्रव्यलिग को न मानकर भावलिंग को ही स्वीकृत करते थे और कहते थे कि जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता नही तो कपड़े मुक्ति मे वाधक कैसे हो सकते है? अत॰ मात्र भावो को सुधारने का प्रयास करना चाहिए; क्योकि भावो से ही बन्ध-मोक्ष होता है। श्वेताम्बरों की इस उक्ति का निषेध करने के लिए द्रव्यलिंग की स्थापना दृढता से कुन्दकुन्द ने की थी, और ऐसे वाह्य लिंग को जिनवर का लिंग कहा।[2] सूत्र पाहुड मे तो कुन्दकुन्द कहते है कि वस्त्रधारक के मोक्ष नही, नग्नता मोक्षमार्ग है।[3] इस भाव के साथ कोई छल ग्रहण न करे तो भाव पाहुड मे यह कह भी दिया है। नग्नपने से सिद्ध हो तो नग्न तो सभी पशु आदि भी रहते है।[4] अत. भाव से ही नग्न वास्तविक नग्नता है।[5]

जिस कुन्दकुन्द ने "द्रव्यलिंग" की स्थापना की हो, उस द्रव्यलिग के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार करना भी अत्यधिक अपेक्षित है। अत उसे ससार का कारण भी नही कहा जा सकता है, वस्तुत. द्रव्यलिग से मोक्ष होगा, ऐसी मान्यता ससार का मूल कारण है, क्योकि द्रव्यलिग शरोराश्रित है और शरीराश्रित भावो से मोक्ष कदापि नही हो सकता है। अत. द्रव्यलिंग ससार का कारण नही, परन्तु उसको मोक्ष का कारण मानना ससार का कारण है। मोक्षपथ मे मुनि का शरीर नग्न ही होगा यह नियम है, परन्तु वह नग्नता मात्र मुक्ति का कारण नही है यह बात लिंग पाहुड मे आचार्य कुन्द-कुन्द देव कहते हैं –

---

[1] आदाय त पि लिंग गुरुणा परमेण त णमसित्ता। – प्रवचन सार गा० २० भ०पा०गा० २

[2] पयडहिं जिणवरलिंग अब्भितर भाव दोप परिसुद्धो। – भाव०पा०गा० ७०

[3] णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे – सूत्र पा० गाथा २३

[4] णग्गो पावइ दुक्ख णग्गो ससारसायरे भमई।
णग्गो न लहइ बोहिं जिणभावणज्जिओ सुइर ॥ भा०पा० गाथा ६८

[5] भावेण होइ णग्गो वाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीय णियर णासई भावेण दव्वेण ॥ भा०पा०गा० ५४

धम्मेण होइ लिंगं णं लिंगमत्तेण धम्म सपत्ती ।
जाणेहि भाव धम्म किं ते लिंगेण कायव्वो ।।२।।

अर्थात् धर्म सहित तो लिंग होता है, परन्तु लिंग मात्र से ही धर्म की प्राप्ति नही होती, अतः तू भाव रूप धर्म को जान । केवल लिंग से ही तेरा क्या कार्य होगा ? यदि मात्र बाह्य लिंग को धारण करके अन्तरग लिंग को धारण नही करता तो वह ससारी है,[1] क्योकि भाव रहित बाह्य परिग्रह का त्याग निष्प्रयोजन कहा है ।[2] यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ पर श्रमण को भाव लिंग की ओर प्रेरित किया गया है भाव लिंग शून्य मात्र द्रव्यलिंग की व्यर्थता सिद्ध की है, द्रव्यलिंग की निंदा नही की अथवा उसे अवदनीक नही कहा है । यदि वाह्य चारित्र का निर्दोष पालन करना निंदा है तो वह चरणानुयोग के अनुरूप होने से लोकजिद्य नही हो सकता । बाह्य चारित्र के द्योतक "मूल-गुण और उत्तरगुणो से मण्डित मुनि को जिनमत ने शोभास्पद कहा है ।[3] जो पचमहा-व्रत को पालते हैं, जिन सूत्र से च्युत नही हैं, वे वंदनीक है,[4] यह आचार्य कुन्दकुन्द ने हो कहा है । इस सन्दर्भ मे वे यहाँ तक कहते है कि "गणधरादि को जानकर जो मुनिधर्म को कष्ट सहित बडे यत्न से पालता है, रक्षा करता है, वह उत्तम स्थान को प्राप्त करता है ।[5] कुन्दकुन्द ऐसे श्रमण को निर्देश करते है कि तुम भाव शुद्धि के निमित्त अनुप्रेक्षा, २५ भावनाओ का चिंतन करो, ज्ञानाभ्यास करो, [6] क्योकि भावो की विशुद्धता अर्थात् भाव लिंग मे निमित्तभूत बहिरंग उत्कृष्ट शुभ भाव रूप उत्कृष्ट तपाचरण है ।[7] कुन्दकुन्द ने प्रथम भावलिंग फिर द्रव्यलिंग कहा है,[8] और ऐसे श्रमण को ही मोक्षाधिकारी कहा है । अष्टपाहुड मे भ्रष्ट को श्रामण्य नही और निर्दोष मात्र बाह्य लिंगी को मोक्ष नही" यही कुन्दकुन्द का मन्तव्य रहा है । भाव पाहुड मे द्रव्यलिग की निन्दा एव उपहास का कारण भी बहिरग स्थूल दोष मात्र ही है ।[9] सूत्र पाहुड मे कहते हैं कि जो जिनसूत्र से च्युत है, वे वदनीक भी नही है ।[10]

श्रावक हो या श्रमण को सर्वत्र भावो का ही माहात्म्य है[11] तथा जो जीव त्रिकाली ज्ञानानन्द स्वभावी एक ज्ञायक भाव से युक्त है, जिसमे अन्य भावो का अभाव है, ऐसे परि-णामो से युक्त है; उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है और चूकि जैन श्रमण श्रम पूर्वक विकारो का शमन करते हुए समभाव से होते हुए स्वरूप मे समाये रहते हैं । इन तीन प्रकार से उनकी प्रवृत्ति रहती है । अत जैन श्रमण प्रवृत्ति मार्गी कहलाते है । जिन लोगो का आरोप है कि जैन धर्म निवृत्तिमार्गी है, उन्हे कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की चरणानुयोग चूलिका को पढकर अपने भ्रम का निवारण कर लेना चाहिए । इस विषय

---

[1] लिंग पाहुड गाथा ८
[2] भाव पाहुड गाथा ८, ६
[3] वही गाथा ७०१
[4] सूत्र पाहुड गाथा ११, २०१
[5] लिंग पाहुड गाथा २२१,
[6] भाव पाहुड गाथा ६६, ६७
[7] भाव पाहुड गाथा ८०-८१
[8] भाव पाहुड गाथा ७३
[9] वही गाथा ६६-७१
[10] सूत्र पाहुड गाथा ६
[11] भाव पाहुड गाथा ६६

मे इस ग्रन्थ की गा० २०८ व २०६ की टीकाएं द्रष्टव्य हैं। जिनमे कहा गया है कि मूल-गुण तो श्रमण का परमसामायिक ही है, परन्तु जब उनका परम सामायिक अवस्था से छेद होता है तो उसके साधनभूत भेदरूप २८ मूलगुणो का पालन करते है। 'छेद' का लक्षण देते हुए जयसेनाचार्य ने गाथा २१२ की टीका में कहा कि "स्वस्थ भाव च्युति लक्षण: छेदो भवति" अर्थात् स्वरूप से हटना ही छेद है, प्रमाद है और प्रमत्त गुणस्थान मुनि की गिरती हुयी दशा है। जबकि अप्रमत्त दशा "श्रम करते हुए मुनिराज की दशा है। मुनि का इस प्रकार का अलौकिक स्वरूप अन्यत्र देखने को नही मिलता है। इसी प्रकार उत्सर्ग मार्ग-उपवाद मार्ग, भावलिंग द्रव्य लिग, वीतराग चारित्र-सराग चारित्र क्रमश: एकार्थक बतलाये है। यह प्रवचनसार गा० २३० की टीका मे द्रष्टव्य है।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन श्रमण का यथार्थ स्वरूप अपने परमागमो मे वर्णित किया है और उसको "आगम चक्षु" की उपाधि से विभूषित किया है। आगम हीन साधु के कर्मक्षय का अभाव बतलाया गया है। आज मुनि के स्वरूप को लेकर जो विवाद है वह कुन्दकुन्द के परमागम के अध्ययन का प्रचार-प्रसार होने पर ही दूर हो सकता है। चूंकि बिना मुनि के ज्ञान के मोक्ष नही और मोक्ष बिना सुख नही, अत. मुनि मार्ग का ज्ञान होना परमावश्यक है। मुनिमार्ग के स्वरूप प्रतिपादन मे आचार्य कुन्दकुन्द ने विशेष रूप से सावधानी अपनायी है। कारण कि, गुरु के भेष मे रहने वाले अगुरु, धर्म और धर्मात्माओं के लिए अत्यधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के "गुरुणा गुरु." थे, परम्परा प्रवर्तक एव प्रशासक आचार्य थे। गुरुओ मे आगत शिथिलाचार को समाप्त करने का उनका ही सर्वाधिक उत्तरदायित्व था। जिसे वह अच्छी तरह समझते थे। अत. उन्होने श्रमण के स्वरूप का अस्ति नास्ति परक विवेचन किया। आज समस्त जैन समाज श्रमणो में पनप रही शिथिलता पर ध्यान दे तो निश्चित रूप से कुछ सुधार अवश्य होगा। चूंकि कुन्दकुन्द ने श्रमणधर्म पर विशेष कलम चलायी थी, अत: सन् ८८ को "श्रमणवर्ष" घोषित करके उसके स्वरूप पर खुलकर चर्चा हो, तो निश्चित रूप से कुछ समाधान होगा। यह कार्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तीन बार हो भी चुका है, जिसके अच्छे परिणाम वहाँ निकले है। अन्त मे दिगम्बरत्व के प्रतीक रूप मे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित "श्रमण धर्म" जिनको सप्ततत्वो की भाषा मे कहे 'सवर और निर्जरा' की साक्षात् मूर्ति के प्रति जब तक हमारी श्रद्धा ज्ञान और चारित्र नही होगा तब तक हमारा भव का अभाव नहीं होगा। अत: निष्कर्ष रूप मे कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित "श्रमणधर्म" का ज्ञान होना परमावश्यक है। अत· हमे उनके परमागमों का अवश्य ही अध्ययन करना चाहिये। इस सदाशयता के साथ···· ···

□

लेखक परिचय : उम्र : २४ वर्ष। अभिरुचि : लेखन, सामाजिक एवं धार्मिक सुधारवादी चिंतन। शिक्षा : शास्त्री, एम० ए०, पीएच० डी०। सम्पर्क-सूत्र : अलीगंज, जिला – एटा (उ० प्र०) २०६२४७।

आचार्य कुन्दकुन्द का परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

—ब्र० यशपाल जैन

कालक्रम से विचार करें तो सर्वप्रथम आचार्य शिवार्य (द्वितीय शताब्दी) कृत भगवती आराधना, आचार्य पूज्यपाद रचित (पाचवी शताब्दी) समाधिशतक व इष्टोपदेश, मुनिराज श्री योगेन्दु विरचित (छठी शताब्दी) परमात्मप्रकाश और योगसार, आचार्य नेमिचद्र का (दसवी शताब्दी) गोम्मटसार-जीवकाण्ड, आचार्य अमृतचद्र (दसवी शताब्दी) रचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय, आचार्य अमितगति विरचित (दसवी शताब्दी) योगसार प्राभृत, तथा आखिर मे प० दौलतरामजी (उन्नीसवी शताब्दी) कृत छहढाला पर भी आचार्य कुन्दकुन्द का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

दर्शनपाहुड गाथा न० ३ और भगवती आराधना गाथा न० ७३७ दोनो एक जैसी ही है।

दसणभट्टा भट्टा दसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्टा दसणभट्टा ण णिज्झति ॥३॥—दर्शनपाहुड

तथा

दसणभट्टो भट्टो दसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झति चरियभट्टा दसणभट्टा ण णिज्झति ॥७३७॥—भगवती आराधना

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, वह भ्रष्ट है क्योकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव का अनतानत काल मे कभी भी निर्वाण नही होता। जो चारित्र से भ्रष्ट तो है, किन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट नही है, उसका कुछ काल मे निर्वाण होगा। वे आज नही तो कल, सिद्धगति को अवश्य प्राप्त होगे।

उपर्युक्त गाथाओ मे आचार्य कुन्दकुन्द के "दसणभट्टा भट्टा" के स्थान पर आचार्य शिवार्य ने "दसणभट्टो भट्टो" शब्दो का प्रयोग किया है।

प्रवचनसार गाथा न० २३८ तथा भगवती आराधना की गाथा न० १०७ ये दोनो गाथाये भी एक जैसी ही हैं। जैसे—

ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥ प्रवचनसार

तथा

ज अण्णाणी कम्म, खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अतोमुहुत्तेण ॥१०७॥ भगवती आराधना

सम्यग्ज्ञान से रहित अज्ञानी जीव जिन कर्मों को लाख करोड भवो मे भी नष्ट नही कर पाता, उन्ही कर्मों को सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्तियो से युक्त होने से अतर्मुहूर्त मे क्षय कर देता है।

उपर्युक्त दोनो गाथाओ मे अतर मात्र इतना है कि – आचार्य शिवार्य ने "उस्सास-मेत्तेण" शब्द के बदले मे 'अतोमुहुत्तेण" शब्द का प्रयोग किया है।

मोक्षपाहुड गाथा नं० २९ तथा समाधिशतक श्लोक न० १८, का अर्थ तो समान है ही, शब्द भी समान है। केवल प्राकृत से सस्कृत भाषा मे रूपान्तरित कर दिया है। जैसे –

ज मया दिस्सदे रूव त ण जाणादि सव्वहा।
जाणग दिस्सदे णेव तह्मा जपेमि केण ह ।। मोक्षपाहुड – २९

तथा

यन्मया दृश्यते रूप तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूप तत केन ब्रवीम्यहम् ।। समाधिशतक – १८

इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षपाहुड की गाथा ४,५,८,९,१० एव ७८ के साथ क्रमश. समाधिशतक के श्लोक ४,५,७,१०,११ एव १०२ का मिलान करके देखा जा सकता है। उपर्युक्त गाथाओ से कुन्दकुन्द का पूज्यावाद पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

मोक्षपाहुड गाथा न० २५ के साथ इष्टोपदेश ग्रथ के श्लोक तीन की तुलना करने से भी यही सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के प्रभाव से पूज्यावाद अछूते नही रहे।

वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्ख होउ णिरई इयरेहिं।
छायातवट्ठियाण पडिवालताण गुरुमेय ।। मोक्षपाहुड–२५
वर व्रतै: पद दैव नाव्रतैर्बत् नारक।
छायातपस्थयोर्भेद प्रतिपालयवोर्महान् ।। इष्टोपदेश–३

व्रत और तप से स्वर्ग होता है, वह श्रेष्ठ है, परन्तु अव्रत और अतप से प्राणी को नरक गति मे दु ख होता है, वह श्रेष्ठ नही है। छाया और आतप मे बैठनेवाले के प्रति-पालक कारणो मे बड़ा भेद है।

इन दोनो के शब्द समान है। सस्कृत भाषा का जिसे अति सामान्य ज्ञान है, वह भी सहज जान सकता है।

इसी सदर्भ मे मोक्षपाहुड की २१, २४ और ६६वी गाथाओ की तुलना अनुक्रम से इष्टोपदेश के श्लोक न० ४,२,३७ के साथ भी मिलान करके देखी जा सकती है।

प्रवचनसार और परमात्मप्रकाश की भी एक-एक गाथा द्रष्टव्य है –

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाण।
हिंडदि घोरमपार ससार मोह सछण्णो ।।प्रवचनसार–७७

तथा

जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोई।
सो चिरू दुक्ख सहतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ ।।अ-२-परमात्मप्रकाश–५५

जो जीव पुण्य और पाप – दोनों को समान नही मानता, वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दु ख सहता हुआ ससार मे भटकता है ।

दोनो गाथाओ मे अर्थ की समानता तो है ही, भाषा भिन्न होने पर भी शब्दो की एकता – सदृशता भी वाचको से छिपी नही है ।

मोक्षपाहुड गाथा न० ३७, ५१ और समयसार गाथा न० २०१ गाथाओ का अनुक्रम से परमात्मप्रकाश के अध्याय २ गाथा न० १३, १७६ व ८१ की तुलना से भी आपको सतोष होगा ।

समयसार गाथा न० १४६ के साथ योगसार गाथा न० ७२ की तुलना निम्नप्रकार है । सुवर्ण की बेडी का दृष्टान्त भी ज्यो का त्यो दिया है ।

सोवण्णिय पि णियल बधदि कालायस पि जह पुरिस ।
बधति एव जीव सुहमसुह वा कद कम्म ।। समयसार–१४६

तथा

जह लोहम्मिय णियड बुह तह सुण्णम्मिय जाणि ।
जे सुहअसुह परिच्चयहिं ते वि हवति हु णाणी ।। योगसार–७२

हे पडित ! जैसे तू लोहे की साकल को साकल समझता है उसी तरह तू सोने की साकल को भी साकल ही समझ । जो शुभ-अशुभ दोनो भावो का परित्याग कर देते हैं निश्चय से वे ज्ञानी होते है ।

बोधपाहुड गाथा न० ३३ व गोम्मटसार – जीवकाड गाथा न० १४२ लगभग एक सी है । जैसे –

गइ इदिय च काए जोए वेए कसाय णाण च ।
सजम दसण लेस्सा भविया समत्त सण्णि आहारे ।।३३–बोधपाहुड

तथा

गइ इदियेसु काए जोए वेये कसाय णाण च ।
सजम दसण तेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।।१४३–गो. जीवकाण्ड

गति, इद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व सज्ञी और आहार – इसप्रकार चौदह मार्गणा होती है ।

दोनो गाथाओ मे सिर्फ भेद इतना है कि – आचार्य कुन्दकुन्द ने "गइ इदिय च" लिखा तो आचार्य नेमीचद्र ने "गइइदिएसु" पाठ का अविष्कार किया ।

उसीप्रकार बोधपाहुड गाथा न ३५ तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा न १३० भी मानो एक ही है ।

पच वि इदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होति दह पाणा ।।३५–बोधपाहुड

तथा

पच वि इदियपाणा मणवयिकाएसु तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ।।१३०।।

– गोम्मटसार-जीवकाड

पाँच इद्रियप्राण, तीन बल प्राण (मन-वचन-काय) एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयुप्राण ये दस प्राण है।

"मणवचिकाएण" की जगह आचार्य नेमीचद्र "मणवयणकाएसु" तथा "दह" के स्थान पर "दस" लिखते है। अर्थ मे तो कुछ अन्तर है नही।

आचार्य कुन्दकुन्द की गाथाओं को आचार्य नेमीचन्द्र ने लिया है, यह तो बात स्पष्ट समझ मे आती ही है। दूसरे, यह भी कह सकते है कि प्राचीन माने जानेवाले ग्रथो में इसप्रकार का क्वचित् साम्य देखकर यही मानना उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन गाथाएँ परपरा से अनुस्यूत चली आती थी। और उनका संकलन ग्रथकारो ने अपने-अपने ढग से किया है।

प्रवचनसार गाथा २३३ – जयसेनाचार्य की टीका मे स्वीकृत गाथा का पुरुषार्थ-सिद्धच्युपाय ग्रथ के श्लोक न. ६८ के साथ तुलना देखिए।

जो पक्कमपक्क वा पेसी मसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणादि पिण्ड जीवाणमणेगकोडीण ।।–प्रवचनसार

तथा

आमा वा पक्वा वा खादति य: स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहति सततनिचित पिण्ड बहुजीवकोटीनाम् ।।
– पुरुषार्थसिद्धयुपाय

आचार्य अमृतचद्र ने आचार्य जयसेन से स्वीकृत प्रवचनसार की उपर्युक्त गाथा को देखकर व सामने रखकर ही इस श्लोक की रचना की होगी ऐसा अनुमान उचित ही रहेगा। आचार्य जयसेन की टीका मे स्वीकृत २३२ न. गाथा के साथ पुरुषार्थसिद्धयुपाय का श्लोक न. ६७ भी पूर्णरूप से एक-सा ही है।

अब आचार्य कुन्दकुन्द के गाथाओ के साथ नि:सग योगिराज पदवी धारक आचार्य अमितगति के योगसार प्राभृत ग्रथ के श्लोको की समानता देखना प्रारभ करेगे। वैसे शताधिक श्लोको के साथ आचार्य कुन्दकुन्द के गाथाओ का प्रभाव परिलसित होता है लेकिन इस छोटे निबध मे दृष्टातादिक से भी जहाँ-जहाँ खास साम्य है उनका ही उल्लेख करेंगे।

रयणमिह इंदणील दुद्धज्झलिय जहा समासाए।
अभिभूय तं पि दुद्ध वट्टदि तह णाणमट्ठे ।।३०–प्रवचनसार

तथा

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देहि देहत्थो सदेह मेत्तं प्रभासयदि ।।३३–पंचास्तिकाय

इन दोनो गाथाओ मे बताया हुआ दृष्टान्त तो आचार्य अमितगति ने लिया ही है साथ मे प्रवचनसार के गाथा का अर्थ भी पूरा अपने श्लोक में भरा है।

क्षीरक्षिप्त यथा क्षीरमिंद्रनील स्वतेजसा ।
ज्ञेयक्षिप्त तथा ज्ञान ज्ञेय व्याप्नोति सर्वथा ।।२१।।

—योगसार प्राभृत जीवाधिकार

जैसे दूध मे पडा इन्द्रनील मणि अपने तेज से दूध को सब ओर से व्याप्त कर लेता है उसीप्रकार ज्ञेय के मध्य स्थित ज्ञान अपने प्रकाश से ज्ञेय समूह को पूर्णत व्याप्त कर उसे प्रकाशित करता है ।

णाणी णाणसहाओ अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूण णेवाण्णोण्णेसु वट्टति ।। प्रवचनसार-२८

इस गाथा को निम्न श्लोक के साथ देखिए—

चक्षुर्गृह्णयथा रूप रूपरूप न जायते ।
ज्ञान जानन् तथा ज्ञेय ज्ञेयरूप न जायते ।।२२।।

—योगसार-प्राभृत-जीवाधिकार

जिसप्रकार आँख रूप को ग्रहण करती हुई रूपमय नही हो जाती उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञयरूप नही हो जाता ।

यदि हम समयसार की गाथा २४२, २४३, २४४ एव २४५ प्राभृत गाथाओ को और आचार्य अमितिगति के योगसार की गाथा ७ व ८ का मिलान करें तो दोनो मे काफी समानता पायेगे ।

वहाँ कहा है कि—जिसप्रकार शरीर से तैलादि की मालिश किए हुए पुरुष धूलि से व्याप्त कर्मक्षेत्र मे बैठा समस्त व्यापार से हीन होते हुए भी कर्मक्षेत्र मे स्वय कुछ काम न करते हुए भी नाना प्रकार की धूलि से व्याप्त होता है, उसीप्रकार जिसका चित्त क्रोधादि कषायो से आकुलित है वह कर्म के मध्य मे स्थित हुआ समस्त आरम्भो से रहित होने पर भी कर्मों से व्याप्त होता है । और भी, जैसे—

आगमचक्खू साहू इद्रियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।। प्रवचनसार २३४

आचार्य कुन्दकुन्द के इस गाथा की मानो सस्कृत छायारूप से ही आचार्य अमितगति योगसार-प्राभृत मे निम्न श्लोक लिखते है—

साधूनामागमश्चक्षुर्भूताना चक्षुरिन्द्रियम् ।
देवानामवधिश्चक्षुर्निर्वृता: सर्व-चक्षुष: ।। १६ योगसार-प्राभृत
निर्जराधिकार

आचार्य कुन्दकुन्द के "सिद्धा" शब्द के स्थान पर श्लोक रचना के लिए आचार्य अमितगति को "निवृता" शब्द की योजना करना अनिवार्य हो गया है ।

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्ध णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ।। प्रवचनसार-२१५

इस गाथा के भाव को शब्दों के आगे पीछे रखते हुए योगसार-प्राभृत मे निम्नानुसार श्लोक आया है ।

उपधौ वसतौ संगे विहारे भोजने जने ।
प्रतिबध न बध्नाति निर्ममत्वमधिष्ठित ।।१४।।

– योगसार-प्राभृत चारित्राधिकार

जो योगी निर्ममत्व हो गया है वह उपाधि (परिग्रह) मे, वसतिका मे, सघ में विहार मे, भोजन मे, जनसमुदाय मे, प्रतिबध को बाध नही सकता है ।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा सतय त्ति मदा ।।२१६।। प्रवचनसार

इस गाथा के अर्थ को आचार्य अमितगति ने निम्न श्लोक मे रखा है ।

अशने शयने स्थाने गमे चगक्रमणे ग्रहे ।
प्रमादचारिणो हिंसा साधो. सान्ततिकोरीता ।।१५।।

योगसार-प्राभृत-चारित्राधिकार

जो साधु खाने-पीने मे, लेटने-सोने में, उठने-बैठने मे, चलने-फिरने मे, हस्तपादादि के पसारने मे, किसी वस्तु को पकडने मे, छोडने या उठाने-धरने मे प्रमाद करता है, उसको निरतर हिंसा कही गई है ।

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए ।
आवाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज त जोगमासेज्ज ।।३१५।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो य देसिदो समये ।
मुच्छपरिग्गोहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ।।२१६।।

प्रवचनसार (आचार्य जयसेन की टीका मे स्वीकृत गाथा)

इन दोनो गाथाओ से विशेष रीति से प्रभावित आचार्य अमितगति के निम्न श्लोक देखिए –

पादमुत्क्षिपत साधो रीर्यासमिति-भागिनः ।
यद्यपि म्रियते सूक्ष्मः शरीरी पादयोगतः ।।२९।।
तथापि तस्य तत्रोक्तोत्र बन्धः सूक्ष्मोऽपि नागमे ।
प्रमाद-त्यागिनो यद्वन्निर्मूर्च्छस्य परिग्रह ।।३०।। योगसार-प्राभृत (चारित्राधिकार)

यद्यपि ईर्यासमिति से युक्त योगी के पैर को उठाकर रखते समय सूक्ष्म जन्तू पैर तले आकर मर जाता है तथापि जिनागम मे उस प्रमादत्यागी योगी के उस जीवघात से सूक्ष्म भी बध का होना नही कहा गया है, उसीप्रकार जिसप्रकार की मूर्च्छा-ममता रहित के परिग्रह नही कहा गया है ।

मरदु व जीवदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।।२१७।।

तथा —प्रवचनसार

अयत्नचारिणो हिंसा मृते जीवेऽमृतेऽपि च ।
प्रयत्नचारिणो बध समितस्य वधेऽपि नो ।।२८।।

—योगसार-प्राभृत चारित्राधिकार

जो यत्नाचार रहित है, उसके जीव के मरने तथा न मरने पर भी हिंसा होती है और जो ईर्यादि समितियो से युक्त हुआ यत्नाचारी है, उसके जीव का घात होने पर भी (हिंसा कर्म का) बध नही होता ।

उपर्युक्त गाथा तथा श्लोक का अर्थ तो समान है ही, परन्तु शब्दो की समानता भी वाचको को सहज समझ मे आने लायक है ।

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो ।
चरदि जद जदि णिच्च कमले वा जले निरुवलेवो ।।२१९।।

—प्रवचनसार

इस गाथा के अभिप्राय को कमल के उदाहरण के साथ आचार्य अमितगति ने अपने शब्दो मे गूथा है

योगी षट्स्वपि कायेषु सप्रमादः प्रबध्यते ।
सरोजमिव तोयेषु निष्प्रमादो न लिप्यते ।।३३।।

—योगसार-प्राभृत, चारित्राधिकार

आचार्य कुन्दकुन्द ने श्वेताम्बर मत खण्डन के अभिप्राय से रची हुई गाथा के विचार को उसी दृष्टात के साथ लिया है । श्लोक मे अर्थ प्रश्नार्थक रीति से लिया इतना अन्तर जरूर है । जैसे —

अलाबु—भाजन वस्त्र गृह्णतोऽन्यदपि ध्रुव ।
प्राणारम्भो यतेश्चेतो व्याक्षेपो वार्यते कथम् ।।३७।।

—योगसार प्राभृत (चारित्राधिकार)

तुम्बी पात्र, वस्त्र तथा और भी परिग्रह को निश्चितरूप से ग्रहण करनेवाले साधू के प्राण-बध और चित्त का विक्षेप कैसे निवारण किया जा सकता है ?

छेदो जेण ण विज्जदि गहण-विसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु काल खेत्त वियाणित्ता ।।२२२।। प्रवचनसार

इस गाथा के अर्थ को आचार्य अमितगति अपने संस्कृत श्लोक मे निम्नप्रकार देते हैं । अर्थ मे और शब्दो मे जो समानता है वह स्पष्ट है ।

न यत्र विद्यतोच्छेद. कुर्वतो ग्रह-मोक्षणे ।
द्रव्य क्षेत्र परिज्ञाय साधुस्तत्र प्रवर्तताम् ।।४०।।

—योगसार—प्राभृत, चारित्राधिकार

जिस (बाह्य) ग्रहण-मोचन करते हुए साधु के दोष नही लगता उसमें द्रव्य-क्षेत्र को भले प्रकार जानकर साधू प्रवृत्त होवे ।

पक्केसु अ आमिसु अ विपच्चभाणासु मसपेसीसु ।
सतत्तियमुववादो तज्जादीण निगोदाणं ।।२३२।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि फासदि वा ।
सो किल णिहणदि पिण्ड जीवाणमणेगकोडीण ।।२३३।।

प्रवचनसार (आचार्य श्री जयसेन की टीका में स्वीकृत)

इन ही दो गाथाओं को सामने रखकर ही रचे गये आचार्य अमितगति के दो श्लोक हम नीचे दे रहे है ।

पक्वेऽपक्वे सदा मासे पच्यमाने च संभवः ।
तज्जातीनां निगोदाना कथ्यते जिनपुगवैः ।।६०।।
मासं पक्वपक्वं वा स्पृश्यते येन भक्ष्यते ।
अनेका· कोटयस्तेन हन्यन्ते कितु जन्मिनाम् ।।६१।।

—योगसार-प्राभृत (चारित्राधिकार)

मास चाहे कच्चा हो, पक्का हो या पक रहा हो उसमे जिनेद्रो ने तज्जातीय निगोदी जीवो का निरतर उत्पाद कहा है । (अत) जिसके द्वारा कच्चा वा पक्का मांस छुआ जाता है, खाया जाता है उसके द्वारा निश्चितरूप से अनेक कोटी जीवो का घात होता है ।

और भी देखिये :—

बालो वा बुड्ढो समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदि सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ।।२३०।।
आहारे व विहारे देसं काल खम उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ।।२३१।।
एयग्गगदो समणो एयग्ग णिच्छिदस्स अत्थेतु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा ।।२३२।। प्रवचनसार

इन तीनो गाथाओ की समानता निम्न श्लोकों मे आपको स्पष्ट ख्याल मे आयेगी ।

बालो वृद्धस्तपोग्लानस्तीव्रव्याधि-निपीडितः ।
तथा चरतु चारित्र मूलच्छेदो यथास्ति नो ।।६५।।
आहारमुपधिं शय्या देश कालं बल श्रमम् ।
वर्तते यदि विज्ञाय स्वल्पलेपो यतिस्तदा ।।६६।।
एकाग्र मनस. साधो· पदार्थेषु विनिश्चयः ।
यस्मादागमस्तस्मात् तस्मिन्नद्रीयता तरां ।।६८।।

—योगसार प्राभृत (चारित्राधिकार)

जो साधु बालक हो, वृद्ध हो, मासोपवासादिक अनुष्ठान करनेवाला तपस्वी हो, रोगादिक से कृष शरीर अथवा किसी तीव्र व्याधि से पीड़ित हो, उसे चारित्र को उस प्रकार से पालन करना चाहिए जिससे मूलगुणों का विच्छेद अथवा चारित्र का मूलत विनाश न होने पावे।

यदि साधु आहार, परिग्रह (उपकरण) शयन, देश, काल, बल और श्रम को भलेप्रकार जानकर प्रवृत्त होता है तो वह अल्पलेपी होता है।

एकाग्र चित्त के धारक साधू को चूकि आगम से पदार्थों मे निश्चय होता है। अत आगम मे विशेष आदर से प्रवृत्त होना चाहिए।

योगसार प्राभृत ग्रन्थ के और भी अनेक श्लोक देना सहज शक्य है लेकिन विस्तारभय से यहाँ समाप्त करता हूँ। जिज्ञासु वाचक कुन्दकुन्द साहित्य को सामने रखकर योगसार-प्राभृत का अध्ययन करेंगे तो आचार्य कुन्दकुन्द का विशेष प्रभाव योगसार-प्राभृत ग्रथ पर है — इसका स्पष्ट साक्षात्कार होगा।

"ज अण्णाणी कम्म" इस प्रवचनसार के गाथा २३८ का परिणाम — असर छहढाला ग्रथ के चौथी ढाल के ५वे छद पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। वह छहढाला का छद वाचको के जानकारी के लिए यहाँ दिया जाता है।

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरै जे।
ज्ञानी के छिन मे त्रिगुप्ति तैं सहज टरै ते ॥

इतने विवेचन से वाचको को आचार्य कुन्दकुन्द का परवर्ती आचार्य तथा विद्वानो पर जो प्रभाव है उसका ज्ञान हो जायगा। विज्ञेषु अलम्। □

लेखक परिचय :— बाल ब्रह्मचारी, उम्र ४८ वर्ष, शिक्षा · एम०ए० (सस्कृत), अभिरुचि · अध्ययन-अध्यापन एव तत्व प्रचार-प्रसार मे समर्पित, आध्यात्मिक रुचि के साथ-साथ करणानुयोग के स्वाध्याय मे भी रुचि। सम्पर्क-सूत्र . A-4, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

आचार्य कुन्दकुन्द और श्री कानजी स्वामी

—ब्र० हेमचन्दजी जैन

□

जहाँ चतुर्थकाल में तीर्थंकर भगवान महावीर और गणधर गौतम स्वामी परम मगल स्वरूप मान्य हुए, वहाँ पचमकाल मे भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य परम मगल रूप मे सर्वमान्य हुये। उनके उत्तरवर्ती प्राय. सभी आचार्य अपने को कुन्दकुन्दाम्नाय् से संबधित करने मे गौरव का अनुभव करते है। इतिहासज्ञो की दृष्टि से तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के उपरान्त पंचमकाल के प्रारम्भ मे १६२ वर्षों तक सामान्य केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा ज्ञान-गंगा प्रवाहित होती रही। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। इसके बाद श्रुतधर ऋषियों की स्मृति शक्ति ज्यो-ज्यो क्षीण होती गई, त्यो-त्यो श्रुतज्ञान भी लुप्त होता गया, एव क्रमशः दशपूर्वधारी, आचाराग धारी, व एकदेश अग-ज्ञानधारी मुनिराज विचरते रहे। इस प्रकार भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्ति के बाद ६८३ वर्षों तक सर्वज्ञ प्रणीत प्रवचन समुपलब्ध बना रहा तथा अगज्ञान की आभा चमकती रही। इसी समय श्री भगवद् धरसेनाचार्यजी ने महिमा-नगरी मे सघ सम्मेलन करके अवशेष अंग ज्ञान को लिपिबद्ध करने का उपक्रम किया था। इसी समय के आस-पास कलिकाल सर्वज्ञोपमा प्राप्त योगीराज अध्यात्म युग प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुये थे। जो समूचे विश्व के महान् प्रकाश स्तम्भ रहे एव सर्वज्ञतुल्य वाणी के अधिष्ठाता रहे। (इतिहासविदो) "पुण्यास्रव कथाकोश" की राय मे उनका जन्म ईस्वी पूर्व सन् ५२ (५२ बी० डी०) मे इस भारत देश के दक्षिण प्रदेश (पिंदठनाडु) मे कुरूमराई नामक नगर के श्रेष्ठि करमण्डु की भार्या श्रीमती की कूँख से हुआ था तथा वे ई०पू० सन् ८ मे आचार्य पद के अधिकारी हुये थे, तदनुसार विक्रम सवत् ४९ पौष कृष्णा अष्टमी को आचार्य पद पर आरूढ हुये थे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य अपने पूर्वभव मे मतिवर नामक ग्वाले थे। जिसने जगल मे गाये चराते वक्त एक दिन महान अचम्भा देखा। दावानल से सारा जगल जल रहा था, किन्तु उसके बीचोबीच कुछेक पेड हरे भरे ज्यो के त्यो खडे थे। अपना कौतुक बुझाने के लिए मतिवर उस हरियाले कुज मे गया। उसने देखा वह किसी साधु का आवास रहा होगा तथा पाया कि एक पेड की खोल मे कुछ शास्त्र रखे है। शास्त्रो को देखकर उसका मन श्रद्धा से भर गया। उसे पूरा विश्वास हो गया कि यह सब शास्त्रो का ही माहात्म्य है। मतिवर ने उस ज्ञान के पुज को उठाया और भक्ति भाव से घर लाकर नितप्रति विनयपूर्वक पुष्पांजलि अर्पण करता। एक दिन श्रेष्ठि करमण्डु के घर एक तपोधन साधु आहारचर्यार्थ पधारे। मतिवर ने उनकी बडी भक्ति की एवं वह ज्ञान पुज (शास्त्र) उन्हे

ट कर दिये। एक दिन मतिवर इस नश्वर देह से नाता तोड गया और सेठानी श्रीमती के गर्भ मे आया। नियत समय पर "श्रीमती" माता ने एक विचक्षण बुद्धि धारी बालक को जन्म दिया। सेठ करमण्डु ने खुशियाँ मनाई, खूब दान-पुण्य किया एव अनेक शास्त्र लिखाकर वितरित किये।

काललब्धि को पाकर श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रवर (श्री जिनचन्द्रजी) के सम्पर्क मे आते हैं और उनसे जिन दीक्षा ले लेते हैं। तपाराधना एव स्वाध्याय-ध्यान मे तल्लीन मुनिवर कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्रगट हो चुकी थी। उसी समय श्री सीमधर परमात्मा के समवशरण मे उनकी विद्वता की चर्चा हुई। वहाँ के सम्राट् ने पूछा — इस समय भरत-क्षेत्र मे सबसे अधिक मेघावी ज्ञानी तपस्वी साधु कौन हैं? "कुन्दकुन्दाचार्य से वढकर और कोई नही" यह सुन तुरन्त ही दो चारण ऋद्धि धारी मुनिराज उनसे मिलने भारत आये। इधर मुनिवर कुन्दकुन्दाचार्य देव को भी सीमधर परमात्मा के दर्शनो की एव सिद्धान्त विषयक शकाओ के समाधान जानने की तीव्र उत्कठा थी। इसी कारण वे उन चारण मुनियो के साथ पूर्व विदेह गये और जीवन्त सकल परमात्मा की वन्दना कर अपने को धन्य माना एव उनकी दिव्य अमृतवाणी का पानकर तृप्त हो गये · शकाये विलीन हो गई। वे ही एकमात्र समवशरण मे सर्वाधिक छोटे कद के मानव थे तथा दीर्घकाय मानवो के लिए कौतुक थे, परन्तु उन्हे महान् तपस्वी और श्रुतज्ञानी जानकर सभी उनके चरणो मे नत मस्तक हुए थे। तथा करीव एक सप्ताह तक सीमधर परमात्मा के पास अलौकिक आत्मलाभ लेकर वे भारत देश वापस आ गये एव महान् अध्यातम शास्त्रो की रचना की।

(इसके अतिरिक्त एक दूसरी कथानुसार उनका जन्म स्थान मालव देश था तथा वे कुन्दश्रेष्ठी एव कुन्दलता सेठानी के पुत्र थे। तथा जन्म से ही उदासीन वृत्ति होने से वे मुनि हो जाते हैं। लगता है मालव देश मे कुन्दकुन्द नाम के कोई दूसरे आचार्य हुये होगे जो उनके व्यक्तित्व को योगीराट् कुन्दकुन्द स्वामी से मिला देने की भ्राति की गई है।)

नि सन्देह भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के जीव ने जो अपने पूर्व भव मे शास्त्र दान दिया था, उसी का यह परिणाम था कि वह महाज्ञानी और तपस्वी महापुरुष हुए एव उन्हे "आचार्य" परमेष्ठी का महान् पद मिला। वे मूलसघ "बलात्कारगण आम्नाय के प्रमुख आचार्य थे जो आज तक उनके नाम से कुन्दकुन्दाम्नाय चली आ रही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के विदेह गमन की पुष्टि व साक्षी दक्षिण के विभिन्न शिलालेखो षट्प्राभृत की श्रुतसागरीय सस्कृत टीका, दर्शनसार आदि विभिन्न शास्त्र आदि से मिलती है तथा 'कोण्डकुन्द' नगर मे उनका जन्म होने के कारण उनका नाम कुन्दकुन्द होना भी मिलता है।

श्री श्रुतसागरजी ने भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के इतर नाम पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छिकाचार्य भी लिखा है तथा श्री जिनचन्द्राचार्य का शिष्य एव श्री सीमधर स्वामी से ज्ञान प्राप्त लब्ध और षट्प्राभृत ग्रथ का रचयिता वताया है। इस स्पष्टीकरण से उनके अनेक नामो मे एक नाम एलाचार्य सिद्ध होता है। इस दशा मे उनकी तपोभूमि हेमग्राम के निकट स्थित हेमगिरि (पोन्नूर हिल) हो सकती है, जिसके विपय मे

स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती ने लिखा था कि मलय देश मद्रास प्रदेश के उत्तरअर्काट व दक्षिण अर्काट जिलों के पूर्वी घाट पर्वतमाला के अन्तर्गत आता है। वंडवास तालुक का पौन्नरग्राम हेमग्राम है, जिसके निकट नीलगिरी पहाडी है। उस पहाडी की चोटी पर ऐलाचार्य के चरण चिह्न है। कहते है यहाँ ही उन्होने तपस्या की थी। साथ ही चक्रवर्तीजी ने ऐलाचार्य 'कुन्दकुन्द' द्वारा ही तमिल के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरॅल' रचा गया सिद्ध किया है। (देखो अग्रेजी पचास्तिकाय की भूमिका)।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा मे हुये थे, जिसमे उनके पहिले मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भी मुनि हो चुके थे। उन्होने स्वयं अपनी कृति 'वोध-पाहुड' की ६१वी, ६२वी गाथाओ मे अपने को श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा का शिष्य बतलाया है। कहते है उन्होने अपने सभी ग्रन्थ महान् शिष्य सम्राट शिवकुमार महाराज को सबोघनार्थ लिखे थे। प्रो० चक्रवर्ती ने उनको पल्लववंश के सम्राट् शिवस्कद वर्मा लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का समग्र साधु जीवन ज्ञानाराधना एव उसी की प्रभावना में बीता था। यहाँ तक कि उनके ज्ञान की प्रशस्तता का उल्लेख सीमधर परमात्मा की दिव्य-ध्वनि तक मे हुआ था। उन्होने साधु संघ मे समय की विषमता से आये हुये विकारो का निराकरण बडे ही साहस से किया जिससे वीतराग भाव धर्म की स्थिरता को बल मिला था। इस पुनीत ध्येय की सिद्धि के लिये न जाने उन्होने कितने अपूर्व ग्रन्थो की रचना की थी, यह बताना कठिन है। किन्तु आज उनकी अमूल्य रचनाओ मे निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। (१) समयसार, (२) प्रवचनसार, (३) नियमसार, (४) पंचास्तिकायसार, (५) रयणसार, (६) दर्शनपाहुड, (७) सूत्रपाहुड, (८) चारित्रपाहुड, (९) बोधपाहुड, (१०) भावपाहुड, (११) मोक्षपाहुड, (१२) लिंगपाहुड, (१३) शीलपाहुड और (१४) वारस अणुवेक्खा (द्वादस अनुप्रेक्षा), (१५) परिकर्म टीका (अनुपलब्ध)।

उपर्युक्त अध्यात्म ग्रन्थो की रचना करके आचार्य प्रवर ने धर्म का जो मार्ग चला दिया था, वह आज भी अक्षुण्य रीति से (किन्तु हीनता लिये हुये) चला आ रहा है। कहते है आचायर ग्रय "मूलाचार" को भी उन्होने ही रचा था। "दश भक्ति-सग्रह" भी उन्ही की रची कही जाती है। कुन्दकुन्द स्वामी की यह महानता एकमात्र शास्त्र दान के देने और स्वाध्याय तप मे अर्हिनिश पगे रहने से मिली थी। अतएव प्रत्येक मुमुक्ष का कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वह जैन ग्रन्थो को मुद्रित कराकर वितरण करके ज्ञान प्रभावना करे और नियमित रूप से स्वाध्याय करने का व्रत लेवे। (हे ज्ञानालोक के दैदीप्यमान नक्षत्र ! तुम्हे शत-शत बार वन्दन।)

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्विसहस्राब्दी समारोह के इस शुभावसर पर अभी वर्तमान-युग मे हुई महान् आध्यात्मिक क्रान्ति के जन्मदाता पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को स्मरण कर उन्हे अपनी श्रद्धाजलि अर्पण करना प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई-बहिन का पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है, क्योकि उन्होने ही वर्तमान मे कुन्दकुन्द की वाणी का सार अर्थात् अनन्त तीर्थंकर भगवन्तो की दिव्यध्वनि का सार रूप शुद्धात्मतत्व हमे दर्शाया है, उन्होने ही इस वर्तमान २०वी शताब्दी मे सारे विश्व मे निर्भीकता के साथ कुन्दकुन्दवाणी

का ढिंढोरा पीटा है। आज लाखो लोग स्वामीजी की ही बदौलत अत्यत श्रद्धा से उन शास्त्रो का अध्ययन करते है, कराते है एव छपा-छपाकर लाखो की संख्या मे वितरण करते हैं, यह हम सभी के परम सौभाग्य की बात है। सौराष्ट्र मे जहाँ कोई दिगम्बर जिन मन्दिर दूर-दूर तक नही दिखाई देता था, आज वहाँ जगह-जगह दिगम्बर जिन मन्दिर गगनचुम्बी शिखरबन्द नजर आ रहे है।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के हृदय मे सीमधर परमात्मा एव कुन्दकुन्दाचार्य देव का अगणित परोक्ष उपकार सदैव विराजमान रहता था। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज स्वामीजी का चिर ऋणी रहेगा। उन्होने ससघ सम्मेदशिखरजी, गिरनारजी, बाहुबली, गोम्मटेश्वर आदि की अनेको बार यात्रायें भी की। मद्रास का प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र पौन्नूर हिल भी आपके प्रयास से ही प्रकाश मे आया। ऐसे चैतन्य रत्न जौहरी को भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्विसहस्राब्दी समारोह पर स्मरण करना, श्रद्धाजलि अर्पित करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ।

ठीक जिस प्रकार गरुड/मयूर के टकार (नाद) से चन्दन से लिपटे विषधर घबराकर गिर पडते/भागते नजर आते है, उसी तरह स्वामीजी के उपदेश को श्रमणकर अनेक सुपात्र जीवो के मिथ्यात्व रूप विषधर की पकड ढीली पड जाती थी।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने जिस वीतराग विज्ञानमय मोक्षमार्ग का उपदेश दिया था, उस आध्यात्म के मार्ग को हम मे से अधिकाश लोग भूले हुए थे जो परिचित थे, वे भी अपने तक ही सीमित थे, उनके द्वारा कुन्दकुन्द का साहित्य न के बराबर ही चर्चित रहा, इस कारण वह आम जनता के अध्ययन व स्वाध्याय का विषय नही बन सका। हर्ष है कि ठीक दो हजार वर्ष पश्चात् श्री स्वामीजी ने उसी वीतराग मोक्षमार्ग का अनुसरण किया और उस तत्वज्ञान को अपने प्रचार-प्रसार के माध्यमो से उसे जन-जन तक पहुँचाया। जो विद्वानो के पठन-वाचन के योग्य समझे जाते थे, उन शास्त्रो को आज लाखो गृहस्थ श्रावक एव त्यागी-वृन्द अत्ययत श्रद्धा से पढते हैं। फिर भी दु:ख की वात है कि क्वचित् विघ्न-सतोषी लोग गुरुदेवश्री द्वारा डाली हुई सामूहिक स्वाध्याय परम्परा का तथा सोनगढ व जयपुर से प्रकाशित आर्ष-ग्रन्थो का वहिष्कार करने मे अपना व समाज का अहित होते हुये भी हित मान रहे हैं। भगवान उन्हे सद्बुद्धि दे कि वे भी स्वाध्याय करने लग जावें एव दुर्लभ नर भव सफल करे।

☐

लेखक परिचय . उम्र : ४५ वर्ष। शिक्षा इन्जीनियरिंग। अभिरुचि : तात्विक अध्ययन-मनन एव प्रवचन और धर्मग्रन्थो का आग्ल भाषा मे अनुवाद। सम्प्रत्ति : बी० एच० ई० एल० मे इन्जीनियर। सम्पर्क-सूत्र : एम० १०/A सोनागिरि बी०एच०ई०एल०, रायसेन रोड, भोपाल-४६२-०२१

कुन्दकुन्द के पंचपरमागम

– गुणमाला भारिल्ल

□

(चेतना प्रतिदिन प्रातः जिनमन्दिर जाती, वहाँ समयसार का प्रवचन सुनती। लक्ष्मी प्रातः उठकर कामिक्स पढ़ती और अपनी सहेलियों को ठहाके लगा-लगा कर सुनाती)

लक्ष्मी – अहा ! कितना अच्छा लिखा था उस कौमिक में !

चेतना – क्या खाक अच्छा था, सरासर गप्पे होती हैं कौमिको में, 'कही की ईंट कही का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोडा।

लक्ष्मी – हाँ, हाँ उसमे तो 'कही की ईंट कही का रोडा' होता है। और तुम्हारे समयसार मे ?........रोज-रोज वही एक आत्मा-आत्मा की रट........(ठहाका)

सरला – (बीच में ही) – लक्ष्मी, तू यह क्या कहे जा रही है ? मुझे तो कुछ समझ मे नही आता। जब देखो तब तुम दोनो बहस ही किया करती हो। मैं तो यह जानती हूँ कि जिस को जो अच्छा लगे सो करे।

लक्ष्मी – देख न सरला ! यही तो मैं कहती हूँ, पर यह कहाँ मानती है, कहती है कि तू भी मन्दिर चला कर, समयसार सुना कर, आत्मा को जानने की कोशिश किया कर ! इस दुनियादारी में क्या रखा है। लेकिन सरला अभी तो हमारे खेलने-खाने के दिन है न ? ये मन्दिर-फन्दिर जाना तो बुढापे की बातें है ?

सरला – छि., छि:, मन्दिर को फन्दिर कहती हो अरे ! मन्दिर में तो भगवान होते है। जो अपने आराध्य है। उनकी पूजा-अर्चना नही करेंगे तो फिर किसकी करेंगे ?

लक्ष्मी – सरला, यह पूजन करने को कहाँ कहती है ? यह तो एक आत्मा की ही रट लगाये रहती है। उसी मे खोयी रहती है। न खाना, न खेलना, यह तो अभी से दार्शनिक बनी जा रही है। और मुझसे भी कहती है कि क्या रखा है इसमे, तुम तो आत्मा को जानो।

सरला – लक्ष्मी ! तुमने चेतना से पूछा कि ये आत्मा क्या बला है ?

लक्ष्मी – नही, यह तो यही जाने पर आज इसका आत्मा सुनूगी जरूर, ताकि इसकी रोज-रोज की खट-खट खतम हो जावे।

चेतना – ऐसे क्रोधित होकर आत्मा थोडे ही समझ मे आता है, वह तो शान्तचित्त से सुना जाता है, जिज्ञासा से सुना जाता है। जब तुम्हे जिज्ञासा जगे, लगनी लगे, तो मन्दिर मे आना। ऐसे खट-खट खतम करने को नही।

सरला – हाँ, ठीक है, हम कल मन्दिरजी मे आयेंगी।

लक्ष्मी – मैं भी आऊँगी, पर कितने बजे ?

चेतना – सुबह ८ बजे और शाम ८ बजे।

(मन्दिर मे समयसार ग्रन्थ पर प्रवचन चल रहा है।)

"यहाँ 'समय' का तात्पर्य 'आत्मा' से है और 'प्राभृत' का तात्पर्य सार से। इसप्रकार एक तो आत्मा की शुद्धावस्था का नाम ही "समयप्राभृत" है तथा जो उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ हो, जिसमे पदार्थो का पूर्वापर विरोध-रहित सागोपाग वर्णन हो, उसे भी "समयप्राभृत" कहते है।" ... ..."

ऐसे गूढ-गम्भीर प्रवचन को चेतना तो बडी तन्मयता से सुन रही थी पर सरला तथा लक्ष्मी को कुछ समझ मे नही आ रहा था, अत उनका एक घण्टा बडी मुश्किल से बीता।

लक्ष्मी – (बाहर आते ही) देखा सरला, अपने तो कुछ पल्ले नही पडा। मैं तो समझती हूँ कि तुम्हे भी कुछ समझ मे नही आया होगा। इसे न जाने क्यो अच्छा....

सरला – एक ही दिन मे सभी कुछ थोडे ही जान लिया जाता है। स्कूल मे भी तो एक वर्ष मे एक क्लास पढते है। हम चेतना से धीरे-धीरे सब सीख लेंगी। चेतना ! यह समयसार नाम बीच बीच मे जो आता था, वह क्या है ?

चेतना – चलो एक जगह बैठकर आराम से बात करेगे। देखो बहिन ! समयसार एक ग्रन्थ का नाम है, इसे इसी भारत भूमि मे आचार्य कुन्दकुन्द ने बनाया था। आप दिगम्बर जिन आचार्य परम्परा मे सर्वोपरि है। द्वितीय श्रुतस्कध के आद्य-रचनाकार है। जिन अध्यात्म के जाज्वल्यमान रवि है। आपने समयसार मे शुद्धात्मा का उद्घाटन किया है।

हमारी आत्मा मे विकारी एव अविकारी दो प्रकार के भाव होते हैं। इन विकारी और अविकारी भावो से रहित जो शुद्ध आत्मा है, उसे ही इस समय-प्राभृत ग्रन्थ मे "समयसार" शब्द से अभिहित किया है। वैसे आत्मा की जो शुद्धावस्था है वही समयसार है।

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति समयसार मे शुद्धनय की दृष्टि से नवतत्वो का वर्णन किया, इसमे ४१५ गाथाएँ है और नौ अधिकारो मे विभक्त है। इसका मूल उद्देश्य तो आतमस्वरूप की पहिचान कराना है। आचार्य भी यही कहते हैं कि उस एकत्व विभक्त आत्मा को अपने स्ववैभव से दिखाता हूँ।

सब लोको मे काम-भोग-बन्ध की कथा तो बहुत सुनने मे आई है, परिचय मे आयी है और अनन्त बार अनुभव मे आई है, अत वह सुलभ है। यह जीव

संसाररूपी चक्रमें फंसकर निरन्तर द्रव्य क्षेत्र, काल, भव, भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण करता है, किन्तु इस जीव ने सब परद्रव्यो से भिन्न एक चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा न सुनी, न परिचय किया, न अनुभव ही किया, इसलिये वह कठिन है, सरल नही। इस जीव ने कर्ताबुद्धि लगा रखी है, कर्तृत्व के अभिमान चूर हुआ जा रहा है। कभी सोचा भी नही कि मै एक हूँ, अनादि अखण्ड विज्ञानघन स्वभाववाला एक ध्रुव चैतन्यघन पिण्ड आत्मा हूँ।

लक्ष्मी – अच्छा चेतना, यह तो मैं समझ गई, अब कुछ प्रवचनसार के विषय मे भी तो बताओ।

चेतना – हाँ, प्रवचनसार एक ज्ञान प्रधान ग्रन्थ है, इसमें प्रमाण व्यवस्था और प्रमेय-व्यवस्था का गहराई से विवेचन किया गया है। सर्वज्ञता का स्वरूप और उत्पाद-व्यय ध्रौव्य का स्वरूप तो अपने आप मे अद्भुत एवं पठनीय है। इसमे चारित्र का स्वरूप भी प्रतिपादन किया गया है। जो दर्शन-ज्ञान-चरित्र मे स्थित हैं वे ही सच्चे श्रमण हे। इस ग्रन्थ की ८०वी गाथा मे आचार्य कहते है कि जो अरहंत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है वह आत्मा को जानता है, और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

ऐसे ही यह जीव अरस, अरूप, अगध, अव्यक्त, चेतनागुणयुक्त, अशब्द, और अलिंग ग्रहण कहा गया है। यह मोक्ष की इच्छा वाला ज्ञायकस्वभाव भी आत्म तत्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व के त्याग रूप और निर्ममत्व के ग्रहणरूप विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा मे प्रवृत्त होता है। अब एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयो को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूह वाले अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को – मानो वे द्रव्य ज्ञायक मे उत्कीर्ण हो गये हो, चित्रित हो गये हो, भीतर घुस गये हो, कीलित हो गये हो, डूब गये हो, समा गये हो, प्रतिबिम्बित हों – इसप्रकार एकक्षण मे ही प्रत्यक्ष करता है। यह जीव अनन्त शक्ति वाले ज्ञायक स्वभाव के द्वारा कभी भी अपनी एकरूपता को नही छोड़ता है।

सच्चा श्रमण कौन है ? – जो श्रमण पंचेन्द्रियो से विरक्त, कषायो को जीतने वाला, पांच समिति, तीन गुप्ति से युक्त, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, साम्यस्व-भावी है, तथा जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे स्थित है, वह सच्चा श्रमण है। भ्रष्ट श्रमणो को ससारतत्व कहा है। वीतरागी सन्तो को मोक्षतत्व एव मोक्ष साधन-तत्व कहा गया है। उसमें शुद्धोपयोगरूप चारित्र धारण करने की भी प्रेरणा दी गई है। जो वस्तुस्वरूप को सही ग्रहण नही करते वे अनन्तकाल तक ससार मे रहने से संसारतत्व है, वस्तुस्वरूप के सम्यग्ज्ञाता, आत्मानुभवी प्रशान्त शुद्धो-पयोगी श्रमण ही मोक्षतत्व है।

सरला – (चेतना से) और पचास्तिकाय में क्या है ?

चेतना – हाँ, हाँ सुनो पचास्तिकाय भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था का विशद विवेचन करनेवाला ग्रन्थराज है। जिनागम मे प्रतिपादित द्रव्य एव पदार्थ व्यवस्था की सम्यक् जानकारी विना जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म मे प्रवेश पाना सभव नही है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने पचास्तिकाय सग्रह नामक इस ग्रन्थ मे जिनागम मे प्रतिपादित द्रव्य व्यवस्था एवं पदार्थ व्यवस्था का सक्षेप मे परिचय दिया है। इसमे आचार्य ने पांच अस्तिकायो का सम्यक्वोध कराया है।

समय तीन प्रकार का है – शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय। शब्दागम शब्दसमय है, ज्ञानागम ज्ञानसमय है एव सर्वपदार्थसमूह अर्थसमय है। अर्थसमय दो प्रकार का है – लोक व अलोक। पचास्तिकाय का समूह ही लोक है। लोक के आगे अलोक है। ये पांचो अस्तिकाय काल सहित छहद्रव्य कहलाते हैं, छहो द्रव्य एक-दूसरे को अवगाह देते है। एक-दूसरे मे प्रवेश करते हैं, परस्पर मिल जाते है, इनमें अत्यन्त सकर होने पर भी अपने-अपने स्वरूप को नही छोडते हैं।

द्रव्य का न तो उत्पाद होता है ना ही विनाश, वह तो सत्स्वभाववाला है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवता पर्याये करती हैं। द्रव्य के बिना पर्याये नही होती है और पर्यायो के विना द्रव्य नही होता, द्रव्य के बिना गुण नही होते और गुणो के विना द्रव्य नही होता, इसप्रकार वे अनन्य ही हैं। विवक्षा के भेद से द्रव्य सात भग वाला है। सत् का नाश व असत् का उत्पाद नही होता। सम्पूर्ण पदार्थ गुण पर्यायो मे ही उत्पाद-विनाश करते है।

जीव-स्वभाव मे नियत चारित्र ही मोक्षमार्ग है। जीव का स्वभाव ज्ञानदर्शन है, जो कि जीव से अनन्य है, अनिन्दित है, अत. जव जीव स्वभाव मे नियत होता हुआ स्वचारित्र को करता है, तव वह कर्मवन्ध से छूट जाता है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के समस्त प्रतिपादनो का उद्देश्य शुद्धात्मतत्त्व का सम्यग्ज्ञान कराना है, द्वितीय खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थ-विज्ञान पूर्वक उक्त शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग बताना है।

अच्छा अब समय ज्यादा हो गया है, शेष फिर कभी ।

सरला – हाँ, समय तो बहुत हो गया, पर नियमसार और अष्टपाहुड तो रह ही गये हैं, सक्षेप मे उनसे भी परिचित करा दीजिए न !

चेतना – अच्छा सुनो ! आचार्य कुन्दकुन्द ने "नियमसार" नामक ग्रन्थ का प्रणयन अपनी भावनाओ के निमित्त किया था। यह ग्रन्थ भावनाप्रधान है। आचार्य देव जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही चारित्र मे कट्टर थे। नियमसार मे ही उनकी साधुओ की कट्टरता देखने को मिलती है। वे शिथिलाचार के कट्टर विरोधी थे। नियम शब्द का अर्थ है जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप कार्य वह नियम है मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिहार के लिए नियम के साथ सार का प्रयोग किया गया है। फिर रत्नत्रयरूप नियम का निरूपण है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव को समस्त विभाव स्वभावो का, ससार विकारो का और पौद्गलिक विकार समूहो का अभाव है। चूंकि उक्त सभी भाव परस्वभाव है, परद्रव्य है, अतः हेय है।

निश्चय से यह आत्मा निर्दंड, निर्द्वन्द, निर्मम, नि:शरीर, निरावलंब निर्दोष, निर्मूढ, निर्ग्रन्थ, नि राग, नि·शल्य, निष्काम, निर्मान, निर्मद, अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिगग्रहण, अनिर्दिष्टसस्थान, सर्वदोषविमुक्त एव चेतनागुणवाला है, इस प्रकार यह आत्मा स्वद्रव्य होने से उपादेय है।

आचार्य ने पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एव पचपरमेष्ठी की भक्ति को व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत लिया है। चारित्र को दृढ़ करने के लिए प्रतिक्रमणादि होते है। ध्यान को ही आचार्य ने निश्चयप्रतिक्रमण कहा है। आत्मा की आराधना ही परमार्थ प्रतिक्रमण है। शास्त्रो मे कहे अनुसार आचरण करना व्यवहार-प्रतिक्रमण है। आत्मा के शुद्धज्ञान की स्वीकृति ही प्रायश्चित है। व्रत-समिति-शील-संयम रूप परिणाम एव इन्द्रिय-निग्रहरूप भाव प्रायश्चित है। वचनोच्चारण क्रिया को छोड़कर वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान ही परम समाधि है। यह समाधि ध्यान सयम नियम और तप पूर्वक होती है। जो अन्तर्बाह्य जल्प मे वर्तता है, वह बहिरात्मा है। जो धर्मध्यान, शुक्लध्यान परिणत है, वह अन्तरात्मा। व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है, दर्शन भी परप्रकाशक है। निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक है, दर्शन भी स्वप्रकाशक है। इसलिये आत्मा स्वप्रकाशक है। अत· ज्ञान-दर्शन स्वप्रकाशक है।

नियमसार मे एक ही ध्वनि है। परमपारिणामिक भावरूप निज शुद्धात्मा की आराधना मे ही समस्त धर्म समाहित हो जाते हैं। यह नियमसार मुख्यत: मोक्षमार्ग के निरुपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थ है।

अष्टपाहुड मे आचार्य कुन्दकुन्द के आचार्यत्व और प्रशासक के रूप मे दर्शन होते है। यह ग्रन्थ न तो प्रवचनसार और पचास्तिकाय सग्रह के समान वस्तुस्वरूप का प्रति-पादक ग्रन्थ है, न ही समयसार और नियमसार की भाँति आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत। आचार्य ने इसमे अपने शिष्यो के आचरण को अनुशासित किया है, शिथिलाचार के विरुद्ध आदेश है, प्रेरक उपदेश के साथ मृदुल सम्बोधन भी है। यह ग्रन्थ पूरा उपलब्ध भी नही है। प्रत्येक पाहुड स्वतत्र प्रतीत होते है; क्योकि मगलाचरण सभी के अलग-अलग है। दो पाहुड के मगलारण एक जैसे हैं। धर्म का मूल दर्शन (सम्यग्दर्शन) है। जो जीव सम्यग्दर्शन से रहित हैं वे वदनीय नही हैं। वे अनेक शास्त्रो के पाठी हो, उग्रतप करते हो करोडो वर्षों तप करते रहे, परन्तु जो सम्यग्दर्शन से रहित है उन्हे आत्मोपलब्धि नही होती। सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है। जो जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो से भ्रष्ट है वे तो महाभ्रष्ट है। ऐसे लोग स्वय के साथ पर का भी अहित करते है।

जैन दर्शन मे तीन वेष मान्य है – (१) जिनेन्द्र भगवान के समान नग्न दिगम्बर साधु वेष, (२) उत्कृष्टश्रावक (क्षुल्लक-ऐलक) (३) आर्यिका का वेष। जैन दर्शन मे चौथा कोई वेष नही है।

छह द्रव्य, नोपदार्थ, पाँच आस्तिकाय, सप्त तत्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निश्चय सम्यग्दर्शन तो आत्मरूप ही है। वह सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की प्रथम सीढी है। धर्म का मूल ही सम्यग्दर्शन है।

आत्मस्वभाव से भिन्न स्त्री-पुत्रादिक, धन-धान्यादिक सभी चेतन अचेतन पदार्थ परद्रव्य है। इनसे भिन्न ज्ञानशरीरी, अविनाशी निज भगवान आत्मा स्वद्रव्य है। जो मुनि परद्रव्यो से पराङ्मुख होकर स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो मुनि अपने मे सोता है वह पर मे जागता है, जो पर मे सोता है वह अपने मे जागता है। तत्व-रुचि, सम्यग्दर्शन, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान एव पुण्य-पाप का परिहार सम्यक्चारित्र है। परद्रव्य के आश्रय से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य के आश्रय से सुगति होती है इसलिये मुझे एक आत्मा की ही शरण है। इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने इस अष्टपाहुड ग्रन्थ मे अपने भावलिग को ध्यान मे रखकर कट्टरता से मुनिलिंग का विस्तार से वर्णन किया है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द देव ने हमे भक्त से भगवान बनने का मार्ग प्रशस्त किया है। चेतना द्वारा इस प्रकार तत्वज्ञान प्राप्त कर लक्ष्मी एव सरला ने आभार व्यक्त करते हुए कहा – चेतना तुम्हे धन्यवाद ! यदि कभी-कभी तुम अपना अमूल्य समय इसी भाँति देती रहो तो बहुत ही अच्छा हो। अच्छा जय जिनेन्द्र ! जय जिनेन्द्र !! □

लेखिका परिचय :– उम्र ४८ वर्ष। शिक्षा : प्रवेशिका, विद्याविनोदिनी, सैकण्डरी। अभिरुचि : धार्मिक अध्ययन, अध्यापन। सम्पर्क-सूत्र W/o डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर (राज०) ३०२०१५

आगे पुन. इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हुए नाना युक्तियों से सर्वज्ञता का स्वरूप निर्धारित किया है। प्रवचनसार मे आचार्य कहते है कि –

जो तीनो लोको मे स्थित, त्रिकालवर्ती पदार्थो को एकसाथ नही जानता, वह अनन्त पर्यायो सहित एक द्रव्य को भी, नही जान सकता। तथा जो अनन्त पर्यायो सहित एक द्रव्य को नही जान सकता, वह समस्त अन्य द्रव्यो को कैसे जान सकता है ?

जिनेन्द्रदेव का ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्वत्र विद्यमान विषय और विचित्र पदार्थो को एकसाथ जानता है, ज्ञान का यह माहात्म्य आश्चर्यजनक है।

क्षायिकज्ञान की अनुत्पन्न व्याख्या से यह स्पष्ट है कि केवलज्ञान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता है। वर्तमान की तरह वह अतीत व अनागत पर्यायो को भी जानता है। एक द्रव्य मे जितनी अतीत, अनागत और वर्तमान अर्थ पर्यायें होती है, उन सबका समुदाय ही तो द्रव्य होता है। अत. उन सबको जाने बिना एक द्रव्य का पूरा ज्ञान नही होता। पूर्ण ज्ञान वही है जो सबको जानता है।[1]

वस्तुव्यवस्था के नियमानुसार सत् का कभी विनाश नही होता और न सर्वथा असत् का उत्पाद होता है। अत: द्रव्यदृष्टि से अतीत व अनागत पर्याये मे समुद्र की लहरो की भाँति द्रव्य मे विलीन हो जाने पर पर भी सत् हैं और जो सत् है, वे सब ज्ञेय हैं, अत: सर्वज्ञ के ज्ञान की विषय है।

प्रवचनसार का ज्ञानाधिकार समाप्त करते हुए कुन्दकुन्द के प्रमुख टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने कलश मे कहा है कि – "जिसने कर्मों को छेद डाला है वह आत्मा भूत, भविष्यत् और वर्तमान समस्त विश्व को अर्थात् तीनो कालो की पर्यायो से युक्त समस्त पदार्थो को एक ही साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नही होता, इसलिए अब जिस के समस्त ज्ञेयाकारो को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वय पी गया है – ऐसे तीनों लोको के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।[2]

केवलज्ञान रूपी तीसरे नेत्र से जिनकी महिमा प्रगट है, जो तीन लोक के गुरु हैं तथा जिनका अनन्त धाम तेज या बल है, ऐसे बल है, ऐसे तीर्थंनाथ जिनेन्द्र भगवान

---

[1] जो ण विजाणदि जुगव अत्थें तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादु तस्स ण सक्क सपज्जय दव्वमेग वा ।। – प्रवचनसार गाथा ४८
दव्व अणतपज्जयमेगमणताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि ।। – प्रवचनसार गाथा ४९
उप्पज्जदि जदि णाण कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
त णेव हवदि णिच्च ण खाइग णेव सव्वगद ।। – प्रवचनसार गाथा ५०

[2] प्रवचनसार कलश ४, आ. अमृतचन्द्र

लोकालोक को अर्थात् स्व-पर को एव समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं ।[1]

इस सदर्भ मे जितना अधिक चिन्तन-मनन एव एवं अध्ययन किया जाय, वह उतना ही अधिक उपयोगी है । अतः इस महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु से सम्बन्धित आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारो के साथ अन्य आचार्यों के कथनो पर दृष्टिपात करना अप्रासगिक नही होगा ।

षट्खण्डागम की धवला टीका मे केवलज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि –

"केवल असहाय को कहते है । जो ज्ञान असहाय अर्थात् इन्द्रिय व आलोक की अपेक्षा रहित है, त्रिकाल गोचर अनन्त पर्यायो से समवाय सम्बन्ध को प्राप्त अनन्त वस्तुओ को जाननेवाला है, असकुचित अर्थात् सर्वव्यापक है, उसे केवलज्ञान कहते है ।

केवली जिन अशेष द्रव्य पर्यायो को विषय करते है, अपने सब काल मे एकरूप रहते है और इन्द्रियज्ञान से रहित है ।[2]

सिद्ध भगवान का स्वरूप बतलाते हुए धवला मे कहा गया है कि –

"जिन्होने सर्वांग से सर्व पदार्थों को जान लिया है, वे सिद्ध है ।[3]

महापुराण मे यह चर्चा इसप्रकार आयी है कि भगवान ऋषभनाथ के समोशरण मे भरत चक्रवर्ती ने प्रश्न किए और ऋषभनाथ ने उनके प्रश्नो के पूरे होने पर उत्तर दिये । उस सदर्भ मे शकाकार ने वहाँ शका उठायी कि ऋषभनाथ तो भरत के द्वारा प्रश्न करने के पहले ही सब जानते थे फिर उन्होने उनके प्रश्नो की प्रतीक्षा क्यो की ? प्रश्न करने के पूर्व ही उनका समाधान क्यो नही कर दिया ?

समाधान मे वहाँ कहा गया है कि – "ससार के सब पदार्थों को एकसाथ जानने-वाले भगवान ऋषभनाथ यद्यपि प्रश्न के बिना ही भरत महाराज के अभिप्राय को जान गये थे, तथापि वे श्रोताओ के अनुरोध से प्रश्न के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करते रहे ।[4]

---

1 सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरु शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्तपरमखिल चेतनाचेतन च ।
तार्तीय यन्नयनमपर केवलज्ञानसज्ञ
तेनैवाय विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्र । नियमसार कलश २८३

2 केवलमसहायमिंदिया लोय निरवेक्ख मोयराणत ।
पज्जाय सम वेदाण तवत्थु परिमसकुडिय असवन्त केवल णाण ।
ध १३×५, ५, २१, २१३,४
केवलिस्स विसईकयासेस दव्व पज्जायस्स सगसव्वद्धाए एगरूवस्स
अणिंदियस्स" ध १३/५,४,२६,८६,५

3 सव्ववय वेहिदिट्ठसव्वट्टा – धवला १/१,१,१,/२७/४८

4 प्रश्नाद्विनैव तद्भाव जानन्नपि स सर्ववित् ।
तत्प्रश्नान्तमुदैक्षिष्ट प्रतिपन्ननिरोधत १/८२ महापुराण

प्रश्न – यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते है तो व्यवहार-नय से ही उन्हे सर्वज्ञत्व भी होवे, निश्चयनय से नही ?

उत्तर – जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं उसीप्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नही जानते, इसकारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण ।[1]

"जाइय अप्प" जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ । अप्पहे/करेइ भावडइ, बिंबिउ जेण वसेय ।।

अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना जाता है, क्योकि आत्मा के भाव-रूप केवलज्ञान मे यह लोक प्रतिबिम्बित हुआ बस रहा है ।[2]

रत्नकरण्ड श्रावकाचार का मगलाचरण करते हुए स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते है कि –

"जिनके केवलज्ञान रूप दर्पण मे अलोकाकाश सहित तीनों लोक प्रतिबिम्बित होते हैं, उन वर्द्धमान स्वामी के लिए मेरा नमस्कार हो ।[४]

इसी अभिप्राय का पोषक कथन पुरुषार्थसिद्धयुपाय के मगलाचरण मे भी किया गया है । वे लिखते हैं कि –

"वह केवलज्ञान ज्योति जयवन्त वर्ते, जिसमे समस्त द्रव्यो की त्रिकालवर्ती पर्यायें दर्पणतल मे प्रतिबिम्बित हुए पदार्थो के प्रतिबिम्ब की भांति सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं ।[3]

आचार्य उमास्वामी ने मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय व केवलज्ञान का विषय निरूपण करते हुए केवलज्ञान के विषय मे कहा है कि – केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों की सम्पूर्ण पर्यायें हैं ।[५] अर्थात् केवलज्ञान एक समय मे समस्त द्रव्यो की भूत, भावि, वर्तमान – सभी त्रिकालवर्ती पर्यायो को जानता है ।

आत्मा जब ज्ञानस्वभाव है और आवरण के कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खण्ड-खण्ड प्रगट होता है तो सम्पूर्ण आवरण के हट जाने पर ज्ञान को अपने पूर्ण रूप में प्रकाशमान होना ही चाहिए । जिसप्रकार अग्नि का स्वभाव जलाने का है । यदि कोई प्रतिबन्धक न हो तो अग्नि ईंधन को जलाती ही है, उसीप्रकार ज्ञानस्वभाव आत्मा ज्ञानावरणादि प्रतिबन्धक कारणों के हट जाने पर जगत के समस्त पदार्थों को जानेगा ही ।

---

[1] परमात्मप्रकाश टीका १/५२/५०/१०

[2] जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ । – परमात्मप्रकाश गाथा–९९

[3] नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।।१।। – रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक १

[४] तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।। – पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक १

[५] सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य" तत्त्वार्थसूत्र–१/२९

इसप्रकार सम्पूर्ण जिनागम मे केवलज्ञान का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट रूप से स्व-पर प्रकाशक कहा गया है। अत इसमे किंचित् भी इस सदेह की गुजाइश नही है कि– केवलज्ञान केवल आत्मा को जानता है, लोकालोक को नही।

जब से क्रमबद्धपर्याय चर्चित हुई और उसकी सिद्धि मे केवलज्ञान का सशक्त आधार प्रस्तुत किया गया तो सर्वप्रथम तो क्रमबद्धपर्याय से अन्तर्विरोध रखनेवाले तिलमिला से उठे और बाद मे अपनी मुट्ठा ठेली से केवलज्ञान की व्याख्यायें ही वदलने पर तुल गये।

तथा जिनागम मे से ही अपने मन के अर्थ खोज-खोज कर सामान्य जनों को दिग्भ्रमित करने लगे।

एतदर्थ वहुत समय से केवलज्ञान के स्वरूप की आगम के आधार पर सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करने का विकल्प मन मे चल रहा था, जिसकी आंशिक पूर्ति करने का यह प्रयास किया है।

आशा है सुधी पाठक इससे प्रेरणा लेकर आगम के अभ्यास से यथार्थ निर्णय लेने मे सफल होगे। □

लेखक परिचय – जन्म : २१ नवम्बर, १९३२ (५७ वर्ष)। शिक्षा : शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम०ए०, बी०एड०। अभिरुचि : आध्यात्मिक अध्ययन, लेखन और प्रवचन आदि द्वारा तत्त्व प्रचार-प्रसार मे सक्रिय योगदान। साहित्यिक कार्य : मौलिक लेखन एवं अनुवाद और सम्पादन। सम्प्रति : जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) के सम्पादक एव श्री टोडरमल दि० जैन सि० महाविद्यालय के प्राचार्य। सम्पर्क-सूत्र - ए-४, वापूनगर, जयपुर–३०२०१५

विज्ञापन खण्ड : क्यों पढ़ें ?

अब आप विज्ञापन-खण्ड पढिये, क्योंकि अधिकाश विज्ञापनों में आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों से चुन-चुनकर आत्महितकारी अनमोल वचनामृत दिए गए है। अत प्रिय पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि आप इस खण्ड को भी ध्यान से पढ़ें।

— सम्पादक

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धौवै निजगुण चीर।।

—समयसार नाटक

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर

शुभकामनाओं सहित — प्रेमचन्द जैन
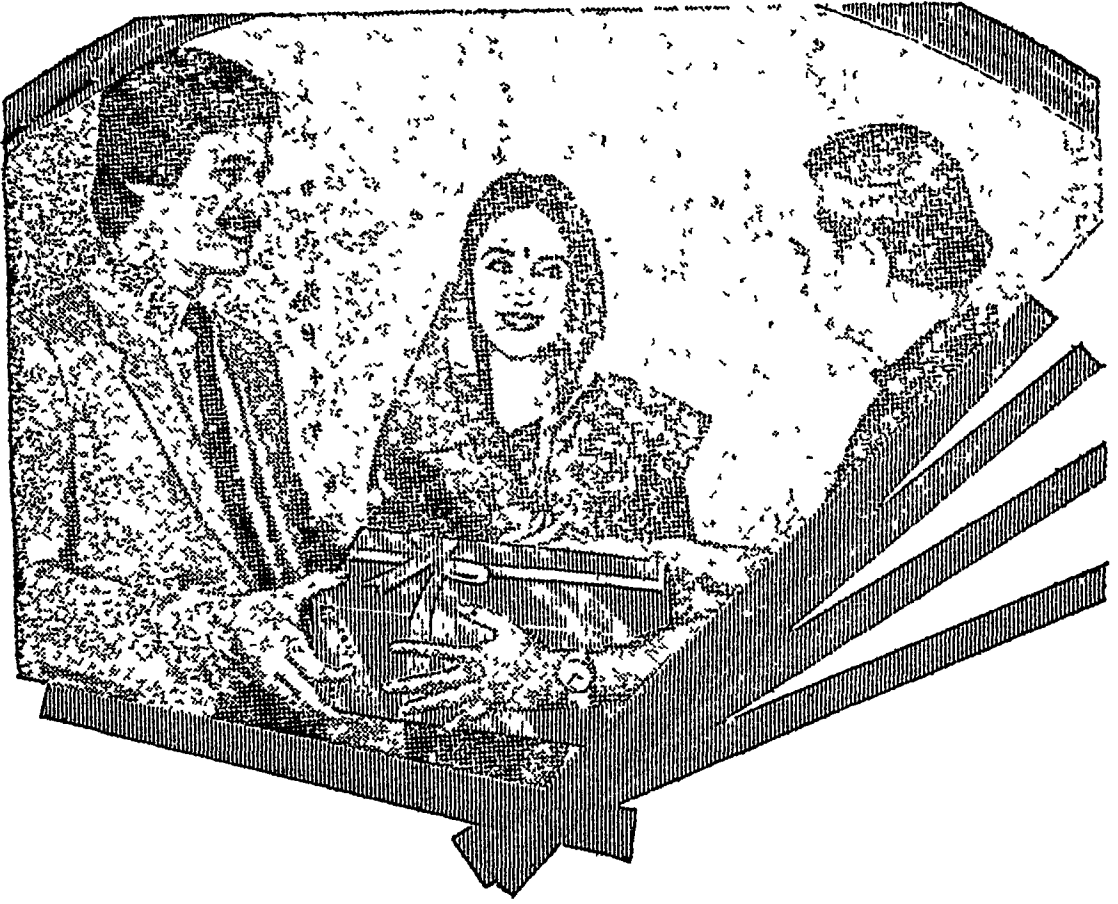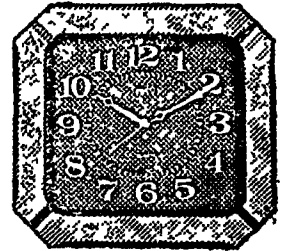
श्री टोडरमल दि० जैन सि० महाविद्यालय

के गौरव

जिन पर हमें गर्व है

महेश चद जैन
गुडा, ललितपुर (उ प्र)

ऋषभ कुमार जैन
छिंदवाडा (म प्र)

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के भूतपूर्व छात्र महेश चन्द जैन, शास्त्री ने राजस्थान विश्वविद्यालय की एम ए (सस्कृत) परीक्षा मे 74 प्रतिशत अक प्राप्त करके प्रथम स्थान एव ऋषभ कुमार जैन ने उपर्युक्त परीक्षा मे ही 70 प्रतिशत अक प्राप्त कर द्वितीय स्थान प्राप्त किया है ।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन शास्त्री परीक्षा मे भी ये दोनो स्वर्ण पदक प्राप्त कर चुके हैं ।

– रतनचंद भारिल्ल
प्राचार्य, महाविद्यालय

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जातें भये, अरहन्तादि महान ।।

हार्दिक शुभकामनाएँ

जिनशासन की प्रभावना हेतु कृतसंकल्पित

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

गतिविधियाँ एवं उपलब्धियां

- बालको मे तत्त्वज्ञान एव सदाचार के संस्कार-सिंचन हेतु रोचक एव बोधगम्य शैली मे आठ पाठ्यपुस्तको का निर्माण एव हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड, बगला एव अग्रेजी मे जुलाई, १९८८ तक ६,८३,५०० (छ लाख तिरासी हजार पाँच सौ) प्रतियो का प्रकाशन।
- सत्-साहित्य के ८७ पुष्पो की ७ भाषाओ मे जुलाई, १९८८ तक १३,९२,६४१ (तेरह लाख बानवे हजार छः सौ इकतालीस) प्रतियो का प्रकाशन। गत सत्र मे १,०१,०७० प्रतियो का प्रकाशन।
- मार्च, १९८८ तक रु० ३५,९४,४२६ ५० (पैंतीस लाख चौरानवे हजार चार सौ छब्बीस रुपये पचास पैसे) का साहित्य विक्रय। सत्र ८७-८८ मे रु० ६,०४,४११.४५ का साहित्य विक्रय।
- ३,०३,३२८ (तीन लाख तीन हजार तीन सौ अट्ठाईस) छात्र श्री वीतराग-विज्ञान पाठशाला परीक्षा बोर्ड द्वारा सचालित परीक्षाओ से लाभान्वित।
- बीस शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरो के माध्यम से ४०७७ प्रशिक्षित धर्माध्यापक।
- आध्यात्मिक मासिक पत्रिका 'वीतराग-विज्ञान' का प्रकाशन। जुलाई, १९८८ तक ४४०५ आजीवन ग्राहक एव १२६६ वार्षिक ग्राहक बन चुके है।
- वीतराग-विज्ञान शिक्षण शिविरो के माध्यम से हजारो भाई-बहिनो मे तत्त्वाभ्यास हेतु जागृत नई चेतना।
- श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालत एव सत्साहित्य प्रकाशन विभाग के सचालन हेतु टोडरमल स्मारक भवन के उपयोग की नि शुल्क सुविधा।
- धार्मिक लाभ लेने वाले मुमुक्षुओ के निवास की सुन्दर व्यवस्था।
- श्री टोडरमल स्मारक भवन मे स्थित सीमन्धर जिनालय मे ३०० भाई-बहिनो द्वारा प्रतिदिन जिनदर्शन एव करीब १२० भाई-बहिनो द्वारा नियमित जिनेन्द्र-पूजन।

अध्यक्ष
पूरणचन्द गोदीका

महामन्त्री
नेमीचन्द पाटनी

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर

फोन : ६३५८१

दुविधा कब जैहै या मन की

दुविधा कब जैहै या मन की।

कब निजनाथ निरजन सुमिरो, तज सेवा जन-जन की ।।दुविधा०।।
कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक, बूंद अखयपद घन की।
कब सुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूँ न ममता तन की ।।दुविधा०।।
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढता सुगुरु-वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ।।दुविधा०।।
कब घर छाडि होहूँ एकाकी, लिये लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि बलि वा छन की ।।दुविधा०।।

– समयसार नाटक, पृष्ठ १७१

श्रीमती पतासीदेवी पाटनी

धर्मपत्नी स्वर्गीय इन्द्रचन्द पाटनी
मातेश्वरी श्री बाबूलाल पाटनी

इन्द्रचन्द मोहनलाल पाटनी
लाडनूं (राज०)

बाबूलाल राजेशकुमार पाटनी
'पूनम पेलेस', ए टी रोड
गौहाटी (आसाम) 781 001
फोन . 31245

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥

जीव नाना प्रकार के हैं, कर्म नाना प्रकार के हैं, लब्धियाँ नाना प्रकार की हैं, इसलिये स्वसमयो तथा परसमयो के साथ वचन-विवाद उचित नही है ।

— नियमसार, गाथा १५६

□

स्वरूप की साधना मे सावधान रहो

जो योगी व्यवहार मे सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम मे जागता है और जो व्यवहार मे जागता है, वह अपने काम मे सोता है। – अष्टपाहुड, गाथा ३१

कान खोलकर सुनो !

जिनवर देव ने अपने शिष्यो से कहा है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। अत हे जिनवर देव के शिष्यों ! कान खोलकर सुन लो कि सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति वन्दना करने योग्य नही है। – अष्टपाहुड, गाथा २

भ्रष्टों में भ्रष्ट कौन ?

जे दसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरियभट्ठा य ।
एदे भट्ठ वि भट्ठा सेस पि जण विणासति ॥

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं एव सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्टो मे भ्रष्ट हैं । ऐसे लोग स्वय तो नष्ट है ही, अन्य जनो को भी नष्ट करते है; अत ऐसे लोगो से सदा दूर रहना चाहिए । — अष्टपाहुड दर्शनपाहुड, गाथा ८

पुण्य-पाप मे अन्तर नहीं है – जो न माने बात ये।
संसार-सागर मे भ्रमे मद-मोह से आच्छन्न वे।।

इसप्रकार जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप मे कोई अन्तर नही है' – ऐसा नही मानता है अर्थात् उन्हे समानरूप से हेय नही मानता है, वह मोह से आच्छन्न प्राणी अपार घोर संसार मे अनन्तकाल तक परिभ्रमण करता है। – प्रवचनसार, गाथा ७७

पहले भाव से नग्न हो...

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंग जिणाणाए।।
मिथ्यात्व का परित्याग कर हो नग्न पहले भाव से।
आज्ञा यही जिनदेव की फिर नग्न होवे द्रव्य से।।

पहले मिथ्यात्वादि दोष छोडकर भाव से नग्न हो, पीछे नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण करे – ऐसी जिनाज्ञा है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व छोडे बिना, सम्यग्दर्शन ज्ञान प्राप्त किए बिना, नग्नवेष धारण कर लेने से कोई लाभ नही है, अपितु हानि ही है।

– अष्टपाहुड : भावपाहुड गाथा ७३

युवाशक्ति के सृजनात्मक उपयोग में संलग्न

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

मुख्य कार्यालय

श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२०१५

फोन 63581

स्थापना :- १ जनवरी, १९७७

देश-विदेश मे ३१२ शाखायें निम्नलिखित उद्देश्यो एव गतिविधियो मे सक्रिय

उद्देश्य –

- युवा-वर्ग मे जिनागम के अध्ययन की रुचि जागृत करना।
- सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति वास्तविक बहुमान उत्पन्न करना।
- युवा-वर्ग को जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार और धर्म तथा धर्मायतनो की सुरक्षा हेतु सगठित करना।

गतिविधियाँ –

- देश मे स्थान-स्थान पर धार्मिक शिक्षण-शिविरो का आयोजन।
- गाँव-गाँव मे वीतराग-विज्ञान पाठशालाओ की स्थापना।
- सत्-साहित्य प्रकाशन।
- धार्मिक पर्वों तथा अन्य अवसरो पर समाज को प्रवचनकार विद्वान् उपलब्ध कराना।
- जगह-जगह साहित्य विक्रय केन्द्रो एव पुस्तकालयो की स्थापना।
- सामूहिक स्वाध्याय एव जिनेन्द्र पूजन-भक्ति को प्रोत्साहन।
- कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र का प्रवर्तन।
- उद्देश्य के अनुरूप अन्य साप्ताहिक गोष्ठियाँ, तीर्थयात्रायें, निबन्ध प्रतियोगितायें आदि विविध गतिविधियो का सचालन।
- स्थान-स्थान पर नवीन शाखाओ का गठन।

सदस्यता –

दिगम्बर जैनधर्म मे श्रद्धा तथा फैडरेशन के उद्देश्यो के प्रति आस्था रखने वाले 15 से 40 वर्ष तक के प्रत्येक भाई-बहिन दो रुपये सदस्यता शुल्क जमा करके फैडरेशन के सदस्य बन सकते है।

भवदीय

ब्र० जतीशचन्द्र शास्त्री — अध्यक्ष

विपिनकुमार शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य — महामन्त्री

यदि कोई ईर्ष्याभाव से निन्दा करे जिनमार्ग की।
छोडो न भक्ति वचन सुन इस वीतरागी मार्ग की ।।

यदि कोई ईर्ष्याभाव से इस सुन्दर मार्ग की निन्दा करें तो उनके वचनो को सुनकर हे भव्यो! इस सुन्दर जिनमार्ग मे अभक्ति मत करना। इस सच्चे मार्ग मे अभक्ति-अश्रद्धा करने का फल अनत ससार है, अत किसी के कहने मात्र से इस सुन्दर मार्ग को त्यागना बुद्धिमानी नही है। —कुन्दकुन्द शतक

जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे ।।

प्रश्न — भगवान आत्मा को किस प्रकार ग्रहण किया जाय ?

उत्तर — भगवान आत्मा का ग्रहण बुद्धिरूपी छैनी से किया जाना चाहिए। जिसप्रकार बुद्धिरूपी छैनी से भगवान आत्मा को परपदार्थों से भिन्न किया है, उसी प्रकार बुद्धिरूपी छैनी से ही भगवान आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। —कुन्दकुन्द शतक

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।

जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों, मोह-राग द्वेषादि भावकर्मों एव शरीरादि नोकर्मों मे आत्मबुद्धि रहेगी अर्थात् "यह मै हूँ और कर्म-नोकर्म मुझ मे हैं" – ऐसी बुद्धि रहेगी, ऐसी मान्यता रहेगी। तबतक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि परपदार्थों एव मोहादि विकारी पर्यायो मे अपनापन ही अज्ञान है।

– समयसार, गाथा १९

पुण्य-पाप की समानता

सोवण्णिय पि णियल बधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बधदि एव जीव सुहमसुह वा कद कम्मं ।।

जिसप्रकार लोहे की बेडी पुरुष को बाँधती है, उसीप्रकार सोने की बेडी भी बाँधती ही है। इसीप्रकार जैसे अशुभकर्म (पाप) जीव को बाँधता है, वैसे ही शुभकर्म (पुण्य) भी जीव को बाँधता ही है। बधन मे डालने की अपेक्षा पुण्य-पाप दोनो कर्म समान ही हैं – समयसार, गाथा १४६

ठंसणभट्ठा भट्टा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ।।

जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं, उनको निर्वाण की प्राप्ति नही होती, क्योकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं वे तो सिद्धि को प्राप्त होते है, परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नही होते। तात्पर्य यह है कि चारित्र की अपेक्षा श्रद्धा का दोष बडा माना गया है।

— अष्टपाहुड : दर्शनपाहुड, गाथा ३

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी के अवसर पर

हार्दिक शुभकामनाये

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट

प्रमुख गतिविधियाँ –

- जयपुर में साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग का संचालन।
  (इस विभाग के माध्यम से लागत से भी कम मूल्य मे सत्साहित्य का प्रकाशन होता है तथा जिनवाणी के प्रचार हेतु प्रवचनकार विद्वान बाहर भेजे जाते हैं।)
- जिनवाणी की सेवा मे समर्पित आत्मार्थी विद्वान तैयार करने हेतु जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय का सचालन।
- तीर्थक्षेत्रो की सुरक्षा एवं जीर्णोद्धार हेतु आर्थिक सहयोग।
- बैंगलोर एव मद्रास मे श्री जैन लिटरेचर रिसर्च इस्टीट्यूट का संचालन।
- प्राकृतिक और अप्राकृतिक आक्रमणो से सुरक्षा हेतु सभी तीर्थों का विस्तृत सर्वेक्षण।
- तीर्थों की सुरक्षा हेतु कार्यकर्त्ताओं का विशेष प्रशिक्षण।
- पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों को उन्हीं की वाणी मे सुरक्षित रखने के लिए टेप-सुरक्षा विभाग का संचालन।

– धन्यकुमार बेलोकर, महामन्त्री

मुख्य कार्यालय :

श्री सीमन्धर जिनालय

173/175, मुम्बादेवी रोड, बम्बई-400 002

फोन. 346099

ववहारणग्रो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है, किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कदापि एक नहीं हो सकते है, वे भिन्न-भिन्न ही हैं। यह असद्भूत व्यवहारनय का प्रतिपादन है, जिसका निषेध निश्चयनय कर रहा है।

— आचार्य कुन्दकुन्द: समयसार, गाथा 27

आत्म हित का उपाय

आत्म हित करना है तो इन प्रतिकूल सयोगों में ही करना होगा। इन संयोगों को हटाना अपने हाथ की बात तो है नही। हाँ, हम चाहे तो इन संयोगों पर से अपना लक्ष्य हटा सकते है, दृष्टि हटा सकते है। यही एक उपाय है आत्म हित करने का। अन्य कोई उपाय नही।

—सत्य की खोज, पृ० १९७
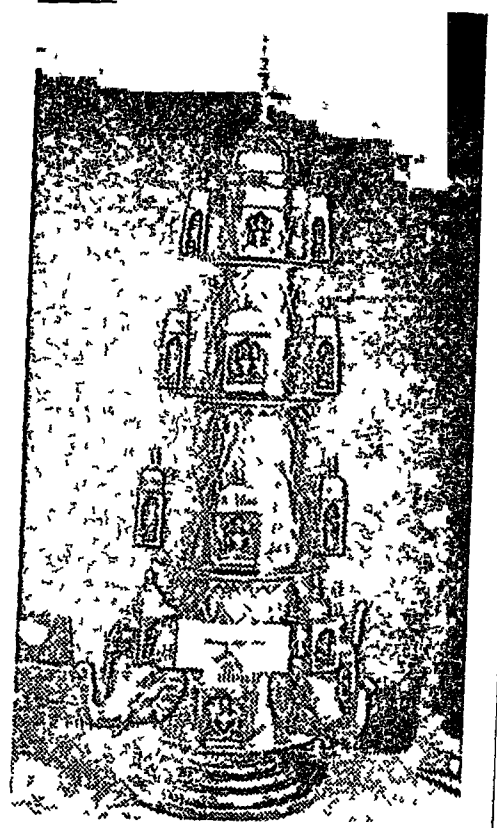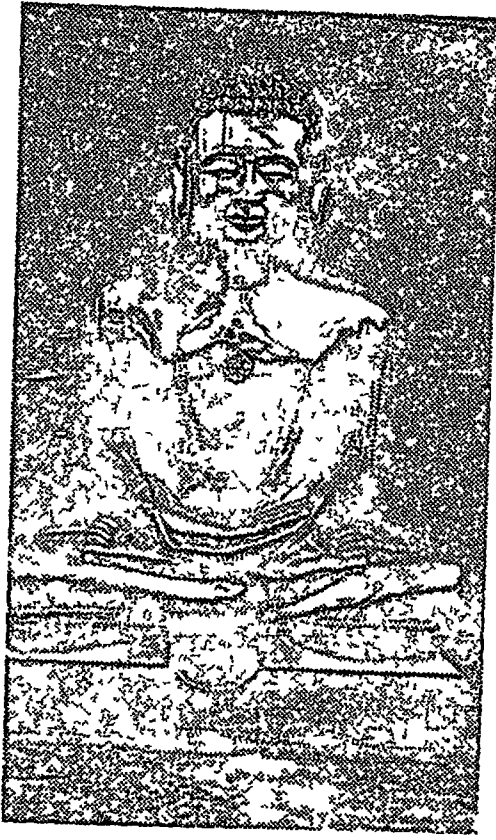
मृत्यु

मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, जबकि अमरता एक काल्पनिक उडान के अतिरिक्त कुछ नही है, क्योकि भूतकाल मे हुए अगणित वीरो मे से आज कोई भी तो दिखाई नही देता। यदि किसी को सशरीर अमरता प्राप्त हुई होती तो वे आज हमारे बीच अवश्य होते। — बारह भावना एक अनुशीलन, पृ० ३३

मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है, उसे किसी भी प्रकार टाला नही जा सकता। उसे सहज भाव मे स्वीकार कर लेने मे ही शान्ति है, आनन्द है। सत्य को स्वीकार करना ही सन्मार्ग है। — बारह भावनाः एक अनुशीलन, पृ० ३१

पंच परमेष्ठी/आत्मा

अरूहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेष्ठी ।
ते वि हु चिष्ठुहि आदे तम्हा आदा हुमे सरणं ।।

अरहंत सिद्धाचार्य पाठक साधु है परमेष्ठि पण ।
सब आतमा की अवस्थाएँ आतमा ही है शरण ।।

अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – ये पच परमेष्ठी भगवान आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं; इसलिए मेरे लिए तो एक भगवान आत्मा ही शरण है । – अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १०४

सहज ज्ञाता-दृष्टा रहो

कुछ करो नही, बस होने दो, जो हो रहा है, बस उसे होने दो। फेर-फार का विकल्प तोडो, सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ, बन क्या जाएँ, तुम तो सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हो। यह तनाव, यह आकुलता, यह व्याकुलता तुम हो ही नही।

देखो नही, देखना सहज होने दो, जानो नही, जानना सहज होने दो, रमो नही, जमो भी नही, रमना-जमना भी सह्ज होने दो। सब कुछ महज, जानना सहज, देखना सहज, जमना सहज, रमना सहज। कर्तृत्व के अहकार से ही नही, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ।

– सत्य की खोज, पृष्ठ 187-188
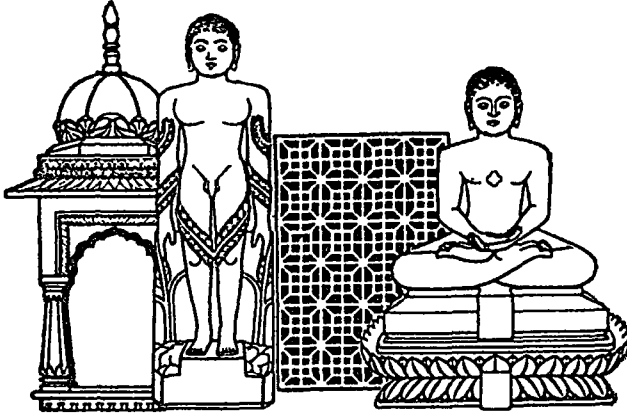
सोई समकिती भवसागर तरतु है

जाकै घट प्रगट विवेक गणधर कौ सौं,
हिरदै हरखि महामोह कौ हरतु है।
साँचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानै,
आपु ही मैं आपनौ सुभाउ लै धरतु है ॥
जैसैं जल कर्दम कतक फल भिन्न करै,
तैसै जीव अजीव विलछनु करतु है।
आतम सकति साधै ग्यान कौ उदौ अराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥

— समयसार नाटक, पृष्ठ ८, छन्द ८
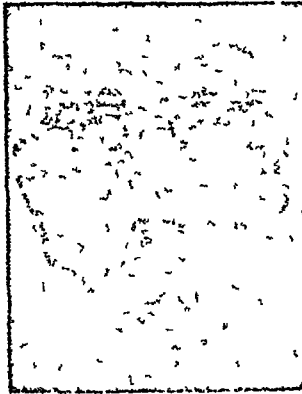
चिदानन्द चितवन चेयन आनन्द सहाव आनन्दं ।
कम्म मल पयडि सियनं ममल सहावेन अन्योन्य संजुत ।।

— कमल बत्तीसी, गाथा १३
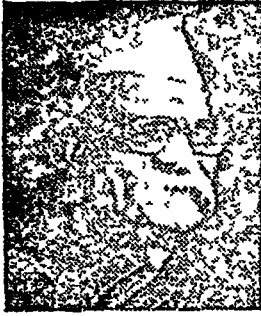
इसी का नाम शुद्धस्वरूप अनुभव जानना

"जिसप्रकार पानी कीचड के मिलने पर मैला है। सो वह मैलापन रग है, मो रंग को अगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो पानी है। उसीप्रकार जीव की कर्मबन्ध पर्यायरूप अवस्था मे रागादिभाव रंग है, सो रग को अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो चेतन धातुमात्र वस्तु है। इसी का नाम शुद्धस्वरूप अनुभव जानना जो सम्यग्दृष्टि के होता है।"

— पाण्डे राजमल्ल : समयसार कलश ४४ की वचनिका

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कब ?

शरीर तो अचेतन है, विनश्वर है। शरीर से भिन्न कोई तो पुरुष है (आत्मा) ऐसा जानपना ऐसी प्रतीति तो मिथ्यादृष्टि जीव के भी होती है, पर उससे साध्यसिद्धि तो कुछ नही। जब जीव का द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप आत्म द्रव्य का प्रत्यक्ष आस्वाद आता है तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

—पाण्डे राजमल्ल : समयसार कलश २३ की वचनिका

आचार्य कुन्दकुन्द तो हम सभी के है

आचार्य कुन्दकुन्द किसी व्यक्ति विशेप के नही, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के ही क्यो, वे तो उन सभी आत्मार्थियो के हैं, अध्यात्मप्रेमियों के है, जो उनके साहित्य का अवलोकन कर आत्महित करना चाहते है, भवसागर से पार होना चाहते हैं।

—डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल : आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पचपरमागम, पृष्ठ ६

समयसार : आगमों का आगम

"यह समयसार शास्त्र आगमो का भी आगम है, लाखो शास्त्रो का सार इसमे है, जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधक की यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। चौदह पूर्व का रहस्य इसमे समाया हुआ है। इसकी हरएक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान मे झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव मे से निकली हुई है। इस शास्त्र के कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र मे सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमन्धर भगवान के समवसरण मे गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे। यह बात यथातथ्य है, अक्षरश सत्य है, प्रमाणसिद्ध है, इसमे लेशमात्र भी शका के लिए स्थान नही है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसार मे तीर्थंकरदेव की निरक्षरी ओंकार ध्वनि मे से निकला हुआ ही उपदेश है।"

— पूज्य सदगुरुदेव श्री कानजी स्वामी

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।

बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ, यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान उनके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नही है (समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नही है) ।

– आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्यातिकलश – 244

निजस्वरूप विचारने पर यह जीव का स्वरूप नहीं है

"यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जीव को तो शुद्धस्वरूप कहा और वह ऐसा ही है, परन्तु राग-द्वेष-मोहरूप परिणामो को अथवा सुख-दुःख आदिरूप परिणामो को कौन करता है, कौन भोगता है ? उत्तर इसप्रकार है कि इन परिणामों को करे तो जीव करता है और जीव भोगता है। परन्तु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है। इस-कारण निजस्वरूप विचारने पर यह जीव का स्वरूप नही है, ऐसा कहा जाता है।"

—पाण्डे राजमल्ल समयसार कलश ११ की वचनिका

आत्मा पर भाव का कर्त्ता नहीं

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।

"आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वय ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा को परभाव का कर्त्ता मानना (तथा कहना) व्यवहारी जीवो का अज्ञान है ।"

— आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति कलश ६२

तत्वज्ञान की दुर्लभता

धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ।।

— पण्डित दौलतरामजी

कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी के अवसर पर

मंगल कामनाओं सहित

— स० सिंघई धन्यकुमार जैन

आधुनिक भारतीय बैंकिंग सेवाओ के लिए सेवारत

सेन्ट्रल इण्डिया बैंकर्स

सबकी समृद्धि हेतु शुभकामनायें प्रकट करते हैं ।

(स० सि० धन्यकुमार जैन
महावीर कीर्तिस्तम्भ,
नेहरू पार्क, कटनी (म०प्र०) ४८३५०१

— एस० एस० प्रसन्नकुमार जैन
जनरल मैनेजर
ऑफिस : २३३०

मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि तं चेव भाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वसु ।।

तू अपने आत्मा को मोक्ष पथ मे स्थापित कर, उसी का ध्यान कर, उसी का अनुभव कर और उसी मे निरन्तर विहार कर । अन्य द्रव्यों मे विहार मत कर ।

— समयसार, गाथा ४१२

JETHALAL H. DOSHI

सपाणी ब्रदर्स

यूनीटी हाउस, आबीद रोड, हैदराबाद

फोन { ऑफिस 231823
घर 235042

सपाणी वॉच कम्पनी

बैंक स्ट्रीट, देना बैंक के सामने, हैदराबाद फोन . 231823

स्वभाव मे भव और भव के भाव का अभाव है। स्वभाववन्त के भी भाव का अभाव है, अत सम्यग्दृष्टि का भव बिगडता भी नही और बढता भी नही।

ध्रुव-धाम को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करने से धर्म प्रगट होता है।

आत्मा का कार्य

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।

जो सो रहा व्यवहार में वह जागता निज कार्य में ।
जो जागता व्यवहार में वह सो रहा निज कार्य में ।।

जो योगी व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप की साधना के काम मे जागता है और जो व्यवहार मे जागता है, वह अपने काम मे सोता है ।

स्वरूप की साधना ही निश्चय से आत्मा का कार्य है । अत: साधुजन व्यर्थ के व्यवहार मे न उलझ कर एकमात्र अपने आत्मा की साधना करते है ।

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर

सिंहावलोकन, सत्र १९८६-८७

बालको व नवयुवको मे नैतिक जागरण के उद्देश्य से परीक्षा बोर्ड की स्थापना सन् १९६८ में हुई थी। यह बताते हुए हमे प्रसन्नता होती है कि यह परीक्षा बोर्ड आरभ से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति मे निरन्तर सफल होता आ रहा है।

सन् १९६८-६९ मे यह मात्र ११ केन्द्रो और ५७१ छात्रो से आरम्भ हुआ था, किन्तु आज १९ वर्षों के प्रयासो से इस परीक्षा बोर्ड से प्रतिवर्ष लाभ लेने वालों की सख्या करीब २०,००० (बीस हजार) तक पहुँच गयी है और इसके परीक्षा केन्द्रो की सख्या भी ३२७ (तीन सौ सत्ताईस) हो गई है।

आज यह हिन्दी, मराठी व गुजराती – इन तीन भाषाओ मे परीक्षा का सचालन करता है, जिसके सत्र १९८६-८७ के परीक्षार्थियो की सख्या निम्नानुसार है –

भाषावार	कुल छात्र सख्या	उत्तीर्ण	अनुत्तीर्ण	अनुपस्थित
हिन्दी	१४,८४६	१०,०८९	७४६	४,०११
गुजराती	१,१६५	८३०	५२	२८३
मराठी	१,४३८	१,१३६	५२	२५०
योग	१७,४४९	१२,०५५	८५०	४,५४४

आज तक सब कुल ३,२०,७७७ परीक्षार्थी बोर्ड द्वारा सचालित विभिन्न (चौबीस विषयो की) परीक्षाओ मे सम्मिलित हुए और २,३१,६४६ उत्तीर्ण परीक्षार्थियो ने बोर्ड से प्रमाण-पत्र प्राप्त किए हैं।

इस सफलता मे बोर्ड द्वारा लगाये जाने वाले ग्रीष्मकालीन शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरो तथा उनमे प्रशिक्षित अध्यापको का महत्त्वपूर्ण योगदान है। पाठशालाओं एव स्कूलो में हमारे प्रशिक्षित अध्यापको द्वारा प्रशिक्षण विधि से पढाये जाने के ढग को समाज ने भलीभाँति सराहा है। भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति ने भी पाठशालाओ को अनुदान देकर परीक्षा बोर्ड के परीक्षार्थियो तथा परीक्षा केन्द्रों की सख्या बढाने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी ही है, साथ ही पढाई का स्तर ऊँचा उठाने में भी प्रशिक्षित अध्यापकों द्वारा संचालित वीतराग-विज्ञान पाठशालाओ का योगदान अविस्मरणीय रहा है।

परीक्षा बोर्ड में कक्षा ३ से १० तक बालबोध पाठमाला भाग १, २, ३, वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २, ३ तथा तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १, २ – इन आठ पुस्तको का तथा विशारद परीक्षा मे समयसार, गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड, समयसार नाटक, मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थ सूत्र), द्रव्यसग्रह, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, परीक्षामुख, छहढाला, मोक्षमार्ग प्रकाशक इत्यादि ग्रन्थो के महत्त्वपूर्ण अश कोर्स में रखे गये हैं। इनके अलावा द्रव्यसग्रह, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, मोक्ष-शास्त्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छहढाला, मोक्षमार्ग प्रकाशक, जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (ग्रथो) की ग्रंथश: परीक्षा भी ली जाती है। यह बोर्ड कुल २४ विषयो की परीक्षा लेता है।

– प्रस्तुति : शान्तिकुमार पाटील, जैनदर्शनाचार्य

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड की शीतकालीन परीक्षा सत्र १९८६-८७ की लिखित परीक्षा में सर्वाधिक अंक पानेवालों की चित्रावली

रमेशकुमार, नागपुर — वि. प्र. ख प्र व
कु० कल्पना, सागर — वि प्र ख द्वि व
कु० मीना, सागर — वि द्वि ख प्र व
सुरेन्द्रकुमार, उज्जैन — वि. द्वि ख द्वि. व
कु० सुरेखा, सागर — पुरुषार्थसिद्धयुपाय

चित्र अनुपलब्ध

श्रीमती रश्मि, सतना — पुरुषार्थसिद्धयुपाय
रमेशचन्द, भिण्डर — मोक्षमार्गप्रका पू
कु० मंजूबाला, सागर — मो.मा प्र उ /तत्वा.सू उ
कु० सुनीता, टीकमगढ — तत्वार्थसूत्र पू
रजनीश, कर्रापुर — रत्नकरण्ड श्रा मो मा प्र तत्वा सू उ

उर्मिला, होशगाबाद — द्रव्यसग्रह
अनामिका, विदिशा — द्रव्यसग्रह
वंदना वेलोकर, नासिक — छहढाला
राजश्री, बारामती — छहढाला
इन्द्रा, नागपुर — जैन. सि प्रवेशिका

अलकाबेन, फतेहपुर
स्वर्णलता, खण्डवा
आशा, खण्डवा
(लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)
सुमतिबाई, काटोल — तत्त्वज्ञान १
दीपा, छिन्दवाडा — तत्त्वज्ञान २

चित्र अनुपलब्ध

सरलाबाई, पिपलदरी — वीतराग वि. १
धनेशचन्द, करहल — वीतराग वि. २
मुक्ता, जबलपुर — वीतराग वि ३
इलाक्षी संघवी, तलोद — वीतराग वि. ३
पकज शहा, बडौदा — वीतराग वि. ३

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के उपलक्ष्य में प्रवर्तित –

कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र

कुन्दकुन्द वाणी का एक सशक्त प्रचार माध्यम

जिसमें उपलब्ध हैं :—

- लोकप्रिय प्रवचनकारो के प्रवचनों का सहज लाभ ।
- ऑडिओ केसिट द्वारा कुन्दकुन्द शतक का संगीतमय सस्वर पाठ ।
- वीडिओ तथा ऑडिओ केसिटों के माध्यम से दुर्लभ प्रवचनों, पंचकल्याणक के अनुपम दृश्यो एव भक्ति के विशिष्ट कार्यक्रमो का सुलभ दर्शन और श्रवण ।
- कुन्दकुन्द के पाँचो परमागमों सहित अन्य संग्रहणीय सत्साहित्य तथा मूर्धन्य विद्वानो के प्रवचनो एव भजनों के वीडिओ एवं ऑडिओ केसिटो का विक्रय केन्द्र ।

अत आइए ! हम सब इस कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र के सचालन मे सक्रिय सहयोग देकर एवं इसे आमंत्रित कर कुन्दकुन्द वाणी को जन-जन तक पहुँचाये ।

— अध्यक्ष : अ०भा० जैन युवा फैडरेशन, ए-4, बापूनगर, जयपुर

कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

श्री विमलकुमारजी दिल्ली द्वारा प्रदत्त 'स्वराज माजदा' बस पर निर्मित कुन्दकुन्द ज्ञानचक्र